# प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य-मूल्य

अजय तिवारी

परिमल प्रकाशन
१७, एम० आई० जी०, बाघम्बरी आवास योजना
अल्लापुर, इलाहाबाद-२११००६

स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ।

डॉ० रामविलास शर्मा
के लिए

# अनुक्रम

□

□

१९४७——से पहले तक वे साहित्य मे समाजवादी यथार्थवाद के समर्थक थे और आजादी के बाद व्यापक प्रगतिशील साहित्य के समर्थक बन गये ।

## (ग) समाजवादी यथार्थवाद और परम्परा का निषेध

जब तक चौहान मार्क्सवादी साहित्य का प्रचार-प्रसार करने और कला के मानदण्ड के रूप में समाजवादी यथार्थवाद को स्थापित करने के पक्ष में थे तब तक वे भारतीय साहित्यिक परम्परा का निषेध करते थे : 'इस छायावाद की धारा ने हिन्दी साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया, उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग ने भारत को पहुँचाया हो ।'[१] 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' रेखांकित करने वाले अपने इसी लेख में उन्होने यह मत भी प्रकट किया कि हिन्दी ही नही, हिन्दुस्तान की किसी भी भाषा के साहित्य में सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति देने की प्रवृत्ति कभी नही रही है । प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में अपनी इन्ही धारणाओं के आधार पर वे प्रचारित करते थे कि 'प्रगतिवाद सबका व्यातिरेक कर स्वयं अपने पैरो पर खडा होने का दावा करता है । वह युद्धात्मक, असहनशील और क्रान्तिकारी धारा है ।'[२] इसी कारण वे भारत से बाहर की विश्व-प्रसिद्ध कृतियों को अपने निकष का आधार बनाने पर विवश होते हैं ।

## (घ) राष्ट्रीय स्वाधीनता और वर्ग-विवेक का परित्याग

आगे चल जब कर चौहान के अनुसार भारत की आजादी ने प्रत्येक 'पार्टी, राज्य, वर्ग, सभ्यता, व्यक्ति या विचार' पर 'अपनी कल्पना के भारत का निर्माण करने का दायित्व'[३] सौप दिया, तब स्थिति बदल गयी । वह इसलिए कि प्रत्येक पार्टी, राज्य, वर्ग, व्यक्ति, विचार आदि ने *अपनी-अपनी 'कल्पना के भारत का निर्माण'* करना चाहा । जब यह सम्भव न हुआ तब अपने-अपने तरीके से आजादी की व्याख्या और उसका इस्तेमाल शुरू कर दिया । इससे चारो ओर दिग्भ्रम और 'अराजकता फैल गयी । चौहान के अनुसार इस स्थिति का कारण यह था कि राजनीतिज्ञ अपने तुच्छ स्वार्थों के कारण झगड़े फैलाते हैं ।[४] इसलिए उन्होने साहित्य से न केवल मार्क्सवाद और कम्युनिस्ट पार्टी को खदेड़ना शुरू किया, बल्कि राजनीति-मात्र का विसर्जन

---

१. 'विशाल भारत', मार्च १९३७ ।
२. उपर्युक्त ।
३. 'साहित्य की समस्याएँ' पृ० २-३ ।
४. उपर्युक्त पृ० ३ ।

आरम्भ कर दिया। अब वे गोर्की को विश्व-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान[1] से हटा 'कुत्सित समाजशास्त्र' का उदाहरण मानने लगे। उन्होंने बताया कि रूसो, वोल्तेयर, शैली, गोर्की आदि ने सामयिक क्रान्तियों और आन्दोलनों के सम्बन्ध में जो रचनाएँ कीं 'उनका आज कोई साहित्यक मूल्य न रहा।'[2]

(घ) राजनीति विरोध की दिशा

संक्षेप में, जब वह मार्क्सवाद और समाजवादी यथार्थवाद की जरूरत समझते थे तब 'शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद' जैसे पार्टी कार्यक्रम तक को साहित्य के विकास के लिए प्राथमिक शर्त मानते थे।[3] जब वर्गातीत 'नवनिर्माण' का दायित्व सम्भाल कर व्यापक प्रगतिशीलता का विकास करने लगे तब जनता के दमन, असन्तोष और संघर्षों का चित्रण करने वाली रचनाओं की आलोचना करने लगे; इतना ही नहीं, राजनीति के स्पर्श-मात्र को काव्य-प्रतिभा के लिए घातक मानने लगे। प्रगतिशील साहित्य के 'सर्वाधिक जोर' वाले दिनों को याद करते हुए उन्होंने लिखा :

> ऐसा लगता था कि इन महान सामाजिक आदर्शों की प्रेरणा हिन्दी काव्य में एक ऐसा युगान्तर उपस्थित कर रही है जिसका पूर्ण उन्मेष छायावाद युग की तरह अनेक महान प्रतिभाओं के प्रस्फुटन से महिमाशाली बनेगा। लेकिन तरुण प्रगतिशील कवि स्वतन्त्र रूप से किसी नये काव्यादर्श का अभी सम्यक विकास भी न कर पाये थे कि उन्होंने राजनीतिक दलबन्दी की मतवादी और साम्प्रदायिक संकीर्णताओं में पड़ कर अपनी काव्य प्रतिभा का स्वयं ही हनन कर डाला।[4]

इसे विडम्बना ही कहेंगे कि छायावाद हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता से भी अधिक घातक हो कर महान प्रतिभाओं को प्रस्फुटित कर गया और प्रगतिवाद महान आदर्शों से प्रेरित होकर भी प्रतिभाओं का हनन करने के अलावा कुछ न कर सका! अगर नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, रामविलास आदि दो-चार छोटे-मोटे कवि हुए भी तो वे प्रगतिवादी ही रह गये, कवि न बन पाये।[5] यहाँ स्वभावतः यह

१. उपर्युक्त, पृ० ११५
२. 'साहित्य की परख', पृ० १४,
३. 'साहित्य की समस्याएँ, पृ० १६०
४. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृ० १३१
५. 'साहित्य की समस्याएँ' पृ० ६२

प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या प्रगतिशील कवि जिन महान सामाजिक आदर्शों से प्रेरित थे वे उनके काव्यादर्श नहीं बन पाये ? क्या सामाजिक आदर्श और काव्यादर्श में सचमुच इतना बड़ा फासला होता है ? हमने अपने अध्ययन-क्रम मे देखा है कि कवि की बौद्धिक शक्तियाँ इतनी परस्पर-असम्बन्ध और विभाजित नहीं होतीं। प्रगतिशील कविता ने जिन सामाजिक आदर्शों को अंगीकार किया उन्हें सफलतापूर्वक काव्य मे व्यक्त कर पाने के नाते ही यह हिन्दी साहित्य में नये सौन्दर्य-मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में सफल हुआ। तब क्या चौहान राजनीति से छू जाने में प्रगतिशील आदर्शों की हत्या देखते हैं ? यह सही है कि राजनीति कहीं-कहीं कविता पर हावी हो गयी है, लेकिन क्या इसी नाते हम समूची प्रगतिशील कविता के अस्वीकार का रुख अपनाएँ ? या चौहान राजनीति और राजनीतिक दलबन्दी मे फर्क करते है और केवल दलबन्दी का विरोध करते हैं ? यदि हाँ, तो राजनीति और राजनीतिक दलबन्दी में मौलिक अन्तर क्या है ? वास्तव में चौहान राजनीति मात्र को साहित्य से अलग रखने की बात कहते हैं। सामाजिक आदर्शों का राजनीति और राजनीतिक दलबन्दी से कोई सम्बन्ध है या नहीं, इस बारे में वे चुप हैं। राजनीति और राजनीतिक दल क्या हैं, इस प्रश्न का वे कोई उत्तर देने की कोशिश नहीं करते। क्या राजनीतिक विचारधारा और स्वभावतः राजनीतिक दल विशिष्ट सामाजिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते ? सामाजिक शक्ति-संतुलन के बीच साहित्य की क्या स्थिति होती है ? क्या वर्ग-स्थितियों का 'सामाजिक आदर्श' और 'काव्यादर्श' पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ? यदि पड़ता है तो क्या उसे स्वीकार करने वाले आलोचक 'कुत्सित समाजशास्त्री' तथा लेखक और कवि 'साम्प्रदायिक' हो जाते हैं ?

### (च) निषेधवादी साहित्य दृष्टि

– दरअसल, चौहान के अंतर्विरोध का कारण है उनका उग्रवाद। एक छोर पर वे संकीर्णतावादी हैं और दूसरे छोर पर उदारतावादी। इसलिए वे वर्गातीत साहित्य मूल्यों को प्रगतिशील साहित्य की कसौटी मनवाना चाहते हैं। सामयिकता, राजनीति आदि का विरोध करते हुए चिरन्तन क्रान्ति की वात्स्की की विचारधारा के तर्ज पर चिरन्तन साहित्य की कल्पना करते हैं। इस बिन्दु पर पहुँच कर त्रात्स्की की भाँति मजदूर वर्ग की ही नहीं, मनुष्य जाति की सभी प्रगतिशील उपलब्धियों को टके का चार बताते हैं।

प्रगतिशील साहित्य के मूल्यांकन में यह दृष्टि कितनी 'वस्तुनिष्ठ' है, इसका अन्दाज चौहान की अनुगामिनी श्रीमती विजय चौहान के निष्कर्षों मे लगाया जा

सकता है। श्रीमती चौहान के अनुसार प्रगतिशील कविता (बल्कि साहित्य) का यथार्थवाद संकीर्ण है; उसकी मार्मिकता जाली है; वह साधारण कोटि का 'नारेबाजी का साहित्य' है; उसमे 'रूप-रस-वर्ण-गंधहीन, उथला-पुथला चित्रण है, जो तत्वतः 'एकांगी और विकृत' है; उसके चरित्र 'टाइप' न होकर लेखक के हाथ की 'कठपुतलियाँ' हैं। अभिव्यक्ति पक्ष का हाल यह है कि 'इस नये साहित्य में नयी विचार-वस्तु को ऊपर से ठूँस कर क्रान्तिकारिता का आभास पैदा किया गया है।' इतना नही, 'वास्तव मे उसमे नया कुछ भी नहीं है, वह विचारों को स्फूर्ति और प्रेरणा नहीं देता और न भावनाओ को अधिक सवेदनाशील, उदात्त और मानवीय बनाता है, क्योंकि उसमें यथार्थ का वेदन नही है।'[1] अर्थात् उसमे सब कुछ क्षुद्र, निन्दनीय, हीन, मिथ्या, अमानवीय, विकृत और पुराना है, गौरव करने लायक कुछ भी नही है। रौरव नर्क भी इतना कुत्सित न होगा!

इस प्रकार की अतिरेकवादी, निषेधवादी प्रवृत्तियो के लोग किसी साहित्य का समर्थन करें या विरोध, वे उसके विकास मे योगदान करने की जगह उसे भीतर ही भीतर खोखला बनाते हैं। अपनी मानसिक कल्पनाओ को वस्तुस्थितियों पर आरोपित करते है, जनता के हितो को नजरन्दाज करते है और सुविधानुसार बौद्धिक व्यायाम के जरिये कभी इस और कभी उस अतिवाद मे संचरण करते हैं। गौर करने की बात यह है कि आजादी से पहले जब भारत को साम्राज्यवाद-विरोधी व्यापक सास्कृतिक मोर्चे की जरूरत थी तब श्री चौहान समाजवादी यथार्थवाद का नारा दे रहे थे, और आजादी के बाद जब समाजवाद के लिए संघर्ष करने का समय आया तब वे 'संकीर्णतावाद' और 'कुत्सित समाजशास्त्र' के खिलाफ लड़ने के नाम पर प्रगतिशील साहित्य का विरोध करने लगे। यह लडाई ऐसी थी जिसमें समाजवादी सिद्धान्त ही नही छूट गये, बल्कि जनता और उसके दुश्मनो का फर्क भी मिट गया। 'निर्माण की क्रान्ति', 'निर्माण का विप्लव', 'निर्माण का परिवर्तन' और 'निर्माण का दायित्व' आदि इस तरह बढ गये कि कांग्रेस और माउटबेटन के समझौते का रहस्य आँख से ओझल हो गया, अपने अधिकारो के लिए लड़ने वाली जनता गद्दार हो गयी और इस ऐतिहासिक स्थिति मे जनता के पक्ष से आवाज उठाने वाला साहित्य निकृष्ट कोटि का जान पड़ने लगा।

परिणाम यह हुआ कि एक समय प्रगतिशील लेखक संघ को 'मार्क्सवादी लेखक संघ' बनाने की माग करने वाले चौहान अब उसे भग कर देने की माग करने

---

१. 'हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ, पृ ३२।

लगे । इसलिए अत्युक्ति न होगी यदि ऐतिहासिक मूल्यांकन को ध्यान में रखकर यह कहा जाय कि प्रगतिशील साहित्य को जितना धक्का श्री शिवदानसिंह चौहान और उनके पदानुगामियों ने पहुँचाया उतना उसके तरह-तरह के अराजकतावादी, व्यक्ति-वादी, पुनरुत्थानवादी विरोधियों से भी न पहुँचा होगा क्योंकि उनका दृष्टिकोण और आधार प्रगति-विरोधी था और उनका आक्रमण बाहरी; इसके विपरीत चौहान का आक्रमण आंतरिक था, वे अपने दृष्टिकोण और आधार को मार्क्सवादी कहते थे ।

डा० रणजीत : क्रान्तिकारी आन्दोलन और प्रगतिशील साहित्य

चौहान की परम्परा का ही विकास करते हुए खुद को प्रगतिशील कहने वाले एक विद्वान ने प्रगतिवाद के विघटन के दो मुख्य कारण बताये हैं । एक तो यह कि प्रगतिवाद की चेतना राजनीतिक दल और सिद्धान्त के दबाव में थी; और दूसरा यह कि एक ही साम्यवादी दल होने से कवियों के पास सोच-समझ कर राजनीतिक पक्ष चुनने की स्वतन्त्रता न थी । सातवें दशक की प्रगतिशील कविता के प्रसार को आधार बना कर डॉ० रणजीत ने लिखा है :

> सातवें दशक की प्रगतिशील कविता अधिक प्रखरतापूर्वक राज-नीतिक हो कर भी निश्चित राजनीतिक दलों और सिद्धान्तों के दबाव से पांचवें दशक की कविता के मुकाबले अधिक मुक्त है । ·· दो-तीन या और भी अधिक अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय साम्यवादी मतवादों के विकल्प के सामने रहने से नवयुवक प्रगतिशील कवि को अपनी रुझान या रुचि के अनुकूल मतवाद को स्वीकार करने की, हर मुद्दे पर स्वयं सोचकर फैसला करने की जैसी गुंजाइश इस युग में रही वैसी पहले कभी नहीं थी ।[1]

जब एक दल था तब वह सिद्धान्त का दबाव डालता था, और कवि उससे कतराता फिरता था । अब अनेक मतवाद हैं तो कवि पर दबाव नहीं है । चाहा तो किसी से जुड़े । और नहीं, तो कभी इसमें जुड़े और कभी उससे । 'सोच कर फैसला करने की' ऐसी गुंजाइश पहले कहाँ थी ! इतना सुनहला अवसर ! भला अब प्रगतिशीलता न फली-फूली तो कब फले-फूलेगी !

'स्वतन्त्रता का वरण' और 'वरण की स्वतन्त्रता' की अस्तित्ववादी तर्क-परम्परा से विकसित यह विचित्र प्रगतिशीलता है । साहित्य के अराजनीतिकरण के

---

१. 'हिन्दी के प्रगतिशील कवि', पृ० ११ ।

अलावा रणजीत की 'प्रगतिशीलता' का मौलिक पक्ष है यह सिद्धान्त कि कम्युनिस्ट आन्दोलन जितना टूटे-बिखरेगा उसका साहित्य उतना ही पल्लवित-पुष्पित होगा और उसकी एकता साहित्य के विकास में बाधक होगी। क्रान्तिकारी आन्दोलन और प्रगतिशील साहित्य के अंतस्सम्बन्धो को ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण वह जाने-अनजाने साहित्य और राजनीति की प्रक्रियाओ मे अनिवार्य विरोध की कल्पना करते हैं और क्रान्तिकारी शक्तियों के बिखराव को प्रगतिशील साहित्य की शक्ति का कारण बताते हैं। दूसरी तरफ प्रगतिशील साहित्य को केवल मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्य तक सीमित करके वह भी अन्य संकीर्णतावादी लेखकों को भाँति बहिष्कारी रुख अख्तियार करते है। डॉ० रणजीत के चिन्तन मे यह बात पूरी तरह साबित हो जाती है कि साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र मे बहुत बार उदारतावाद और संकीर्णतावाद एक सिक्के के दो पहलुओ की तरह सामने आते है। रणजीत एक तरफ कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवाद के दर्द-गिर्द के साहित्य को प्रगतिशील मान कर घोर संकीर्णतावाद का परिचय देते हैं और दूसरी तरफ काव्य को 'दलो' और सिद्धान्तो के दबाव से मुक्त करके निस्सीम उदारतावाद का।

**कसौटी क्या हो ?**

यह अंतर्विरोध है केवल मार्क्सवाद से प्रभावित और समाजवादी यथार्थवाद से प्रेरित साहित्य को ही प्रगतिशील मानने वाले चिन्तन का। इस चिन्तन पद्धति से हम प्रगतिशील साहित्य की द्वन्द्वात्मक भावभूमियों को समझने में विशेष सहायता नही पा सकते।

किसी साहित्य के मूल्यो की द्वन्द्वात्मक भावभूमि को समझने में अनेक बातों का अध्ययन जरूरी होता है। उदाहरण के लिए, उस साहित्य मे व्यक्त मूल्य अपने युग-संदर्भ से कहाँ तक अनुप्राणित हैं; उस साहित्य मे अपने देश-काल की जनता के प्रति क्या दृष्टिकोण है; अपनी जातीय संस्कृति और साहित्य से उसका क्या सम्बन्ध है; जातीय परम्परा के बारे मे उसकी राय क्या है; वह मनुष्य के भविष्य के बारे मे क्या सोचता है और वह अपने युग की वास्तविकताओ को कितनी गहराई और व्यापकता से चित्रित करता है, आदि।

संक्षेप में, किसी साहित्य के सम्बन्ध में सही मूल्य-विवेक तभी पैदा हो सकता है जब हम उस साहित्य मे व्यक्त मूल्यों को उसके देशकाल-गत व्यापक दृश्यफलक पर रख कर देखें। किसी साहित्य मे मार्क्सवाद, वर्ग-संघर्ष और वैज्ञानिक समाजवाद का सपना है या नहीं, इससे उसकी प्रगतिशीलता का निर्णय नहीं होगा। उसकी

प्रगतिशीलता इस बात से परखी जायगी कि अपने देश-काल-गत विशिष्ट सन्दर्भ मे समाज के अत:सम्बन्धों, अंत:संघर्षों के बीच उस साहित्य की स्थिति क्या है, वह जन-साधारण के साथ है या नही। साहित्य और सस्कृति की मूल्यवान निधिया अगर मार्क्सवादी नही हैं और जनता के हितो के साथ हैं तो उन्हे हम प्रगतिशील मानेंगे। और मार्क्सवाद का नाम लेकर भी कोई साहित्य जनता से बचता-कतराता है तो उसे प्रगतिशील नहीं मानेंगे।

**युग-सन्दर्भ और परम्परा**

साहित्य में जनता की तरफदारी की अवधारणा का गहरा सम्बन्ध युग विशेष में सामाजिक उत्पादन के चरित्र, वर्ग-सघर्ष के स्तर और मनुष्य की चेतना के सामान्य धरातल से है। धर्म मध्य युग की चेतना का रूप था। विज्ञान के उदय के बाद वैचारिक धरातल पर धर्म की ऐतिहासिक अनिवार्यता समाप्त हो गयी। आज धर्म की भूमिका सामाजिक प्रगति मे बाधक की ही अधिक है। लेकिन मध्य युग मे धर्म की प्रगतिशील भूमिका भी थी। उसकी प्रगतिशील भूमिका उसके नियतिवाद के बावजूद थी। उसका नियतिवाद प्रवृत्ति के मुकाबले मे खडे मनुष्य की सीमाओं को प्रकट करता है। समाज मे इन सीमाओ का रूप भिन्न था। समाज का मुख्य आधार था कृषि। कृषि पर आधारित प्रत्यक्ष उत्पादन प्रणाली के कारण समाज का रूप अपेक्षाकृत सरल होते हुए भी वर्गों के आपसी टकराव का रूप बहुत पेचीदा था। आधुनिक युग के औद्योगिक उत्पादन और बाजार व्यवस्था मे पेचीदगी बढने के साथ सामाजिक प्रक्रियाओ का रूप जटिल हुआ है और वर्ग-विरोध सरल हुए हैं। इसलिए आज वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त हो चुका है। यह मालूम हो चुका है कि वर्गों के विरोध का निदान दो शत्रु वर्गों के समझौते मे नही, सर्वहारा वर्ग के शासन और अंतत: वर्गों के उन्मूलन मे है। मध्य युग की सामाजिक स्थिति मे यह ज्ञान मनुष्य के पास नही था। वह न वर्ग-संघर्ष की बात कर सकता था और न वैज्ञानिक समाजवाद की कल्पना। उसका समन्वयवाद उसके युग की ऐतिहासिक सीमाओ को व्यक्त करता है। विचारधारा मे नियतिवाद और समाज मे समन्वयवाद—ये उस युग की सामान्य सीमाएँ थी। इसलिए कवियो की प्रगतिशीलता की जाँच करने के लिए देखना यह चाहिए कि समन्वयवाद के बावजूद कवियो के सरोकार और समाधान का सम्बन्ध जन-साधारण के सुख-दुख की चिन्ता से है या सामतो की विकृत कामवासना को 'तृप्त' करने की लाभ-लोभ वृत्ति से, धर्म की नियतिवादी सीमाओं के बावजूद कविगण उसका उपयोग एक गतिशील तत्व के रूप मे सामाजिक न्याय के लिए करते हैं या उसे आड़ बना कर कविता-कामिनी से 'मर्मज्ञो' को

रिझाने की साधना करते हैं, वे अपनी कविता में साधारण जनता के जीवन, संस्कृति का व्यापक समावेश करते हैं या दरबारी-अन्तःपुरों की नायिकाभेदी संस्कृति का चित्र खींचते हैं।

इन दो सौंदर्य-दृष्टियो मे अन्तर है। इस अन्तर का सम्बन्ध तत्कालीन समाज मे अन्तर्निहित वर्ग-विरोध से है। प्रगतिवाद के बारे में लिखते हुए श्री भगवतीचरण वर्मा ने इस बात के लिए समाजवाद की आलोचना की है कि उसने 'अश्लील या असामाजिक तत्वो को रोकने के लिए' केवल सामाजिक चेतना के नही, शासन के भी प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। उनके अनुसार 'शासन द्वारा इस तरह के प्रतिबन्धो के उदाहरण प्राचीन समाज मे नही मिलते।' तब केवल 'सामाजिक चेतना के प्रतिबन्ध होते थे।'[1] इस आलोचना-दृष्टि मे भी वर्ग-संघर्ष की प्रतिध्वनि मौजूद है। पहले 'अश्लील या असामाजिक तत्वो' को शासन बढ़ावा देता था, जनता या समाज नहीं इसलिए जनता और दरबार की साहित्य-दृष्टियो में जमीन आसमान का अन्तर होता था। यह अन्तर जनता और दरबारों की सामाजिक-आर्थिक हैसियत को प्रतिबिम्बित करता था। समाजवाद मे आकर पहली बार शासन और समाज का यह विरोध समाप्त हो जाता है, स्वयं जनता कानून बनाती और उन्हे लागू करती है। इसलिए समाजवाद मे जनता द्वारा पहले से लगायी गयी बन्दिश को कानूनी रूप दे दिया जाता है। जिनकी रूचि आज भी दरबारो में रमती है उनके लिए शासन मे जनता की यह दखल निश्चय ही पीड़ादायक है।

इस विवेचन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी युग में जनता की तरफदारी का सवाल साहित्य के प्रगतिशील होने के लिए कितना प्राथमिक है। कुछ मार्क्सवादियो की यह समझ असंगत है कि जनता के साथ साहित्य की पक्षधारता मार्क्सवाद के बिना नही हो सकती। यह सही है कि आधुनिक युग की वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न मार्क्सवाद ही सच्चे अर्थो मे इतिहास को आगे बढ़ा सकता है, जनता के मानवीय गुणों को साकार करने के लिए शोषण-रहित सामाजिक न्याय पर आधारित मनुष्यता की रचना कर सकता है और इस अर्थ मे वही सच्चा जनवाद हो सकता है। इससे पता यह चलता है कि मार्क्सवाद जनता के प्रति अपनी सच्ची और वैज्ञानिक पक्षधरता के नाते प्रगतिशील है। साहित्य में सभी लेखकों का मार्क्सवादी होना प्रगतिशील होने के लिए आवश्यक नही है, यह बात अनेक मार्क्सवादी लेखको के चिंतन की असंगतियो से प्रमाणित होती है। शिवदान सिंह चौहान पूरे

१. 'साहित्य के सिद्धान्त और रूप', पृ० १२१।

प्रगतिशील आन्दोलन के दौरान जनता की चेतना के स्तर और विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में उसके हितों के प्रतिकूल चलते रहे, हालांकि वे मार्क्सवादी थे। इसके विपरीत भारतेंदु युग का साहित्य अपनी तमाम असंगतियों, अन्तर्विरोधों के बावजूद जनता की विकसित होती हुई साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना को पूरी प्रामाणिकता के साथ व्यक्त करता है, हालांकि उसमें मार्क्सवाद के प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। भारतेंदु युग के साहित्य की राष्ट्रीय और जनवादी धारा पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा था, "भारतेंदु युग की जनवादी परम्परा उस जमाने की दिन पर दिन उग्र होती हुई जनता की साम्राज्य-विरोधी चेतना का दर्पण है।"[१] यह सही है कि भारतेंदु के जीवन और साहित्य में दरबारी संस्कृति और राजभक्ति से टक्कर लेती हुई देशभक्ति और जन-संस्कृति की नयी परम्परा—दोनों का परस्पर विरोध झलकता है।[२] संगत रूप से मार्क्सवाद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अंगीकार करने वाले लेखकों में यह विरोध प्रायः नहीं होता, फिर भी भारतेंदु युग का साहित्य "राष्ट्रीय इसलिए है कि उस युग के लेखक देश की स्वाधीनता चाहते थे और अंग्रेजी साम्राज्यवाद की नीति का खण्डन करते थे।"[३] और "भारतेंदु युग का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढांचे से संतुष्ट न होकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का भी साहित्य है।"[४]

स्पष्ट है, जनता की विकासशील चेतना की संगति में उसके ऐतिहासिक बोध और सामाजिक-आकांक्षाओं को व्यक्त करके ही कोई साहित्य प्रगतिशील होता है। जिन विद्वानों को जनता से साहित्य की इस अन्तरंगता में सांस्कृतिक तत्वों का ह्रास नजर आता है, उनकी बात जाने दें, क्योंकि वे डॉ० नगेंद्र की तरह यह कहते देखे जा सकते हैं कि 'मुझे सबसे बड़ी आपत्ति प्रगतिवाद के मूल्यों से है।'[५] प्रगतिशील साहित्य का विकास इस प्रकार की आपत्तियों से बाधित नहीं होता, वरन् अपने खरेपन का अनुभव करके मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का विकास करता है। जो साहित्य मनुष्य को इन मानवीय मूल्यों से काट कर एकांतसेवी, व्यक्तिवादी, अहंवादी, आदि बनता है वह प्रगति में आस्था दृढ़ करने के बजाय

---

१. 'भारतेंदु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा', पृ० १२६।
२. उपर्युक्त, पृ० १२७।
३. उपर्युक्त, पृ० ३।
४. उपर्युक्त, पृ० ४।
५. 'आस्था के चरण' पृ० २६६।

नियति में अंध-विश्वास पैदा करता है। और जो साहित्य इन मानवीय मूल्यों का प्रसार करता है वह अपने अन्तर्विरोधों और असंगतियों के बावजूद अन्याय के विरुद्ध जनता का पक्ष लेता है। जनता के सांस्कृतिक जीवन और संघर्षों में उसके साथ होने वाले साहित्य मे अन्तर्विरोध हो सकते हैं, उसके समाधान में असंगतियाँ हो सकती हैं, लेकिन इससे उसकी प्रगतिशील अन्तर्वस्तु का खण्डन नही होता। इस सम्बन्ध में अमृतराय ने यह उचित लिखा है कि यदि "साहित्यकार जीवन से विमुख नही रहा है प्रत्युत उसने उन्हें सचेतन रूप मे अपने साहित्य मे अंगीकार किया है और उनको लोकहित की दृष्टि से सुलझाने का यत्न किया है तो वे (प्रगतिशील लेखक) उसे श्रेष्ठ साहित्यकार मानते हैं, चाहे आज के बौद्धिक व अन्य सर्वतोमुखी विकास की दृष्टि से उस साहित्यकार का समाधान कितना हो अनुपयुक्त या अपूर्ण क्यो न हो?"[१]

तात्पर्य यह कि कोई कवि अपनी कविता मे किस विचारधारा का प्रतिपादन करता है, यह महत्वपूर्ण होते हुए भी प्रगतिशील कविता का एकमात्र कलात्मक मानदण्ड नही है। विचारधारा के स्तर पर तोल्स्तोय 'दुनिया की सबसे घृणित वस्तु—धर्म का प्रचार करते हैं'। कलात्मक स्तर पर क्रान्तिपूर्व रूस के किसानों का जितना सच्चा और सजीव चित्र अंकित करते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए विचारधारा में प्रतिक्रियावादी होते हुए भी तोल्स्तोय को लेनिन ने 'रूसी क्रान्ति का दर्पण' कहा।[२] यदि लेनिन के इस मूल्यांकन के आलोक में डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा रेखांकित इस तथ्य को आधार बना कर कविता का अध्ययन करें कि साहित्य केवल विचार नही देता, वह भाव और इन्द्रियाबोध से युक्त, जीवन के चित्र भी देता है, तो यह समझना आसान होगा कि अपनी वैचारिक सीमाओं के बावजूद कोई कवि अपने देश-कालगत सन्दर्भ मे जनता की स्थिति, उसकी भावना और उसके सांस्कृतिक जीवन का अन्तरंग, जीवंत चित्रण करके श्रेष्ठ और प्रगतिशील हो सकता है। कारण यह कि समाज मे वर्गों का संघर्ष चाहे जितना प्रच्छन्न हो, जनता और सामन्तों, पूँजीपतियों के भावों, विचारों और इन्द्रियबोध मे कमोबेश स्वस्थ-अस्वस्थ का अन्तर अवश्य होता है—सत्ताधारी वर्ग सांस्कृतिक विकास मे अवरोध उत्पन्न करता है और जनता इतिहास को अपने जान या अनजान में आगे की ओर बढ़ाती है।

---

१. 'नयी समीक्षा', पृ० ३६-३७।
२. 'ऑन आर्ट ऐंड लिटरेचर' पृ० २८-२९।

अपनी परम्परा, संस्कृति और जन-जीवन के संघर्षों में रची-बसी होने के नाते प्रगतिशील कविता अपनी जातीय सांस्कृतिक परम्परा का स्वस्थ और स्वाभाविक विकास है। वह केवल मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों का साहित्य नहीं है यह इस बात से प्रमाणित होता है कि उसके निर्माण में अनेक गैर-मार्क्सवादियों का मूल्यवान योगदान है जिनमें वैचारिक असंगतियों के बावजूद अपनी जनता और संस्कृति के साथ गहरी सहानुभूति है।

**आधुनिक भावबोध और वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि**

प्रगतिशील कविता अपनी सांस्कृतिक विरासत से जुड़ने के लिए पूर्ववर्ती संस्कृतियों के सभी गलत-सही पक्षों और जनता की चेतना के अंतर्विरोधों को अंगीकार नहीं कर लेती। वह सांस्कृतिक विरासत का नयी चुनौतियों के अनुरूप नये दृष्टिकोण से मूल्यांकन करती है, वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण जनता की स्थितियों और सांस्कृतिक चेतना के अंतर्विरोधों को समझती है तथा उसके प्रगतिशील तत्वों को अंगीकार और विकसित करती है। हिन्दी की प्रगतिशील कविता अपनी पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा से इस अर्थ में भिन्न है कि उसकी अंतर्दृष्टि का आधार मानव-चेतना की सबसे विकसित अवस्था–विज्ञान–है। वैज्ञानिक निष्कर्षों को अपने सौंदर्य-मूल्यों का आधार बनाने के कारण प्रगतिशील कविता मनुष्य को व्यापक दृश्यफलक पर रख कर देखती है, पराङ्मुख चिन्तन से भिन्न सामाजिक इकाई के रूप में मनुष्य को चित्रित करती है और सामाजिक मनुष्य के व्यक्तित्व और अस्तित्व को क्षुधा-काम आदि सहज-वृत्तियों तक सीमित नहीं कर देती, वरन् उसे सजग, सकर्मक और सर्जक मनुष्य के रूप में उच्च मानवीय गुणों से अनुप्राणित करने का यत्न करती है। वैचारिक स्तर पर पहले के मानववादी चिन्तन की सीमाओं को समझती है, उनके सकारात्मक मूल्यों को अपनाती है, उन्हीं के क्रम में वर्तमान जीवन को समग्रता में देखती-परखती है, भविष्य की दिशा का पूर्वानुमान करती है और मनुष्य के साथ उसके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिस्सेदारी अदा करती है।

यह सच है कि प्रगतिशील कविता की इस वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि का सम्बन्ध समाजवादी विचारधारा—मार्क्सवाद—से है। जिन कवियों ने जीवन के व्यावहारिक अनुभवों और उनसे प्राप्त निष्कर्षों की संगति में बिठा कर तथा स्वयं को अग्रगामी शक्तियों के अनुरूप संस्कारित करके जनता के सांस्कृतिक जीवन में तदाकार करने के क्रम में मार्क्सवादी दर्शन को अंगीकार किया उनकी काव्य-चेतना में वैज्ञानिक मूल्य-बोध का उतना ही सुसंगत विकास है। नयी कविता के कवियों में मुक्तिबोध कर्म और वचन से द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा को स्वीकार करते

थे, इसलिए डॉ० जगदीश कुमार उन्हें 'शुद्ध प्रगतिवादी चेतना' का कवि कहते हैं।[1] और 'आपादमस्तक वैज्ञानिक काव्य चेतना के कवियों में उन्हें 'सर्वोपरि' स्थान देते हैं।[2] इस प्रकार डा० जगदीश कुमार प्रकारांतर से प्रगतिशील काव्य-चेतना की वैज्ञानिक अन्त: प्रकृति को ही रेखांकित करते हैं। मुक्तिबोध वैज्ञानिक और प्रगतिशील चेतना के कवि क्यों है, इस सम्बन्ध में उन्होंने मुक्तिबोध के व्यक्तित्व विषयक निष्कर्ष सूचित करते हुए लिखा है : मुक्तिबोध मानव-मुक्ति को अपने जीवन का लक्ष्य मानते थे, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में आस्था रखते थे; जन-संघर्षों से काटने वाले तरह-तरह के आधुनिकतावादी-भाववादी बोध उन्हे स्वीकार नहीं थे, वे मध्यवर्गीय संस्कारों में पले थे, किन्तु अपने तीव्र यथार्थ-बोध और वैचारिक सजगता के कारण मध्यवर्गीय सुविधावादी संस्कारों से मुक्ति के लिए संघर्ष करते थे; इत्यादि।[3]

स्पष्ट है कि प्रगतिशील काव्य की वैज्ञानिक चेतना का सम्बन्ध उसके मानववाद से, यथार्थवाद से है। उसका यह मानववाद, यथार्थवाद मनुष्य को इतिहास के प्रति, मानव समाज और मानव सम्बन्धों के प्रति, प्रकृति के प्रति और प्रकृति से मानव समाज के स्थायी द्वन्द्व के प्रति, इन सबसे निर्धारित होने वाले सामाजिक परिणामों के प्रति तथा स्वयं अपने प्रति जागरूक बनाता है। मानव-यथार्थ के प्रति इस गहरी सजगता के परिणामस्वरूप प्रगतिशील कविता जीवन के अंतर्विरोधों को तीन स्तरों पर उद्घाटित करती है : प्रकृति और मानव समाज के बीच अंतर्विरोध के सामान्य स्तर पर, व्यक्ति और समाज के अंतर्विरोध के विशिष्ट स्तर पर तथा श्रमजीवी और उपजीवी वर्गों के बीच अंतर्विरोधके रूप में विभिन्न समाजों के आंतरिक विरोधों के स्तर पर।

प्रगतिशील कविता अपने पूर्ववर्ती काव्य से इसी अर्थ में भिन्न मूल्य-बोध की प्रतिष्ठा करती है कि उसके सामने मनुष्य और प्रकृति के सन्दर्भ पहले के सभी युगों से अधिक उद्घाटित हैं, उसकी अंतर्दृष्टि विज्ञान पर आधारित है और उसका मानववाद सामाजिक मनुष्य की सर्वतोमुखी मुक्ति के ध्येय से प्रेरित है। उसमें असंगतियों, अंतर्विरोधों और इतर संस्कारों की झलक मिलती है, किन्तु उसका वैशिष्ट्य इस बात में है कि उसे मानवीय समाधान के लिए मनुष्य की शक्ति को ही जागृत करना पड़ता है, अवतारों की शरण लेने या कल्पनालोक में पलायन करने की जरूरत नहीं

---

१. 'नयी कविता की चेतना', पृ० ८५-८६।

२. उपर्युक्त, पृ० ४६।

३. उपर्युक्त, पृ० ६२-६३।

पड़ती। वह निःशंक भाव से यह घोषणा करती है कि मनुष्य जब तक सामाजिक अंतर्विरोधों को दूर करके, उनकी अवहेलना करके नहीं, एक न्यायसंगत, सामाजिक समानता और मानवीय भाई-चारे पर आधारित मनुष्यता की रचना नहीं करता तब तक वह अपनी प्राकृतिक एवं मानवीय क्षमताओं और सम्भावनाओं को साकार नहीं कर सकता। वैज्ञानिक विवेक का यह संस्पर्श ही उसे काम-कुंठावादी रीतिवाद से, व्यक्ति की मुक्ति से प्रेरित रोमांटिक भाववाद से और व्यक्तिवादी-दंभ से प्रेरित आधुनिक नियतिवाद से बचाता है और एक सुदृढ़ मानववादी यथार्थवादी आधारभूमि पर प्रतिष्ठित करता है।

अन्त में, अपने अध्ययन को मुद्रित करते हुए हम कह सकते हैं कि प्रगतिशील कविता जिन्दगी की जद्दोजहद में 'जनता के मोर्चे की प्रतिध्वनि' है।[1] इसलिए उसमें संघर्ष का, आशा का विश्वास का स्वर है। भीड़ में चेहरे खो जाते हैं। लेकिन जनता के मोर्चे में चेहरे और अधिक दीप्त हो उठते हैं। प्रगतिशील कविता एक-एक व्यक्ति की पहचान को उतना ही महत्वपूर्ण मानती है जितना मोर्चे की सगठित और सामूहिक शक्ति को। उसमें एक ओर यदि इतिहास का तीव्र बोध है, सांस्कृतिक ऋद्धि है तो दूसरी ओर 'पर्सनल टोन' और 'इंडिविजुअल मूड' भी है। वह जनता को भीड़ नहीं मानती। वह भीड़ लगने वाली जिन्दगी को मोर्चे के रूप में लामबन्द करती है। उसकी संघर्ष-चेतना और परिभाषित सहानुभूति का यही मुख्य कारण है। जीवन यथार्थ से निरपेक्ष रह कर अकर्मण्य सौन्दर्य-साधना को वह मानव-विरोधी मानती है क्योंकि उसकी सहानुभूति अपनी ही पीड़ाओं में कछुए-सी सिमट जाने वाली नहीं है। प्रगतिशील सौन्दर्य-दृष्टि मुक्ति को अकेले का रास्ता नहीं मानती। कविता मनुष्य की सृष्टि है इसलिए वह मनुष्य की ठोस वास्तविकताओं के आँखें नहीं चुरा सकती। वर्तमान अंतर्विरोधों में तटस्थ रह कर जीवन और कला को सार्थक बनाने की बात करना इतिहास के साथ, समाज के साथ, जनता के साथ और स्वयं अपने साथ धोखा है। प्रगतिशील कविता संशयहीन स्वर में जनता का पक्ष लेती है तथा जनता की दुरवस्था दूर करने में अपनी और अपने कला की सही, सार्थक और ईमानदार भूमिका अनुभव करती है।

• • •

---

१. 'गुनमेंहदी' ('युग की गंगा' की भूमिका) पृ० १६८।

# शुद्धि-पत्र

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १७ | १३, १५ | उद्धरण चिह्न है | उद्धरण चिह्न नहीं है |
| १८ | ७ | अपनाये जाने का नतीजा होता है। | अपनाया गया हो। |
| २०,२१ | ३०, ६, १० | सांतापना | सांतायना |
| २२ | ४ | प्रतिमूल्यात्मक | प्रतिमूर्त्यात्मक |
| २६ | १३ | निकर्ष | निकष |
| ३० | २५ | प्रतिमूल्यात्मक | प्रतिमूर्त्यात्मक |
| ३१ | २ | वाई. खाचिम्यान | वाई. खाचिकयान |
| ३१ | पादटिप्पणी-२ | फंडामेण्टल्स | फंडामेंटल्स |
| ३६, ३७ | १६, १४ | प्रसार | प्रसर |
| ३६ | १८ | मुक्ति | युक्ति |
| ३७ | २८ | सौंदर्भ | संदर्भ |
| ३८ | ४ | प्रो० पूरी फोलोव | प्रो० यूरी फोलोव |
| ३८ | १९ | प्रेम | प्रेय |
| ३९ | ३ | तप | तय |
| ३९ | २४, २५ | 'काम लेने…' | 'काम नहीं लेने' |
| ४६ | ४ | गीता | गीत |
| ४७ | १९ | 'संगीतेतर हित' | 'संगीतेतर' |
| ५० | ११, १४ | प्रतिमा | प्रतिमा |
| ५१ | १३ | बालखिल्व, पृपघ्र | वलखिल्य, पृपध्र |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ५३ | २० | इल्पोच | इल्यीच |
| ५४ | ११ | क्षेत्र | क्षत्र |
| ५६ | ६, ७ | उद्धरण चिह्न | अनावश्यक है। |
| ६३ | ५ | धर्म-कर्म | कर्म |
| ६६ | २ | चित्र (इड) | चित्त (इड) |
| ६७ | ७ | 'दृष्टियां' | 'ऐसी दृष्टियां' |
| ७९ | २० | व्यवस्थित | उपस्थित |
| ८१ | ११ | वस्तुनिष्ठ | एकनिष्ठ |
| ८१ | १८ | संघर्षों से मुक्त | संदर्भों से युक्त |
| ८२ | २१ | इससे | सबसे |
| ८३ | ४ | परिणाम | परिपाक |
| ८३ | २० | नैतिक | जैविक |
| ९२ | ९ | क्षति | स्थिति |
| ९२ | १५ | संतान | संज्ञान |
| ९३ | १७ | नल्मदारी | नटमदारी |
| १०२ | २ | पैंटी होलपा | पैंटी होलप्पा |
| १०४ | ७ | पदार्थ | यथार्थ |
| ११४ | १५ | व्याख्या पर | व्याख्या |
| ११९ | २ | स्तर | प्रसार |
| १२२ | १३ | प्रतिभा | प्रतिमा |
| १२३ | १४ | परीक्षा | परोक्ष |
| १४३ | १८ | अमानवीय | अमानवीकृत |
| १४४ | २५ | तुलसीदास से लेकर आज तक प्रगतिशील साहित्य धारा के अलावा | तुलसीदास के बाद और प्रगतिशील साहित्य से पहले |

# सौन्दर्य-मूल्य : द्वन्द्वात्मक आधार

मनुष्य अपने विशिष्ट गुणों के कारण सृष्टि का केन्द्र-बिन्दु बन गया है। वही सृष्टि को अर्थवत्ता प्रदान करता है। मूल्य की अवधारणा इस मानव-विशिष्ट अर्थवत्ता से गहरे तौर पर जुड़ी हुई है। जैविक और सामाजिक विकास के क्रम में मनुष्य अनेक अन्तर्विरोधों से जूझता हुआ विकास करता है। प्रजातीय विकास के क्रम मे अपने परिजीवन के लिए उसका संघर्ष बाह्य प्रकृति से होता है। इसे प्रकृति और मानव समाज के बीच का अन्तर्विरोध कहा जाता है। सामाजिक विकास के क्रम में व्यष्टि और समष्टि ( व्यक्ति और समाज ) के बीच अन्तर्विरोध दिखाई देता है।

इन अन्तर्विरोधों के बावजूद यह कह देना सम्भव नहीं है कि अपने से बाहर की तमाम प्रकृति को नष्ट करके मनुष्य अपने जीवन की निरन्तरता को बनाये रख सकता है; या एक व्यक्ति और पूरे समाज का अन्तर्विरोध हल नहीं हो सकता। वस्तुतः ये विरोध वास्तविक न होकर प्रतीयमान हैं। वास्तविक विरोध वहीं मानना चाहिए जहाँ दोनों तत्त्व परस्पर बहिष्कारी हों। इस प्रतीयमान विरोध को वैज्ञानिक शब्दावली में द्वन्द्वात्मक एकता कह सकते हैं। "यह द्वन्द्वात्मकता ही जीवन-जगत् के सभी कार्यकलापों का मूलाधार है। वैज्ञानिक भौतिकवादी चिन्तन में इस द्वन्द्वात्मकता को 'विकास की प्रेरक शक्ति और स्रोत' कहा गया है।"[1]

मनुष्य अन्य प्राणियों से इसी अर्थ में भिन्न है कि वह अपने और अपने से बाहर, जीवन-जगत् और प्रकृति से सम्बन्धित तमाम प्रश्नों को समझता और उनका तर्कसंगत हल निकालने की कोशिश करता है। जहाँ उसके समाधान जीवन-मात्र या मनुष्य-मात्र के लिए घातक होते हैं वहाँ असंगति पैदा होती है। मानव समाज विकास

---

१. "दि फण्डामेण्टल्स ऑफ मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट फिलॉसफी," पृष्ठ १४४ (जोर मूल में)।

की सहज प्रक्रिया मे इस असंगत समाधान का परित्याग कर देता है। जहाँ यह समाधान मानव जीवन को तथा मनुष्य से स्वतंत्र प्रकृति के अन्य उपादानो के साथ उसके सम्बन्ध को विवेकसंगत आधार प्रदान करता है वहाँ वह सार्थक होता है। यही सार्थकता मूल्य है।

मूल्य की अवधारणा को बहुधा आर्थिक विषयो से सम्बद्ध करके देखा जाता है। किन्तु ऐसा तभी होता है जब मानव-चेतना के विकास की विशिष्टता और वस्तु-निष्ठता के प्रति सही दृष्टिकोण न अपनाये जाने का नतीजा होता है। पाल वैलरी ने ठीक ही कहा है कि "...मूल्य की अवधारणा आर्थिक जगत् की तुलना मे मानसिक जगत् मे अपेक्षाकृत उच्च स्तर की भूमिका अदा करती है, हालांकि आत्मिक मूल्य, आर्थिक मूल्य से कहीं अधिक गूढ है ।"[१]

मूल्य को अर्थशास्त्र तक सीमित कर देने में यह ध्वनि निहित है कि सौन्दर्य-मूल्य अस्तत: आर्थिक मूल्यो का ही एक रूप है। सौन्दर्य-मूल्य आर्थिक मूल्यो से भी जुडे हैं, यह सही है, किन्तु उनका आर्थिक जगत् से सीधा और सपाट रिश्ता नहीं है। अगर सौन्दर्य-मूल्य आर्थिक मूल्यो के प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब मान लिये जायें तो इस बात की व्याख्या कैसे की जायेगी कि एक आर्थिक ढाँचा बदल जाने पर भी कलात्मक उपलब्धियो का सौन्दर्य-मूल्य नही बदलता। डॉ॰ रामविलास शर्मा ने यह प्रश्न उठाया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मनुष्य का सौन्दर्य-बोध उसकी संस्कृति का अभिन्न अंग है किन्तु आर्थिक व्यवस्था बदलने के साथ उसमें आमूल परिवर्तन घटित नही होता। डॉ॰ शर्मा ने 'ताजमहल' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' तथा 'इलियड', 'हैमलेट' को "मानव संस्कृति की अन्यतम उपलब्धियाँ" बताते हुए यह सिद्ध किया है कि "उनका मूल्य भूमि या कारखानो के स्वामित्व-परिवर्तन के साथ नही बदल गया।"[२] आर्थिक आधार से कलात्मक मूल्यो या सौन्दर्य-बोध की इस सापेक्ष स्वतंत्रता का निदर्शन स्वयं कार्ल मार्क्स ने किया है। मार्क्स ने कला और समाज के असमान विकास के सन्दर्भ में यूनानी कला का विवेचन करते हुए बताया है कि : "कला के सम्बन्ध मे यह एक जानी-मानी बात है कि उसके कुछ उत्कर्ष किसी भी तरह मानव समाज के सामान्य विकास के अनुरूप नही होते और इसलिए न ही वे भौतिक नींव के, जो मानो उसके संगठन का ढाँचा हो, अनुरूप होते हैं।"[३]

---

१. 'दि क्रिएटिव प्रोसेस', पृष्ठ ६४।
२. भाषा और समाज, पृष्ठ ४७०।
३. 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना मे योगदान', पृष्ठ २१८।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्री अडोल्फो सैंचेज वैज्ववेज के अनुसार कला अपने आर्थिक आधार से लगभग पूर्ण स्वायत्त है; "इस हद तक कि वह अपनी सामाजिक अवस्थाओं की विशिष्टता का अतिक्रमण" कर जाती है।[१]

इस अध्ययन से यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि कला सामाजिक आधार से पूर्णतः स्वतंत्र परम सत्ता है। पाश्चात्य विद्वान् थेयोडोर मामर ग्रीन का कथन है कि "''' जीवन, चेतना, विवेक और नैतिक सच्चरित्रता की ही भाँति सौन्दर्यात्मक गुण और उसके विभिन्न रूप भी चरम और अद्वितीय हैं।[२]" इस अद्वितीय वैशिष्ट्य को व्यक्ति की सौन्दर्य-चेतना से जोड़ कर इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अलग-अलग व्यक्तियों की सौन्दर्य-चेतना में अन्तर होता है हालाँकि यह क्षमता "अनुकूल प्रशिक्षण द्वारा विकसित" की जा सकती है।[३]

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना का स्वरूप क्या है? क्या सौन्दर्य-चेतना को चेतना के अन्य रूपों—धर्म, दर्शन, नैतिकता, इतिहास-बोध आदि—से स्वतंत्र पूर्ण और चरम सत्ता माना जा सकता है? क्या चेतना के अन्य रूप सौन्दर्य-चेतना के साथ घात-प्रतिघात करते हैं या उनमें कोई आपसी सम्बन्ध कायम नहीं होता? वस्तुतः इन प्रश्नों का हल विकास की और मानव-समाज की हमारी व्याख्या पर निर्भर है। यदि इस मानव-समाज और मानव-चेतना के विकास के संश्लिष्ट एवं द्वन्द्वात्मक तर्क को हम समझते और स्वीकार करते हैं तो हमारा उत्तर श्री ग्रीन के उत्तर से भिन्न होगा।

हम मूल्य की अवधारणा को मानव-सापेक्ष मानते हैं। मूल्यों का जन्म मनुष्य और उसकी चेतना की ही भांति उन बहुमुखी टकरावों से होता है, जिन्होंने मनुष्य को विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया है। कला का जन्म श्रम-प्रक्रिया से स्वतंत्र रूप मे नहीं हुआ है। श्रम-प्रक्रिया के वैशिष्ट्य ने ही हमें पशुओं से गुणात्मक दृष्टि से भिन्न, एक नये धरातल पर पहुँचा दिया, जहां हम अपनी जन्मदात्री प्रकृति को भी अधिकाधिक नियंत्रण मे करने के लिए संघर्षरत हैं। सौन्दर्य-चेतना का विकास और सौन्दर्य-मूल्यों का प्रश्न हमारे इस समूचे प्रजातीय (मनुष्य के सन्दर्भ मे सामाजिक) विकास से सम्बद्ध है। जीवन-प्रक्रिया में यह निहित गुण है कि प्राणी एक साथ व्यष्टि और समष्टि के दोहरे स्तर पर जीता है। यह प्रक्रिया परस्पर-विरोधी न होकर परस्पर पूरक है।

---

१. 'आर्ट एण्ड सोसाइटी', पृष्ठ ६७।

२. 'दि आर्ट एण्ड दि आर्ट ऑफ क्रिटिसिज्म', पृष्ठ १४।

३. उपर्युक्त।

पृथगात्म की हैसियत से जीते हुए हम प्रकृति-प्रदत्त किसी वस्तु का जिस परिमाण मे उपभोग करते हैं, उसी अनुपात मे दूसरो को वंचित करते हैं। इस स्तर पर परिजीवन का स्वरूप विरोधात्मक नजर आता है। किन्तु यह भी अकाट्य सत्य है कि प्रजाति के परिजीवन के लिए पृथगात्म स्वेच्छापूर्वक आत्मक्षय करता है। मसलन सन्तानोत्पत्ति के लिए आत्मक्षय या माँ द्वारा शिशु को दुग्धपान कराना, आदि। पृथगात्म और प्रजाति के परिजीवन के लिए किये गये हमारे प्रयत्नो से मिलने वाले आनन्द मे अन्तर है। यह अन्तर जीवन-प्रक्रिया मे अन्तर्निहित उपयोग के स्तरों से जुड़ा है। यह हमारी चेतना मे अनुरंजनात्मक-बोध के अन्तर मे प्रतिफलित होता है। पहले आत्मा तब परमात्मा। किन्तु यदि 'आत्मा' की आवश्यकताएँ— जिन्दगी की शर्तें—पूरी होती हैं तभी वह परमात्मा के लिए किये गये प्रयत्नो मे सौन्दर्य-बोध और नैतिक-बोध का अनुभव करता है। प्रजातीय परिजीवन के लिए किये गये आत्मक्षय का जितना गहरा सम्बन्ध उपयोग से है, उसकी आनन्दानुभूति भी उतनी ही उच्चतर है। यह गौर करना चाहिए कि इस सम्बन्ध मे हमारा नैतिक मूल्य भी सर्वाधिक विकसित है। इससे आनन्द और उपयोग (सौन्दर्य-मूल्य और नैतिक मूल्य) तथा व्यष्टि और समष्टि के बीच द्वन्द्वात्मक एकता का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

इस बुनियादी स्वरूप को स्वीकार करने पर हम सौन्दर्य-मूल्यो को चरम या अद्वितीय नही मानेंगे। दरअसल, उपयोग और अनुरंजन तत्त्व जीवन-प्रक्रिया मे ही निहित हैं। उन्हे एक-दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। अधिरचना के विविध तत्त्वो—नैतिक, आर्थिक, धार्मिक, दार्शनिक, राजनीतिक, सौन्दर्यात्मक आदि— के बीच भी घात-प्रतिघात की क्रिया निरन्तर चलती रहती है। सुन्दर और नैतिक मूल्यों की द्वन्द्वात्मकता को न समझ पाने के कारण किसी एक पक्ष पर अधिक बल दिये जाने का खतरा मौजूद होता है। नैतिक मूल्य के धरातल पर व्यष्टि का अतिरेक सुखवाद की ओर ले जाता है और समष्टि का अतिरेक आत्मनिषेध की ओर। सौन्दर्य-मूल्यों के धरातल पर व्यष्टि का अतिरेक भोगवादी प्रवृत्तियों को जन्म देता है और समष्टि का अतिरेक शुष्क उपयोगितावाद को।

कलात्मक सौन्दर्यरहित कोरी उपयोगिता को, अनुरञ्जन पक्ष के ऐकांतिक निषेध को, सौन्दर्य-मूल्य मानने वाली कोई समझदारी अभी तक नही देखी गयी है। किन्तु कोरे सुख को, उपयोग-रहित अनुरंजन को, सौन्दर्य-मूल्यो का दर्जा देने वाली अनेक कला-दृष्टियाँ प्रचलित है। सुखवाद एक ऐसी ही विचारधारा है। "चीजो मे आनन्द और तुष्टि की खोज" करते हुए जार्ज सांतापना आनन्द को 'सकारात्मक मूल्य' बताते हैं।[१] वह सौन्दर्य-मूल्यों को 'आभ्यतर आनन्द' की संज्ञा देते है।[२]

१. 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' (मैक्रोपीडिक, खण्ड १, पृष्ठ १५१)।
२ 'सेन्स ऑफ ब्यूटी', पृष्ठ ३५।

वह सौन्दर्य को आनन्दरूप बताते हैं और आनन्द के मन्दिर से दुःख को बहिष्कृत कर देते हैं।[१] इसलिए वह आनन्दरहित कला को सुन्दर की सज्ञा नहीं देते।[२]

सौन्दर्य को "वस्तवीकृत आनन्द" कह कर काण्ट भी सौन्दर्य-मूल्यों को "एक प्रकार के आनन्द में व्यक्त' होता हुआ बताते हैं।[३] यह सही है कि जार्ज सांतापना और इमैनुएल काण्ट दोनो सौन्दर्य को सतही तौर पर स्वीकार नहीं करते। उनके लिए आनन्द एक दार्शनिक प्रत्यय है। सांतापना एक ओर जहाँ आनन्द को सौन्दर्य की एकमात्र कसौटी मान लेते हैं, वहीं दूसरी ओर वह हर प्रकार के आनन्द को कलात्मक मूल्य नहीं मानते; इसके लिए "कलात्मक परितोष की निःस्वार्थता" को पहली शर्त मानते है।[४] इस प्रकार, सौन्दर्य-मूल्य उन निम्नतर मूल्यों से सम्बद्ध नहीं है, जिनकी कोटि मे शारीरिक सुखो की गिनती की गयी है। जार्ज सांतापना के अनुसार शारीरिक सुखो से सम्बद्ध मूल्य अनगढ होते है।[५]

इसी प्रकार काण्ट जिस आनन्द की बात कहते हैं वह किसी दमित इच्छा की तुष्टि से हासिल होने वाला आनन्द नहीं है। वह मानव-मस्तिष्क मे अनेक मनःशक्तियो की कल्पना करते हैं, जिन्हें सर्वसामान्य का गुण बताते हैं। वह कला से "विशुद्ध आनन्द" की माँग करते है और इसीलिए उसे प्रशसनीय बताते है। यह आनन्द "अपने निजी प्रयोजन...की सिद्धि के लिए मनुष्य की दुर्बलताओ से लाभ उठाने" के कारण नहीं, अपितु अपनी निश्छलता एव निःस्वार्थता के कारण उपादेय है।[६]

सौन्दर्य-मूल्यो से सम्बन्धित आनन्दवादी मत ने हालांकि चिन्तन के नये आयाम उद्घाटित किये हैं, किन्तु उसकी सबसे बड़ी सीमा यह है कि वह अधिरचना के विभिन्न तत्त्वो मे द्वैतभाव पर आधारित है। यही कारण है कि उनका बल विभिन्न तत्त्वों की द्वन्द्वात्मक अवस्थिति पर न होकर एक पक्ष— आनन्द (अनुरजन)— पर केन्द्रित हो गया है। आनन्दवादी मत की एकांगिता का तर्कसंगत विकास होता है जीवन और समाज से निरपेक्ष शुद्ध आनन्द की साधना मे। क्लाइव बेल इसी आनन्द-वादी राह पर चलते हुए केवल उन्हीं "वस्तुओं" को कलाकृति की सज्ञा से विभूषित

---

१ 'दि सेन्स ऑफ ब्यूटी' पृष्ठ १६६।
२. उपर्युक्त, पृष्ठ ३८।
३. 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका', खण्ड १, पृष्ठ १५३/१
४. 'दि सेन्स ऑफ ब्यूटी', पृष्ठ ३७।
५. उपर्युक्त, पृष्ठ ३६-३७।
६. 'सौन्दर्य मीमांसा', पृष्ठ १४८, (पाद टिप्पणी)।

करने का आग्रह करते हैं, जो "विलक्षण संवेग के वैयक्तिक अनुभव" को व्यक्त करती हो।[1] यह वैयक्तिकता सामाजिक सन्दर्भ से सम्पृक्त नहीं है। यह कलात्मक सौन्दर्य में जीवन का निषेध करने वाली वैयक्तिकता है। किसी भी कलाकृति के लिए 'प्रतिमूल्यात्मक तत्त्व' को यदि 'अहितकर' नहीं तो कम-से-कम 'अप्रासंगिक' मानते हुए क्लाइव बेल कहते हैं कि "किसी भी कलाकृति के आस्वादन के लिए हमें जीवन से कुछ भी ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है, उसके विचारों और सन्दर्भों का ज्ञान, उसकी भावनाओं से परिचय तक आवश्यक नहीं है।"[2]

समाज-निरपेक्ष व्यक्तिवाद प्रकृति और मनुष्य के विकास की मूलभूत प्रक्रिया को न समझने का नतीजा है। इसलिए यहाँ यह रेखांकित करना आवश्यक है कि समाज से—आधार से—अधिरचना और उसके सौन्दर्य-पक्ष की स्वायत्त स्वतन्त्रता का आशय इस आधार का निषेध नहीं है, जैसा कि आनन्दवादी मानते हैं। अडोल्फो संचेज वेज्क्वेज के शब्दों में, "कला एक स्वायत्त क्षेत्र है किन्तु उसकी स्वायत्तता सामाजिक शर्तों द्वारा, (सामाजिक अनुकूलन) में और (इसी के) जरिये संभव है।"[3] अर्थात्, सामाजिक अनुकूलन और स्वायत्तता सापेक्ष अवधारणाएँ हैं; कलात्मक मूल्य इन दोनों की द्वन्द्वात्मकता में प्रतिफलित होता है। इसका कारण यह है कि "सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ अधिरचना पर प्रत्यक्ष रूप से क्रिया नहीं करतीं"।[4] कला की सापेक्ष स्वतन्त्रता हमारे अन्तःकरण और वस्तु-जगत् के बीच कायम होने वाले अन्योन्याश्रित (घात-प्रतिघातात्मक) सम्बन्ध पर निर्भर है : "तथापि, कलात्मक विकास का आन्तरिक तर्क कला की सापेक्ष स्वतन्त्रता का कारण बनता है; बदले में यह स्वायत्तता इस बात को साबित करती है कि आभ्यन्तर एवं बाह्य के बीच अर्थात् सामाजिक-आर्थिक और कलात्मक विकास के बीच कोई सपाट सादृश्य क्यों नहीं होता।"[5]

किन्तु इससे यह कतई साबित नहीं हो जाता कि कला पर तत्कालीन समाज और आचार-विचार कोई प्रभाव नहीं डालते। यदि हम प्राचीन कला पर दृष्टि डालें तो पायेंगे कि उसमें मनुष्य की स्थितियों का सीधा प्रतिबिम्ब पड़ता है। जो पशु मनुष्य के जीवन के लिए प्रत्यक्ष रूप में घातक हैं, उन्हें वह अपनी कला में बाण-विद्ध चित्रित करता है।[6] इसी प्रकार "आदिम जातियों के आभूषणों में पशुओं की खाल, नख,

---

१. 'आर्ट', पृष्ठ ६।
२. उपर्युक्त, पृष्ठ २५।
३. 'आर्ट एण्ड सोसाइटी', पृष्ठ ६८।
४. 'उपर्युक्त', पृष्ठ १००।
५. उपर्युक्त, पृष्ठ १०१।
६. उपर्युक्त, पृष्ठ ७१।

दों... आदि को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।"[१] यहाँ उपयोगिता और सौन्दर्य के बीच सीधा सम्बन्ध दिखाई देता है। आगे के युगों में यह सम्बन्ध जटिलतर होता जाता है। यहाँ तक कि बहुधा उपयोग और अनुरंजन के अन्तस्सम्बन्ध पर प्रश्नचिह्न लगाया जाने लगता है।

कला और सौन्दर्य-चेतना के सम्बन्ध में इस समझदारी का आधार, काडवेल के शब्दों में, यह मान्यता है कि "कला का जन्म समाज में होता है, जैसे मोती का जन्म सीपी में होता है...।"[२] अगर सामाजिक विकास के सन्दर्भ से काट कर हम इन मूल्यों का विवेचन करेंगे तो मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों की चेतना के बीच गुणात्मक अन्तर का कोई कारण बता पाना हमारे लिए सम्भव नहीं होगा। चेतना के स्तर पर इस अन्तर का स्पष्टीकरण करते हुए कार्ल मार्क्स ने कहा था कि पशु तात्कालिक जरूरतों को पूरा करने के लिए उत्पादन करता है जबकि "मनुष्य सौन्दर्य-नियमों के अनुसार उत्पादन करता है।"[३] मार्क्स का यह कथन कोरे उपयोगितावाद का खण्डन करता है। इससे मानवीय सृजन में उपयोग और अनुरंजन की द्वन्द्वात्मकता साबित होती है। इस मानव-विशिष्ट सौन्दर्य-चेतना को रेखांकित करते हुए कार्ल मार्क्स के अन्यतम सहयोगी फ्रेडरिक एंगेल्स ने लिखा था, "उकाब मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक दूर तक देख सकता है, परन्तु मनुष्य की आँखें चीजों में बहुत-कुछ ऐसा देख सकती हैं जो उकाब की आँखें नहीं देख सकतीं।"[४] इस प्रकार, मनुष्य की आँखें हालांकि कई मायनों में कई पशु-पक्षियों से कम देख पाती हैं, फिर भी उनमें सौन्दर्य-ग्रहण की जो अद्वितीय क्षमता है, वही उन्हें अन्य मनुष्येतर प्राणियों से विशिष्ट बनाती है। इसी अति-विकसित क्षमता के कारण मनुष्य आकाश, नदी, पर्वत आदि प्राकृतिक उपादानों में जो अर्थ पाता है, वह मनुष्येतर प्राणियों के लिए असम्भव है। मनुष्य की इस सौन्दर्य-चेतना का एक विशिष्ट पहलू है—चीजों को मानवीकृत करने की उसकी क्षमता। अडोल्फो संचेज वैज्क्वेज के शब्दों में "स्वतः प्रकृति में सौन्दर्य-मूल्य नहीं होता है; यह आवश्यक है कि उसे मानवीकृत किया जाय। प्रकृति को अभिव्यञ्जक बनाने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य उसमें अनुप्रविष्ट हो। इस प्रकार स्वयं नैसर्गिक गुणों के जरिये प्रकृति एक मानवीय अर्थात् सौन्दर्यात्मक धरातल पर प्रतिष्ठापित हो जाती है। प्रकृति से सौन्दर्य-मूलक सम्बन्ध तथा प्राकृतिक सौन्दर्य की तत्सम्बन्धी

१. 'द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की रूपरेखा', पृष्ठ ४८६।
२. 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी', इण्ट्रोडक्शन।
३. 'दि इकोनॉमिक एण्ड फिलॉसॉफिकल मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ १८४४', पृष्ठ ११४
४. 'डाइलेक्टिक्स ऑफ नेचर', पृष्ठ २३३-४।

प्रतीति का आविर्भाव मनुष्य द्वारा प्रकृति के अधिकाधिक मानवीकृत किये जाने की प्रक्रिया से होता है।"[१]

मनुष्य की यह सकर्मक भूमिका कलात्मक कार्य को विशेषीकृत आत्मिक श्रम के समतुल्य ला खड़ा करती है। मनुष्य जिस प्रकृति की उत्पत्ति है, सौन्दर्य-सृष्टि में उसी प्रकृति को चुनौती देने लगता है। यह कार्य वह दो स्तरों पर करता है। पहला स्तर है श्रम-प्रक्रिया के दौरान अन्य प्राणियों से भिन्न स्वयं मनुष्य के निर्माण और मनुष्य के निर्माण के बाद उसी श्रम की "व्यापक सृजन-शक्ति" के सहयोग से "दूसरी प्रकृति" का निर्माण।[२] यह 'दूसरी प्रकृति' श्रम द्वारा मनुष्य के हित में रूपान्तरित प्रकृति और मानव-समाज के रूपों में हमारे बाहर भी है और बिम्बों, प्रत्ययों आदि से निर्मित हमारे अन्तर्जगत् के रूप में हमारे भीतर भी है। और दूसरा स्तर है मानव-चेतना और उसके अन्तर्जगत् की क्रिया से सम्बद्ध कलात्मक कार्य का। यह कलात्मक कार्य मानवीय सौन्दर्य-चेतना का परिणाम भी है और प्रमाण भी। मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना का सृजन होने के कारण ही बर्नार्ड बोसाँ के ललित कलाओं को मुख्यतः 'सौन्दर्य जगत् का प्रतिनिधि" मानते हैं।[३]

यदि मनुष्य की सृजनशीलता के विराट् स्वरूप से परिचित हो जाने पर सोवियत सौन्दर्यशास्त्री इवान अस्ताखोव मार्क्सवादी-लेनिनवादी सौन्दर्यशास्त्र की एक महत्त्व-पूर्ण प्रस्थापना के बतौर "सौन्दर्य-सृष्टि में मनुष्य को प्रकृति का सफल प्रतिद्वन्द्वी" बताते हैं तो वस्तुतः वे सचाई का ही विश्वसनीय तरीके से बयान करते हैं। इतना ही नहीं, "मनुष्य सौन्दर्य-नियमों के अनुसार जो रचना करता है, वह स्वयं मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना और सौन्दर्य-ग्रहण की क्षमता को विकसित करती है।"[४]

कला और श्रम दोनों का स्वभाव रचनात्मक है। इसलिए दोनों किसी-न-किसी किस्म का उत्पादन करते हैं। श्रम का उत्पादन उपयोग-प्रधान होता है और कला का सौन्दर्य-प्रधान। ऐसा नहीं होता कि कला उपयोगरहित हो और श्रम सौन्दर्य-रहित। इसमें सन्देह नहीं कि श्रम और कला दोनों एक-जैसे उपयोगिता-मूल्य का सृजन नहीं करते। कलात्मक सौन्दर्य की उपयोगिता का निर्णय मनुष्य की भौतिक जरूरतों की पूर्ति करने की उसकी क्षमता से नहीं किया जा सकता। अडोल्फो सँचेज वैज्क्वेज के शब्दों में, "कला की उपयोगिता इस बात से तय नहीं

---

१. 'आर्ट एण्ड सोसाइटी', पृष्ठ ७८।
२. 'प्रॉब्लम्स ऑफ मॉडर्न इस्थेटिक्स', पृष्ठ १०३।
३. 'ए हिस्ट्री ऑफ इस्थेटिक्स', पृष्ठ ३।
४. 'प्रॉब्लम्स ऑफ मॉडर्न इस्थेटिक्स', पृष्ठ १६२।

होती कि वह हमारी भौतिक आवश्यकताओं को कहाँ तक पूरा करती है, वरन् इस बात से तय होती है कि वह मनुष्य की आम जरूरतों की, अपने सम्पर्क मे आने वाली प्रत्येक वस्तु को मानवीकृत करने की मनुष्य की भावनाओ को, कहाँ तक तृप्त करती है…।"[1] कहने की आवश्यकता नही कि कलात्मक सौन्दर्य-मूल्यों का यह कार्य उनके मानवीय स्वरूप को प्रकट करता है। उपयोग से सौन्दर्य और सौन्दर्य मे उपयोग की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया निरन्तर एक-दूसरे को प्रभावित करती हुई चलती है। कला मनुष्य की रचनात्मक क्षमता को, वस्तुगत मानवीय यथार्थ को इन्द्रियग्राह्य रूप प्रदान करती है । इसलिए उसकी अन्तर्वस्तु उपयोगपरक की अपेक्षा मानवीय अधिक होती है। शुद्ध उपयोगितावाद का अतिक्रमण कर सकने वाला यह नया मूल्य आनन्द प्रदान करता है, जिसे हम आज सौन्दर्य कहते हैं।

कला मे आनन्दपरक और उपयोगी मूल्यों के इस नाजुक रिश्ते को न समझ पाने के कारण ही कुछ विद्वान् ऐकान्तिक आनन्द को कला का चरम लक्ष्य घोषित करते हैं। वे जीवन-प्रक्रिया में निहित द्वन्द्वात्मकता—उपयोग और अनुरंजन तत्त्वो की द्वन्द्वात्मक एकता- को नजरंदाज करते हैं। उनका तर्क यह होता है कि सौन्दर्य का क्षेत्र व्यापक है जबकि अच्छाई और नैतिकता का क्षेत्र संकीर्ण। पश्चिम मे इन धारणाओ का अधिक जोर है। एरसेलो ने अपनी नयी पुस्तक मे "अपने आस-पास की सभी वस्तुओ मे सौन्दर्य" के दर्शन किये हैं।[2] किन्तु उनके इस नये सौन्दर्य-सिद्धांत मे नैतिकता का पूर्ण निषेध है। वह अच्छाई को उपादेय बताते हुए अच्छाई और नैतिकता में वैर-भाव प्रतिपादित करते है।[3] यह आकस्मिक नही है। दार्शनिक वैचारिक स्तर पर सौन्दर्य-मूल्यो की एकांगी व्याख्या और कला के स्तर पर रूपवादी आग्रह, दोनों का उत्स एक ही है और वह है, जीवन और समाज से निरपेक्ष सौन्दर्य-मूल्यो की परिकल्पना।

क्लाइव बेल इसका जीता-जागता उदाहरण है। एक ओर आनन्द के उन्माद मे वह जीवन की मर्यादाओ का पूर्ण निषेध करता है, दूसरी ओर "सार्थक रूपतत्त्व" को कलात्मक शक्ति और सौन्दर्य-बोध का आधार घोषित करता है।[4] कलाकृति का निर्णय विषयवस्तु के आधार पर हो, यह पिछड़ापन है, अविकसित सौन्दर्य-बोध का नतीजा है। क्लाइव बेल के शब्दो मे, "आप देखेंगे कि जो लोग शुद्ध सौन्दर्यात्मक

---

१. 'आर्ट एण्ड सोसाइटी', पृष्ठ ६५।
२. 'ए न्यू थियरी ऑफ ब्यूटी', पृष्ठ ३।
३. उपर्युक्त, पृष्ठ ८५।
४. 'आर्ट', पृष्ठ ८।

भावनाएँ अनुभव नहीं कर सकते वे चित्रों को उनकी विषयवस्तु के जरिये स्मरण करते हैं।"[१] कलात्मक सृजन को रूप की रचना तक सीमित कर देने का ऐसा ही आग्रह रोजर फ्राय की मान्यताओ में देखा जा सकता है। जी लाओस डिकिंसन को एक पत्र में उसने अपने उस सिद्धांत के बारे में बताया कि वस्तु का प्रयोजन सिर्फ रूपतत्त्व है, "तथा सभी अनिवार्य सौन्दर्यात्मक विशिष्टताओं का सम्बन्ध शुद्ध रूप से है।...मेरे विचार से कविता जैसे-जैसे अधिक सघन होती जाती है, उसी अनुपात में रूप के द्वारा वस्तु का पुनर्निर्माण होता है और रूप से पृथक् उसका (वस्तु का) कोई मूल्य नहीं रहता।"[२]

पहले सौन्दर्य-मूल्यों को जीवन और समाज से स्वतंत्र किया गया और फिर उसे रूपतत्त्व तक सीमित कर दिया गया। इसका एक तर्क यह है कि सौन्दर्य-मूल्य अभिव्यक्ति से सम्बद्ध होते हैं, सम्प्रेषण से उनका कोई नाता नहीं होता। यदि समाज से सौन्दर्य का रिश्ता नहीं है तो सम्प्रेषण किससे होगा? क्रोचे का अभिव्यंजनावाद ऐसा ही सौन्दर्य-दर्शन है, जो अभिव्यक्ति को सौन्दर्य-मूल्यों का निकर्ष मानता है।[३]

ये प्रतिपत्तियाँ अनायास पैदा नहीं होती। जब हम मानव-समाज की अन्तरंचना, उसके ऐतिहासिक विकास के सारतत्त्व को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते तभी ये भ्रान्तियाँ पैदा होती हैं। इन भ्रान्तियों का आधार भी समाज में मौजूद होता है। प्रत्येक वर्ग-विभक्त समाज तरह-तरह के अन्तर्विरोधों से ग्रस्त होता है। वह अन्तर्विरोध प्रधानतः श्रम और सम्पदा के बीच होता है। जिस श्रम ने हमें इन्सान के रूप में तब्दील किया, वही अब निजी सम्पत्ति के अधीन हो गया। उसका मूल्य घट गया। वर्तमान समय मे यह विरोध अधिक उग्र हो गया है। दोनों मे कोई मेल सम्भव नहीं दीखता। सम्पत्तिशाली लोग श्रम नहीं करते। श्रमजीवी दरिद्र हैं। सारा जीवन विद्रूपताओं से भर गया है। जीवन असुरक्षित हो गया है। भुखमरी और बेकारी तथा मुनाफा और युद्ध पूँजीवाद के अलिखित कानून होते है।

यह साहस किसी मे नहीं है कि वह इस बीभत्स यथार्थ को सुन्दर कहे। जो इसका रहस्य समझ जाता है, वह पूँजीवादी वर्ग-विभाजन के उन्मूलन के लिए संघर्षरत श्रमजीवियो के साथ पवितबद्ध होता है। जो नहीं समझता वह यथास्थितिवादी हो जाता है। इस दूसरी कोटि में दो तरह के बुद्धिजीवी होते हैं। एक तो वे जो जान-बूझ कर यथास्थिति का पक्ष ग्रहण करते हैं। जीवन की सही समझ उन्हें

१. 'आर्ट', पृष्ठ ३०।
२. 'रोजर फ्राय', पृष्ठ १८३।
३. 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका', खण्ड-१, पृ० १५४।

खतरनाक प्रतीत होती है। इसलिए वे सौन्दर्य-मूल्यों को जीवन और समाज से निरपेक्ष बताते हैं। अभिव्यंजना और रूप के प्रति आग्रह समाज-निरपेक्ष सौन्दर्य-मूल्यो का स्वाभाविक परिणाम है। दूसरे प्रकार के बुद्धिजीवी वे होते हैं, जो भरे पेट तो होते हैं, किन्तु सामाजिक संकट के दबाव से मुक्त नही होते। जीवन में श्रम का तिरस्कार और अवमूल्यन देख कर उनका मोहभंग होता है। किन्तु वे असलियत को साफ-साफ समझ नही पाते। इसलिए यथार्थ से पलायन कर कल्पना मे सौन्दर्य की खोज करते है। जाने-अनजाने ये भी यथास्थिति के हिमायती साबित होते है। यथास्थितिवाद, इस रूप में, या तो अज्ञान का परिणाम है या वर्गीय पक्षधरता का।

यथार्थ जीवन के असौन्दर्य से उद्विग्न होकर ज्याँ पाल सार्त्र कहते हैं कि "कल्पना में छन कर आया यथार्थ ही सुन्दर होगा, क्योंकि,'''यथार्थ कभी सुन्दर नहीं होता। सौन्दर्य एक ऐसा मूल्य है, जो केवल कल्पना लोक से सम्बन्धित है। और जिसका अर्थ है अपनी अपरिहार्य संरचना मे जगत् का निषेध।"[1] अर्थात् कलात्मक अन्तर्वस्तु अवास्तविक होती है।

जीवन में सौन्दर्य नही है, इसलिए असुन्दर जीवन को मानवीय कर्मशक्ति और सृजनशीलता के द्वारा सुन्दर बनाने की जगह सौन्दर्य-साधना को परम लक्ष्य मान कर कल्पनावासी हो जाना, यह है आनन्दवाद। कल्पना लोक में हासिल होने वाला यह "सौन्दर्यात्मक आनन्द"[2] हमें असुन्दर जीवन से मुक्त करता है। इसलिए यह सौन्दर्यात्मक आनन्द मुक्ति का पर्याय हुआ। सार्त्र के अनुसार यही सर्वोच्च सौन्दर्य मूल्य है।[3] यह कोई संयोग की बात नही है कि जीवन-जगत् में व्याप्त असुरक्षा की भावना के खिलाफ कल्पना लोक के सौन्दर्यात्मक आनन्द में वह सर्वसत्तात्मक शान्ति की छाप लगाते हुए कहते हैं: "'''सौन्दर्य-चेतना में सुरक्षा की भावना होती है और प्रबल-से-प्रबल सौन्दर्य-संवेगो पर भी सर्वसत्तात्मक शान्ति की छाप होती है।"[4] एलेन एच० जानसन भी कला को मुक्ति के अन्तिम दुर्गों में एक मानते हैं।[5]

जिस समाज में अमानवीय विवशताएँ मनुष्य को हर समय घेरे रहती हों, वहाँ कला ही मनुष्यता को वाणी देती है। कला की मानवीय क्षमता का यह पक्का

---

१. 'दि सायकॉलाजी ऑफ इमेजिनेशन', पृ० २५२।
२. 'ह्वाट इज लिटरेचर,' पृ० ४१।
३. उपर्युक्त, पृ० ४३।
४. उपर्युक्त, पृ० ४२।
५. 'मॉडर्न आर्ट एण्ड दि ऑब्जेक्ट', पृ० ४७।

सबूत है। किन्तु कलाकार को इस वीभत्स यथार्थ से पलायन करके कल्पना लोक मे नही जा बसना चाहिये। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक कहा है कि "हम सारे बाह्य जगत् को असुन्दर छोड कर सौन्दर्य की सृष्टि नही कर सकते।"[1] इस असुन्दर यथार्थ को बदलने के दायित्व से सौन्दर्य-स्रष्टा 'मुक्त नही हो सकते। समाज और मानव-जीवन के साथ अपने सम्बन्ध को समझते हुए हमे इस सामाजिक विद्रूप का कारण भी जानना होगा, जिसने मानव-जीवन को असुन्दर बना दिया है। हीगेल की श्रम सम्बन्धी मान्यताओ का विवेचन करते हुए कार्ल मार्क्स ने दो महत्त्वपूर्ण मुद्दे प्रस्तावित किये हैं।

१. हीगेल ने श्रम के केवल सकारात्मक पक्ष की ओर ध्यान दिया है। श्रम ने केवल वस्तुओ को रूप नही प्रदान किया बल्कि खुद मनुष्य का निर्माण किया है और उसे रूप दिया है। किन्तु वे निजी सम्पत्ति पर आधारित समाज मे प्रकट होने वाले श्रम के नकारात्मक पक्ष को नजरंदाज करते हैं। वह है श्रम का परकीयकरण ; तथा

२. हीगेल ने अन्तरात्मा के वस्त्वीकरण का हवाला देकर केवल आत्मिक श्रम को, या यो कहे, मनुष्य को केवल आध्यात्मिक प्राणी के रूप मे मान्यता दी है।[2]

सामाजिक अन्तर्विरोध के इस चरित्र को, मानवीय श्रम के स्थान पर सम्पत्ति को सर्वोपरि बना देने वाले वर्ग-समाजो के वास्तविक स्वरूप को न समझ पाने के कारण ही आनन्दवादी कलादर्शन कल्पना-लोक में विचरण का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। इसके विपरीत इस अन्तर्विरोध को सही-सही समझने के कारण क्रिस्तोफर कॉडवेल दो-टूक शब्दो मे कहते हैं कि : "पूंजीवादी सामाजिक सम्बन्ध, पूंजीवादियों के लिए स्वतन्त्रता और सर्वहारा के लिए परतंत्रता उत्पन्न करते हुए, अपने निरन्तरता बनाये रखने के लिए स्वाधीनता और पराधीनता दोनो के अस्तित्व पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार, पूंजीवादी सामाजिक सम्बन्धो मे चन्द लोगों की स्वतंत्रता अधिकाश लोगो की परतत्रता पर टिकी होती है।"[3]

यह पराधीनता मनुष्य को पशु बनाती है। सामाजिक अन्याय और उत्पीडन पर टिका हुआ वर्ग-समाज मनुष्यो को उनके इच्छानुसार कार्य करने से रोकता है।

---

१. 'अशोक के फूल' पृ० १८६।
२. 'दि इकॉनामिक एण्ड फिलॉसॉफिकल मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ १८४४', पृ० १७७।
३. 'स्टडीज एण्ड फरदर स्टडीज इन ए डाइंग कल्चर, पृ० २०२।

इस अमानवीय पराधीनता में व्यक्ति का सौन्दर्य-बोध कुण्ठित हो जाता है। भूखे पेट तो भगवान् का नाम लेते भी नहीं बनता, कविता और नाटक में सौन्दर्य कहाँ नजर आयेगा? हो सकता है धनी वर्गों के लिए उन मूल्यों में सौन्दर्य न हो, जो अधिकांश जनता की मुक्ति की प्रस्तावना करते हैं। कहने का आशय यह है कि वर्ग-विभक्त समाजों में सौन्दर्य-मूल्यों का सम्बन्ध वर्गीय हितों से जुड़ जाता है।

पूँजीवाद प्रत्येक वस्तु को मुनाफे से जोड़ देता है। व्यवसायीकरण की यह प्रवृत्ति आई० ए० रिचर्ड्स के अनुसार 'बेस्ट सेलर' पत्रिकाओं के जरिये जन-रुचि को भ्रष्ट करने का काम करती है। इससे केवल साहित्यिकता की नहीं, साहित्य के मूल्य की भी क्षति हुई है।[1] इतना ही नहीं, व्यावसायिकता का यह हमला 'नैसर्गिक वृत्तियों' के नाम पर भी होता है।[2] व्यावसायिकता की इस लाभ-केन्द्रिक वृत्ति का हवाला देते हुए मार्क्स ने कहा था, "खनिजों का व्यापारी खनिज पदार्थों में केवल व्यापारिक मूल्य देखता है न कि सौन्दर्य एवं उसका विशिष्ट स्वरूप : उसे खनिज विज्ञान सम्बन्धी कोई तमीज नहीं होती।"[3]

सौन्दर्य-मूल्यों को विकृत करने वाली सामाजिक संरचना के उन्मूलन के लिए उन वर्गों के साथ लेखक की प्रतिबद्धता का स्वागत करना चाहिए, जो वर्ग इस व्यवस्था के स्थान पर वैमनस्यरहित मानवीय सम्बन्धों वाले समाज के निर्माण के अगुआ हैं। यह पक्षधरता लेखकीय दायित्व का निर्वाह है। किन्तु जीवन और सौन्दर्य में वैर मानने वाली साहित्य-दृष्टि पक्षधरता का विरोध करती है। वह इस समाज से तटस्थ रहने का सन्देश देती है। इस समाज ने मनुष्य के हाथ और दिमाग के बीच चौड़ी खाईं खोद दी है। ऐसे बुद्धिजीवी श्रम में सौन्दर्य का वैर मानते हैं। वे पूँजीवादी श्रम-विभाजन की उस विसंगति को नजरंदाज करते हैं, जो मानवीय श्रम के परकीयकरण के द्वारा श्रम के सृजनात्मक चरित्र का हनन करता है।

मानव-जीवन के प्रति इस उपेक्षा भाव का नतीजा होता है कल्पना-विलास। मानवीय अनुभव कलात्मक सामग्री का आधार होता है और अनुभव जीवन-जगत् में ही हासिल होते हैं। डॉ० जी० बी० मोहन ने इस प्रसंग में लिखा है कि "मनुष्य का अनुभव अपने अनन्त रूपों में कविता के लिए कच्चा माल है। कवि मानव-अनुभवों का एक क्षेत्र चुन लेता है, इस अनुभव-क्षेत्र की योजना-पुनर्योजना

---

१. 'प्रिंसिपिल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म,' पृ० २५।

२. उपर्युक्त, पृ० २६।

३. 'इकॉनामिक एण्ड फिलॉसॉफिकल मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ १८४४', पृ० १४१।

करता है तथा इन्हीं में से अभिव्यक्ति के तरीके रूपायित करता है।"[1] कल्पना-विलास साहित्य मे अनुभवशून्यता को जन्म देता है और अनुभवशून्यता रूपवाद की जननी है।

जनता और लेखक के सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए राल्फ फाक्स ने लिखा था, "....जहाँ लेखक अपनी जनता से पृथक् होता है, उसकी उपेक्षा करता है या लेखक की आत्मा इस मामले में अचेत होती है, वहाँ रक्तशून्यता की सम्भावना भी सर्वाधिक रहती है। ऐसा मालूम होता है मानो कल्पना के रसायन मे किसी महत्त्वपूर्ण तत्त्व का अभाव है, जिसने लेखक के चिन्तन को खोखला और उसकी शक्तियो को पगु बना दिया है।"[2] भारतीय काव्यशास्त्र में साधारणीकरण की परिकल्पना लेखक, उसके पात्र और उसकी जनता के घनिष्ठ अन्तस्सम्बन्ध को रेखांकित करती है। साधारणीकरण तभी सम्भव होता है जब सीतादि विशेष पात्र कामिनी आदि सामान्य (लौकिक) पात्र होने का भ्रम उत्पन्न करें। काव्यप्रकाश की टीका करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने लिखा है—

"साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादि विशेषाणां
कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः ।"[3]

जब तक सीतादि विशेष पात्र सामान्य कामिनी आदि पात्रों के रूप में उपस्थित नहीं होते, रसानुभूति बाधित रहती है। इस प्रकार यह 'ब्रह्मास्वादसहोदर लोकोत्तर चमत्कारप्राण'[4] रस लौकिक अनुभूति पर आधारित है। रस की लोकोत्तरता लौकिक आधार पर टिकी होती है। इस अन्तस्सम्बन्ध को रेखांकित करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है : "कला का भ्रम जीवन से उत्पन्न होता है और उसे पुष्ट करता है।"[5]

इस अर्थ में सौन्दर्य-मूल्य एकांततः अभिव्यजकता से सम्बद्ध नहीं है, अपितु उनका सम्बन्ध प्रतिमूल्यात्मकता से भी है। जिस प्रकार अन्तर्वस्तु से रहित रूप की कल्पना नही की जा सकती, उसी प्रकार प्रतिमूल्यात्मक तत्त्वों के बिना अभिव्यंजकता का अस्तित्व असम्भव है। कहने की जरूरत नही कि अभिव्यंजकता और प्रतिमूल्यात्मकता

---

१. 'दि रिस्पास टु पोएट्री', पृष्ठ २४।
२. 'उपन्यास और लोकजीवन', पृष्ठ १४२।
३. 'काव्यप्रदीप', पृष्ठ ६६।
४. 'साहित्य दर्पण' (विमला टीका, शालग्राम शास्त्री), पृष्ठ ३१२-३।
५. 'लोकजीवन और साहित्य', पृष्ठ १४।

की द्वन्द्वात्मक एकता के बगैर सौन्दर्य-मूल्यों की सिद्धि सम्भव नहीं है। इन दोनों तत्त्वों की एकता का वर्णन करते हुए सोवियत सौन्दर्यशास्त्री वाई० खाचिम्यान ने "अभिव्यंजकता को कला का लक्ष्य और प्रतिमूर्त्यात्मकता को उस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन" बताया है, क्योंकि "वास्तविक कार्य-व्यापार के सौन्दर्य-मूल्य को उद्घाटित करना कलात्मक संज्ञान का लक्ष्य है"।[1]

निःसन्देह कला-कार्य में, सौन्दर्य-सृष्टि में मनुष्य के अस्तित्व के कारणों के प्रति सजगता ही इस समूचे यथार्थवादी सौन्दर्य-दर्शन को आनन्दवाद की एकांगी राह पर जाने से रोकती है। हमारी यह सजगता हमारे मानवीय विकास और मानवीय बोध का लक्षण है। पशु जिस धरातल पर जीता है, मनुष्य उसी पर नहीं जीता। इसलिए सौन्दर्य-सृष्टि में उन विशिष्ट मानवीय भावनाओं का चित्रण कलात्मक मूल्यों को जन्म देता है, जिन्हें हमने अपने सम्पूर्ण विकास के क्रम में अर्जित किया है। साहित्य के सौन्दर्य-मूल्यों के स्वरूप को समझने के लिए मानव-जीवन, मानव-समाज और मानव-चेतना से सम्बद्ध विविध प्रश्नों, तत्त्वों और पक्षों को समझना जरूरी है। मानव-जीवन के विश्वसनीय आधार पर टिके बगैर, मानव-जीवन को पुष्ट किये बगैर सौन्दर्य-मूल्यों का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। कला में व्यक्त उन्हीं मूल्यों को सुन्दर माना जा सकता है, जिनकी मनुष्य के समूचे परिवेश से सन्दर्भवत्ता हो। इस सन्दर्भवत्ता के बिना न कला की विश्वसनीयता सम्भव है और न सौन्दर्य-मूल्य की।

सौन्दर्य-मूल्यों के धरातल पर वस्तुगत और आत्मगत पक्ष अलग-अलग अस्तित्व में नहीं हो सकते। एन० जी० चेर्नीशेव्स्की ने सौन्दर्य के सम्बन्ध में ठीक कहा था कि "मानव के लिए सुन्दर वही वस्तु है जिसमें वह जीवन को, जिस रूप में कि वह उसे समझता है, देखता है। सुन्दर वह वस्तु होती है जो उसे जीवन की याद दिलाती है।"[2]

मानव-जीवन के विश्वसनीय आधार पर टिकी हुई कला जिन सौन्दर्य-मूल्यों को अभिव्यक्त करेगी, वे न शुद्ध अनुरंजनात्मक (आनन्दवादी) होंगे और न कोरी उपयोगिता से सम्बद्ध होंगे। दूसरे शब्दों में, कलात्मक अनुभव के मूल्य अनिवार्यतः जीवन-मूल्यों से जुड़े होते हैं। हमारे अनुभव हमारी सौन्दर्य-चेतना को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। यही नहीं, हमारी विचारधारात्मक प्रक्रियाओं से सम्बद्ध होकर हमारे अनुभव हमारी सौन्दर्य-दृष्टि का निर्धारण करते हैं।

---

१. 'मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट इस्थेटिक्स एण्ड लाइफ' पृष्ठ ३५४।

२. 'दर्शन, इतिहास और आलोचना', पृष्ठ १७७।

चूँकि संस्कार, रुचि आदि को जीवन-मूल्यों से अलग नहीं किया जा सकता, अतः सौन्दर्य-मूल्यों के स्वरूप-निर्धारण में भी उनकी भूमिका को घटा कर नहीं आँका जा सकता। बिम्बों और प्रत्ययों से निर्मित मनुष्य का अन्तर्जगत् उसके संस्कारों, विचारों और अनुभवों से शून्य नहीं रह सकता। इस अर्थ में, न सिर्फ कलात्मक अन्तर्वस्तु रूपात्मक सृजन के जरिये सौन्दर्य-निर्माण करती है, वरन् बिम्ब-प्रतीक आदि काव्य के रूप के स्तर पर व्यक्त होने वाले मूल्य हमारे जीवन-मूल्यों से गहरे तौर पर जुड़े होते हैं। इसलिए यदि अलेक्सान्दर जी० बाउमगार्तेन सौन्दर्य के रूपपक्ष को सौन्दर्य-मूल्य नहीं मानते तो उसके पीछे एक सुनिश्चित मान्यता है। मूल्य में जो मानवता का भाव है, वह कला के कथ्य, उसकी सम्प्रेष्य विषयवस्तु पर निर्भर होती है, न कि "ठंडे निर्जीव बिम्बों" पर। उनके अनुसार, "बिम्ब मानवीय भावनाओं की तुलना में कम स्पष्ट एवं दीप्त होने के नाते अपेक्षाकृत कम काव्यात्मक होते हैं।"[१] बिम्ब, अपनी सौन्दर्यात्मक अन्तर्वस्तु में, मानव-समाज का अतिक्रमण नहीं कर सकते क्योंकि उनका सौन्दर्यात्मक आधार ही मनुष्य है।

सौन्दर्य-मूल्यों की मानव-विशिष्ट सत्ता के अपने तकाजे हैं। मानव-जीवन के लिए घातक किसी भी चीज के प्रति हमने सौन्दर्यपरक दृष्टिकोण विकसित नहीं किया है। संक्षेप में, जीवन-प्रक्रिया में निहित उपयोग और अनुरंजन तत्त्वों में से किसी एक का भी सौन्दर्य-मूल्यों के क्षेत्र में निषेध नहीं होता। अवनर जिस् ने इस अन्तस्सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए बताया है कि सौन्दर्य और उपयोगी तत्त्वों को आपस में बेमेल नहीं मानना चाहिए।

"न तो सुन्दर को नैतिक से पृथक् किया जा सकता है, न ही सौन्दर्य को अच्छाई से। यह ठीक है कि सौन्दर्य का क्षेत्र सच्चरित्रता के क्षेत्र से अधिक व्यापक है, जैसे कि सौन्दर्य का क्षेत्र प्राकृतिक जगत् के सम्बन्ध में भी प्रासंगिक है, जिनमें नैतिक मानदण्ड निःसन्देह व्यवहारसंगत नहीं है। फिर भी, सामाजिक जीवन में और कला में, सौन्दर्य और नैतिक पक्ष अभेद्य रूप से अनुस्यूत होते हैं।"[२]

सौन्दर्य-मूल्यों की इस द्वन्द्वात्मक प्रकृति को स्वीकार न करने पर, उन्हें मानव-अनुभवों के व्यापक क्षेत्र—मानव-समाज—से जोड़ कर न देखने पर सौन्दर्य-मूल्य एकान्ततः व्यक्तिनिष्ठ हो जायेंगे। हमारी सौन्दर्य-चेतना कुण्ठित होगी, वह अलग। समाज में रह कर ही भाषा, संस्कार, दृष्टि का विकास सम्भव है। अगर जीवन में

---

१. 'फिलॉसफीज ऑफ ब्यूटी' पृष्ठ ८३।

२. 'फण्डामेण्टल्स ऑफ मार्क्सिस्ट इस्थेटिक्स', पृष्ठ १६१।

असौन्दर्य व्याप्त है तो उसे समझना और बदलने का प्रयत्न करना चाहिए। मानव-समाज से च्युत रह कर सौन्दर्यानुभूति की अतिविकसित क्षमता हासिल नही कर सकते।

सौन्दर्य-बोध के बिना सौन्दर्य-सृष्टि नही हो सकती। हम कलात्मक रूप का मृजन करते हैं। इस सृजन के जरिये अपने मे बाहर की तमाम चीजो को सौन्दर्यपूर्ण ढंग से अभिव्यंजक बनाते हैं। यह हमारी मानव-विशिष्ट रचनात्मक शक्ति का सबूत है। यह सृजन-क्षमता हमारे समूचे मानवीय विकास की उपलब्धि है। यह सौन्दर्यात्मक सृजन क्षमता ही हमें सौन्दर्य-सृष्टि मे प्रकृति का सफल प्रतिद्वन्द्वी बनाती है।

मूल्यो का सम्बन्ध बहुधा अर्थशास्त्र से जोड़ा जाता है। अर्थशास्त्र मे एक सिद्धान्त प्रचलित है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। मानव-समाज की आरम्भिक अवस्थाओं की व्याख्या करने मे यह सिद्धान्त हमारी मदद करता है। आहार की तलाश में भ्रमण करता हुआ आदिमानव प्रकृति की अपार और अनियत्रित शक्तियों का सामना करता था। वह उपयोग की चीजो का ग्रहण और निर्माण करता था। उसका आदिम श्रम और आदिम हथियार एव औजार उसकी आवश्यकताओं की उपज है। आगे चल कर उसने अपने उपयोग की तमाम चीजों के प्रति सौन्दर्यात्मक दृष्टि विकसित की। यह गुणात्मक दृष्टि से भिन्न एवं उच्चतर धरातल है। उपयोग और अनुरजन के द्वन्द्व से विकसित सौन्दर्य-मूल्य मानव-सापेक्ष होते है। आवश्यकता का आदिम तर्क उनके आधार मे च्युत नही हो जाता। हाँ, आदिम समाज में जहाँ मनुष्य की सजग और सक्रिय भूमिका बेहद कम थी, उपयोग और अनुरंजन का द्वन्द्व अधिक स्थूल और अनावृत रूप मे देखने मे आता है। आज, जब मनुष्य की सजग भूमिका और बाह्य परिवेश में उसका सक्रिय हस्तक्षेप अत्यधिक बढ गया है, यह द्वन्द्व, अधिकाधिक जटिल और सूक्ष्म रूपों में व्यक्त हो रहा है। उपयोग और अनुरंजन (शिव और सुन्दर) का सामंजस्य-विधान समूचे परिवेश के साथ मनुष्य की सचेतन भागीदारी का ही परिणाम है। इसलिए यह समझना भूल है कि उपयोग पक्ष का लोप हो जाता है और केवल अनुरंजन पक्ष बच रहता है।

समाज के विकास के साथ सौन्दर्य-मूल्य भी बदलते हैं। अलग-अलग सामाजिक अवस्थाओं में अर्जित श्रेष्ठतम मूल्य मानव-समाज की अद्वितीय उपलब्धि, हमारी चेतना के नित्य और नैसर्गिक अंग बन जाते हैं। विकास-क्रम में सौन्दर्य-मूल्य परिवर्तित और परिष्कृत होते है, उनमें नये-नये तकाजों से उत्पन्न तत्त्व जुड़ते चलते हैं। इस अनवरत प्रक्रिया मे मानव-जीवन से सम्बन्धित विविध पक्षों की द्वन्द्वात्मकता

का निषेध नहीं होता। भारतीय चिन्तन में सत्य, शिव, सुन्दर के अन्तःसम्बन्धों पर आधारित दार्शनिक प्रतिपत्तियाँ इस द्वन्द्वात्मक एकता के सिद्धान्त को पुष्ट करती हैं। सत्य अशिव नहीं हो सकता, जो अशिव है उसे सत्य नहीं माना जा सकता। लेकिन जीवन में अशिव की सत्ता है। अशिव सुन्दर नहीं होता। इस प्रकार, एक सन्तुलन-बिन्दु पर तीनों मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सत्य, शिव और सुन्दर परस्पर बहिष्कारी न होकर परस्पर निर्भर हैं। किसी एक तत्त्व में असन्तुलन आया कि तीनों मूल्यों में व्याघात उत्पन्न हुआ। अर्थात् इनमें से किसी एक तत्त्व का असन्तुलन जीवन में असंगति पैदा करता है। यह असंगति ही काव्य-शास्त्रीय शब्दावली में 'अनौचित्य' है। अनौचित्य के अलावा रसभंग का अन्य कोई कारण नहीं माना गया है :

"अनौचित्यादृते नान्यद्रसभगस्य कारणं।"[१]

औचित्य का यह बोध जीवन में उत्पन्न असंगति का समाहार करता है। यही मूल्यवत्ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह मूल्यवत्ता मानव-जीवन को अधिक-से-अधिक सामंजस्यपूर्ण, शिव एवं सुन्दर बनाने की मानवीय चिन्ता का ही प्रतिफल है।

अतएव हम कह सकते हैं कि सौन्दर्य-मूल्य समूचे मानवीय विकास के सारतत्त्व—उपयोग और अनुरंजन—की शाश्वत द्वन्द्वात्मकता में प्रतिफलित होने वाले जीवनगत मूल्यों का पर्याय है; व्यष्टि और समष्टि के बीच कायम होने वाले सन्तुलन-बिन्दु को सौन्दर्य-मूल्यों का उत्स मानना चाहिए; ये मूल्य कला के स्तर पर व्यक्त होते हैं और हमारी मानवीय चेतना को पुष्ट करते हैं।

———

१. 'ध्वन्यालोक लोचन', (अनु० जगन्नाथ पाठक), पृष्ठ ३६२।

# सौन्दर्य संवेदन

जीवन-प्रक्रिया में निहित द्वन्द्वात्मकता का प्रमाण इसी बात से मिल जाता है कि प्राणी निसर्गतः एक साथ दो धरातलों पर जीता है। एक है सम्पूर्ण जैविक विकास का धरातल और दूसरा है प्रजातीय (मनुष्य के सन्दर्भ में सामाजिक) विकास का। कार्ल मार्क्स के अनुसार, "उसे अपने अस्तित्व और ज्ञान, दोनों ही स्तरों पर स्वयं को पुष्ट भी करना पड़ता है और प्रमाणित भी।"[1] पुष्टि का सम्बन्ध भौतिक जरूरतों से प्रेरित कार्य-कलाप (अर्थात् श्रम) से है और प्रामाण्य का आत्मिक (अर्थात् बौद्धिक और सामाजिक) क्रियाओं से। इस द्विस्तरीय पृष्ठभूमि के नाते मनुष्य का बोध अद्वितीय (व्यक्तिनिष्ठ) नहीं हो सकता।

प्रजातीय परिजीवन की प्रक्रिया दो स्तरों पर चलती है। एक तो पृथगात्म के जीने की प्रक्रिया और दूसरी प्रजाति के रूप में जीने की प्रक्रिया। बृहत्तर (सामाजिक) परिजीवन के लिए स्वयं को प्रस्तुत करते समय हमें मूल्यवत्ता का जो बोध होता है, वह हमारी अन्तर्रचना का अंग है।

विकास के दीर्घ क्रम में बाह्य प्रकृति से जीवों का द्वन्द्व ही जीवन का आधार बना। प्रतिकूल पर्यावरण में जीवन का विकास नहीं हो सकता था। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के विविध घात-प्रतिघात में जीवन का आदिम रूप विकसित हुआ।[2] जीवन की ही भाँति संवेदन-तंत्र का विकास भी बाह्य प्रकृति से जीवों के द्वन्द्व का ही परिणाम है। संवेदन-तंत्र के विकास के बगैर परिजीवन के द्वन्द्वात्मक धरातल पर बाह्य जगत् की किसी भी वस्तु का संवेदनगत अनुभव असम्भव था।

---

१. 'इकोनॉमिक एण्ड फिलॉसॉफिकल मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ १८४४', पृ० १८२।
२. 'दि ऑरिजिन ऑफ लाइफ', पृ० ८०-१।

जीवन-क्रम समग्र रूप से सूर्य की किरणो पर निर्भर है। इन किरणों का प्रभाव पृथ्वी की निश्चित अवस्थाओ से उनके निश्चित सम्बन्धों द्वारा उत्पन्न होता है। अगर पृथ्वी अपने कक्ष से कुछ हजार मील सूर्य के निकट खिसक जाय तो जीवन-क्रम नष्ट हो जायगा। अथवा, सूर्य से उतनी ही दूर चली जाय तो भूमध्य रेखा के अलावा कही भी जीवन का अस्तित्व नही रह जायगा। अर्थात् पृथ्वी पर जीवन के अस्तित्व का सीधा सम्बन्ध पृथ्वी और सूर्य की सापेक्ष स्थिति और इस स्थिति से उत्पन्न वातावरण से है।

यह सयोग की वात नही है कि जीवो मे चाक्षुप इन्द्रिय-वोध ही सर्वाधिक विकसित हुआ है। सौन्दर्य-चेतना और सौन्दर्य-मूल्यों का इस चाक्षुप धरातल से गहरा सम्बन्ध है। हमारा बिम्ब-जगत् मूलतः चाक्षुप है। विम्ब हमारे सवेदन-जगत् की रचना के आधारभूत तत्त्व हैं। उपमाएँ, प्रतीक, साहचर्य आदि मूलतः हमारे चाक्षुप विम्वो पर आधारित हैं।

सौन्दर्य-मूल्यो से सम्वन्धित सवेदन-तंत्र और जीवन-प्रक्रिया को अलग करके नही देखा जा सकता। सौर प्रकाश के इन्द्रधनुषी सात रंगो को ग्रहण करने वाला हमारा सवेदन-तंत्र सिर्फ इन्ही रंगो के प्रति संवेदनशील क्यो हुआ? इस परिधि के वाहर की किरणो के व्यापक प्रसार के लिए हमारी कोई ज्ञानेन्द्रिय विकसित नही हुई।

संवेदन-तंत्र परिजीवन की मुक्ति के रूप में विकसित हुआ है। विकास सिर्फ उन्ही तत्वो का हुआ, जो परिस्थिति से सीधे जुड़े हुए हैं और जो परिस्थितिजन्य शर्तों के सर्वदा अनुकूल हैं।[1] उपयोग के परिणाम और सौन्दर्य के कारण इस संवेदन-तंत्र को इस रूप में देखा जा सकता है।

उपयोग ( व्यापक अर्थों मे )
↓
संवेदन-तंत्र
↓
सौन्दर्य-वोध

कार्य-कारण का यह सम्बन्ध आवयविक रूप मे द्वन्द्वात्मक एकता से आबद्ध है। उपयोगिता के दायरे से वाहर न तो सवेदन-तंत्र विकसित हुआ है और न सौन्दर्य-

१. दे० 'दि ओरिजिन ऑफ लाइफ', ओपारिन, पृ० ८१।

बोध। सघनतम उपयोगिता के दायरे के भीतर ही सघनतम संवेदन और सघनतम सौन्दर्य-बोध का विकास हुआ है।

जीवन के आदिम रूपों में प्रकृति से जीवन का सम्बन्ध बेहद चुनौतीपूर्ण था। इस संघर्ष में मनुष्य की बहुत अधिक सीमाएँ थीं। सारी बाह्य शक्तियों को विकराल और विनाशक प्रकृति से मनुष्य की सुरक्षा उसकी कर्मठता ( श्रम ) ने की। जिन प्राणियों में कर्तृत्व शक्ति नहीं है, उनमें सौन्दर्य-चेतना भी नहीं है। वनस्पतियों में भी जीवन होता है किन्तु उनकी चेतना सर्वथा अविकसित है। वनस्पति जमीन तक से स्वतन्त्र नहीं हो सकी, जीवधारियों में सबसे बेबस वनस्पतियाँ ही हैं। सक्रिय भूमिका न होने के नाते उनमें सौन्दर्य-चेतना, सौन्दर्यानुभूति नहीं है। हाँ, वनस्पति जगत् सौन्दर्य का आधार भले ही है। पेड़-पौधे प्राणरहित ( जड़ ) पत्थरों जैसे नहीं हैं। वे उग सकते हैं, विकसित होकर फलते-फूलते हैं। विकास की इस अंतर्निहित 'क्षमता को ही प्राण शक्ति कहा जाता है।

यहाँ उपयोग की भूमिका साफ-साफ देखी जा सकती है। हम ऊर्जा-तरंगों के एक निश्चित प्रसार को ही अपने संवेदन द्वारा ग्रहण कर सकते हैं। जिस प्रसार से हमारी उपयोगितामूलक सम्बन्ध अधिक कायम हुआ, उन्हीं को हम सात रंगों में ग्रहण करते हैं। शेष ऊर्जा-तरंगों को ग्रहण कर सकने में हमारे संवेदन-तंत्र अक्षम हैं। यह विकास कमोवेश सभी प्राणियों में एक-सा हुआ है।

इसी सर्वसामान्य गुण को रेखांकित करते हुए डार्विन ने सौन्दर्यानुभूति को जैविक प्रक्रिया में निहित माना है। उनकी इस मान्यता के अनुसार सौन्दर्य-बोध मनुष्येतर प्राणियों में भी समान रूप से पाया जाता है। उनकी निश्चित मान्यता है कि रंगों और ध्वनियों के विशिष्ट प्रभाव मनुष्यों को ही नहीं, निम्न-स्तरीय प्राणियों को भी प्रभावित करता है। इस मान्यता का सैद्धान्तिक आधार यह है कि सौन्दर्य के प्राकृतिक उपादानों का अस्तित्व मनुष्य के पहले से है ; वे मनुष्य के लिए विशेष रूप से निर्मित नहीं हुए हैं। इसलिए वे काफी बल देकर कहते हैं कि निम्नस्तरीय प्राणियों में भी "ठीक उसी रूप में सौन्दर्य-चेतना विद्यमान रहती है जिस रूप में मनुष्य या अन्य विकसित प्राणियों में।"[१]

यह सिद्धान्त पूरी तरह सही तभी साबित हो सकता है जब हम मानवीय सौन्दर्य-चेतना के विकास को केवल जैविक विकास के सौन्दर्भ में ही देखें। डार्विन की इस मान्यता में सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि वे सौन्दर्य के वस्तुगत पक्ष को

---

१ उद्धृत, 'प्रॉब्लम्स ऑव मॉडर्न एस्थेटिक्स', पृ० १५८-१५६।

निर्णायक स्थान देते हुए भी इस बात को नजरंदाज कर गये हैं कि सामाजिक विकास के दौरान सौन्दर्य-ग्रहण की विशिष्ट क्षमता हासिल करने के नाते ही मनुष्य अन्य प्राणियों से भिन्न है।

मिसाल के तौर पर आँख को लें। प्रो० पूरी फोलोव के शब्दों मे, "प्राणियों में ज्ञानेन्द्रियो की भांति यह (आंख) निम्नतर जीवियो मे भी उत्पन्न हुई।"[१] दर्शनेन्द्रिय के बावजूद निम्नतर जीवियों मे बिम्ब-ग्रहण की क्षमता मनुष्य जैसी विशिष्ट और सौन्दर्यात्मक नही है। गिद्ध प्रायः सबसे अधिक दूर तक देखता है। कबूतर अवरक्त ऊर्जा-तरगो को देख सकता है। बिल्ली, उल्लू आदि अन्धकार मे भी देख सकते हैं। इससे केवल बाह्य-जगत् से उनके संवेदन-तन्त्र के अन्योन्य सम्बन्ध की सूचना मिलती है। यह सिद्ध नही होता कि इन प्राणियो का सवेदन-तंत्र आदिम अवस्था में न होकर विकसित एव उन्नत अवस्था मे है। उनके सौन्दर्य-बोध के साथ-साथ उनका उपयोगिता-बोध भी अविकसित है।

यही बात वायु तरगो के सम्बन्ध मे भी देखी जा सकती है। हम अपनी श्रवणेन्द्रिय द्वारा निश्चित तरग-दैर्घ्य को ही ग्रहण कर सकते है। तरंग-दैर्घ्य या आयाम एक सीमा तक बढ़ते-बढ़ते या घटते-घटते साधारणतया अश्रव्य हो जाते हैं। तरंग-दैर्घ्य और आयाम के जिस प्रसार से जीवन का सर्वाधिक साक्षात्कार होता रहा है, उसी के सन्दर्भ मे हमारी श्रवण-शक्ति विकसित हुई है।

जैविक विकास के क्रम मे विकसित होने वाले हमारे सौन्दर्य-मूल्य वस्तुतः हमारी सौन्दर्य-चेतना के आधारभूत प्रेम हैं। रंग या ध्वनि की सवेदन-क्षमता सामान्य धरातल पर होती है। डार्विन के मत मे यही वात ध्वनित होती है। डार्विन का यह कथन सही है कि 'पृथ्वी पर फूलों का आविर्भाव मनुष्य के जन्म से काफी पहले हो चुका था।"[२]

किन्तु इसका एक दूसरा पहलू भी है। इस प्रसंग में निकोलाई सिलयेव के ये शब्द स्मरणीय हैं "प्राकृतिक सौन्दर्य जीवो के अनवरत विकास का नतीजा है। जीवन के लिए संघर्ष, वातावरण के अनुकूलन और नैसर्गिक चयन की प्रक्रिया मे उनका परिष्कार होता गया है।"[३]

जिन प्राणियो मे कर्तृत्व-शक्ति जितनी अधिक है, उनकी चेतना का स्तर

---

१. 'वर्क एण्ड दि ब्रेन', पृ० १४।
२. उद्धृत, 'प्रॉब्लम्स ऑफ मॉडर्न इस्थेटिक्स', पृ० १५६।
३. उपर्युक्त, पृ० ११२।

भी उतना ही ऊँचा है। श्रम ने मनुष्य की कर्तृत्व-शक्ति को नये धरातल पर पहुँचाया, साथ ही उसने मनुष्य को नये रूप में प्रकट किया। अब मनुष्य सुलभ परिस्थितियों मे ही रास्ता निकालने का काम नहीं करता, वह अपने अनुरूप— तप करके—रचना भी करता है। यह स्तर सामाजिक विकास से जुड़ा हुआ है।

समाज के रूप में मनुष्य का गठन अन्य प्राणियों के अव्यवस्थित यूथ अथवा रेवड़ मे उसकी भिन्नता स्थापित करता है। समाज व्यवस्थाबद्धता का ही एक रूप है। इस व्यवस्थाबद्धता को मनुष्य की जैविक संरचना से अलग करके नहीं देखा जा सकता। मनुष्य के सौन्दर्य-बोध को, आत्मगत अनुभूतियों के अन्तः-संसार को भी व्यवस्थाबद्धता से पृथक् नहीं किया जा सकता।

मनुष्य की यह सामाजिक व्यवस्था उसके मानवीय इतिहास का विषय है। श्रम-प्रक्रिया के क्रम मे मनुष्य ने न केवल अपना मनुष्य-रूप सम्पन्न किया अपितु अपनी चेतना को भी गुणात्मक दृष्टि से नये धरातल पर पहुँचाया। कला या सौन्दर्य-बोध को उनकी मानव-सापेक्षता के कारण श्रम-प्रक्रिया से च्युत करना सम्भव नहीं है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि मनुष्य के पास एक ओर जहाँ सौन्दर्य-बोध की अद्वितीय क्षमता है, वहां उसके पास अति-विकसित श्रमेन्द्रिय—हाथ—भी मौजूद हैं। पशुओं के पास हाथ नहीं होता। पशु श्रम नहीं करते इसलिए उनके पास सौन्दर्य-बोध भी नहीं होता। फ्रेडरिक एंगेल्स ने हाथो को मनुष्य के विकास में केन्द्रीय घटक माना है। यदि पुरुषाभ वानरों के हाथ स्वतंत्र न होते तो उनका इस रूप मे विकास हो पाता, यह कहना नामुमकिन है।[1]

हाथों की निर्णायक भूमिका का उल्लेख करते हुए पावलोव चिम्पाजी का हवाला देकर बताते हैं कि चिम्पाजी हाथों की सहायता से ही अपने परिवेश के साथ अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक जटिल सम्बन्ध कायम करता है। पदार्थों से अपेक्षाकृत अधिक जटिल सम्बन्ध कायम करने के नाते ही यह अधिक बुद्धिमान है। मनुष्य हाथों का उपयोग सर्वाधिक करता है। "वह बुद्धिमान था, इसलिए हाथों से काम लेने लगा। हाथों से काम लेने के कारण अधिक बुद्धिमान हुआ।"[2]

मनुष्य अपने हाथों के द्वारा बाह्य पदार्थों से जो जटिल सम्बन्ध कायम करता था, श्रम उसी का विकसित रूप है। आदिम अवस्था मे सरल क्रियाओं और चेष्टाओं तक सीमित मनुष्य के हाथ उन क्रियाओं के प्रति अनुकूलित होते गये। इससे हाथों की

---

१. दे० 'डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर', पृ० २२८।

२. 'भाषा और समाज', पृ० ६।

कुशलता और दक्षता बढ़ी। हाथ अधिकाधिक नमनीय हुए। यह नमनीयता आनुवंशिक होती थी। अधिक जटिल क्रियाओ मे हाथों के प्रयोग से उनमें परिष्कार आया। आदिम औजारो को भी नया रूप मिला। अतएव हाथ श्रमेन्द्रिय भी हैं और श्रम की उत्पत्ति भी।

हाथो की विशेष क्रिया ने शरीर-रचना को भी प्रभावित किया। खान-पान की विविधता ने शारीरिक क्रियाओ को प्रभावित किया। खानाबदोशी का कबाइली जीवन बिताने वाले मनुष्य के सामने कन्द-मूल सीमित रूप मे है। उन्ही से काम चला लेना सम्भव न था। प्राकृतिक अनिश्चितता ने भोजन को विविधतायुक्त बनाया और मनुष्य को मासाहारी। मनुष्य मूलतः मांसाहारी न था। इसके लिए एगेल्स ने यह उदाहरण दिया है कि "शिकारी उस हिरणी को नही मारता जो अगले वर्ष मृगशावक देने वाली होती है जबकि भेडिया उसे मार देता है।"[1]

मासाहार ने उपापचय और शारीरिक विन्यास को ही प्रभावित नहीं किया। उसने मनुष्य को शिकार की तलाश मे नदी-पहाड़ों के साथ-साथ हजारो-लाखो मीलो और वर्षो की महायात्रा पर निकलने को प्रेरित किया। तरह-तरह की जलवायु और प्राकृतिक वातावरण से जुड़ता हुआ मनुष्य स्वयं को स्थितियो के अनुरूप ढाल लेता था। समूह मे रह कर उसमे सम्मिलित कार्य-कलाप और पारस्परिक सहयोग की भावना विकसित हुई। समाज का जन्म इस भावना के बगैर असम्भव है।

सामूहिक जीवन बिताते हुए मनुष्य आपसी सपर्क के लिए जिन निरर्थक ध्वनि-सकेतो से काम लेता था, वही विशिष्ट मानवीय सन्दर्भो से जुड कर भाषा के रूप मे व्यक्त हुई। मनुष्येतर प्राणियों मे भी निरर्थक ध्वनि-संकेतो से भय, प्रसन्नता आदि भाव व्यक्त करने की प्रकृति और क्षमता होती है। इस प्रकार मनुष्य की वाणी का परस पाकर निरर्थक ध्वनियाँ सार्थक शब्दो मे बदल गयी। श्रम और भाषा का यह अन्योन्य सम्बन्ध मानव-मस्तिष्क पर किस तरह प्रभाव डालता है, इसका हवाला देते हुए फ्रेडरिक एगेल्स कहते हैं: "पहले श्रम, उसके बाद और तब उसके साथ वाणी—ये ही दो सबसे सारभूत उद्दीपनाएँ थी, जिनके प्रभाव मे वानर का मस्तिष्क धीरे-धीरे मनुष्य के मस्तिष्क मे बदल गया, जो सारी समानता के बावजूद वानर के मस्तिष्क से कही बडा और अधिक परिनिष्पन्न है। मस्तिष्क के विकास के साथ-ही-साथ उसके सबसे निकटस्थ कारणों (ज्ञानेन्द्रियो) का विकास हुआ। जिस तरह वाणी के क्रमिक विकास के साथ अनिवार्य रूप से

१. 'डाइलेक्टिक्स ऑफ नेचर', पृ० २३५।

श्रवणेन्द्रिय का तदनुरूप परिष्कार होता है, ठीक उसी तरह समग्र रूप मे मस्तिष्क के विकास के साथ सभी ज्ञानेन्द्रियों का परिष्कार होता है।"[1]

जिन प्राणियो का मस्तिष्क अविकसित या अल्पविकसित है, उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ परिष्कृत नही हैं। यही कारण है कि कई मायनों मे मनुष्य से अधिक देख-सुन सकने वाले प्राणी सौन्दर्य का अनुभव नही कर पाते। मानव-मस्तिष्क का यह विकास श्रम, समाज, भाषा की जटिल द्वन्द्वात्मकता में सम्पन्न हुआ है। मस्तिष्क हमारी कर्मेन्द्रियों को शासित करने के लिए हमारे भीतर विकसित तंत्र है। मस्तिष्क ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उसके प्रति क्रिया या प्रतिक्रिया...इन दोनों के बीच सम्बन्ध कायम करता है।

मस्तिष्क का परिष्कार चेतना के बौद्धिक विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। बुद्धिमत्ता के विकास के कारण ही संवेदन, ग्रहण और धारण (धृति) की मानव-क्षमता निम्नस्तरीय प्राणियों की तुलना मे गुणात्मक दृष्टि से भिन्न है। पशु बाह्य जगत् को केवल ग्रहण कर सकता है, धारण नही। पशुओं मे किसी वस्तु के साक्षात्कार का संवेदन-संस्कार केवल उस स्तर पर शेष रहता है कि वह संवेद्य वस्तु का पुनः साक्षात्कार होने पर उसे पहचान भर ले। इसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। मनुष्य संवेद्य वस्तु को उसकी अनुपस्थिति मे भी स्मरण कर सकता है। इसे प्रतिस्मरण कहते हैं। पहली क्षमता जीवियो के सार्वभौम विकास मे अर्जित हुई है और दूसरी सामाजिक विकास मे।

इस प्रकार, मनुष्य विकास के जैविक और सामाजिक दोनों चरणों से गुजरता हुआ सामान्य से विशिष्ट के धरातल पर पहुँच गया है। चेतना के स्तर पर इसे यों देखा जा सकता है :

१. प्रत्यभिज्ञान

'''परिमाण भेद से प्राणिमात्र का गुण,

२. प्रतिस्मरण

—मानव-विशिष्ट गुण,

प्रतिस्मरण की इस क्षमता के कारण मनुष्य बाह्य-जगत् की प्रत्येक वस्तु को देश-कालगत व्यापक परिधि में देखता है। वस्तुओं मे सामान्य-असामान्य का विवेक कर सकने की मानवीय क्षमता उसकी इसी वृहत्तर दृष्टि-परिधि के कारण सम्भव हो सकी। यह विवेक उसकी संवेदना द्वारा वस्तुओं के ग्रहण और

---

१. 'डाइलेक्टिक्स ऑफ नेचर', पृ० २३३.

उनकी अनुभूति को अधिक स्पष्ट और परिभाषित स्वरूप प्रदान करता है। वह सामान्यताओं और असामान्यताओं का विश्लेषण और संश्लेषण करता है। वह संश्लेषण-विश्लेषण के आधार पर सामान्यीकरण करता है। इस प्रक्रिया के द्वारा विशिष्ट बिम्बों के रूप मे ग्राह्य विशिष्ट वस्तुओ के सामान्य प्रत्यय और परिस्थिति-बोध विकसित होते हैं। प्रत्यय और परिस्थिति-बोध वस्तुओं की देश-कालगत उपयोगिता को नये आयाम प्रदान करते हैं।

उदाहरणार्थ, मांसाहार को लें। आदिम कबाइली समाज मे शिकार की प्रवृत्ति और यायावर जीवन मांसाहार का परिणाम है। शिकार उत्पादन का आदिम रूप है। इतना ही नही, मासाहार के व्यापक प्रभाव के सम्बन्ध में एंगेल्स ने लिखा है : "मासाहार के फलस्वरूप निर्णायक महत्त्व के दो नये कदम उठाये गये—मनुष्य ने अग्नि को वशीभूत किया, दूसरे...पशुपालन आरम्भ हुआ। पहले के फलस्वरूप पाचन-क्रिया और सक्षिप्त बन गयी क्योंकि इसकी बदौलत मानव-मुख को मानो पहले से ही आधा पचा भोजन मिलने लगा। दूसरे ने मांस की पूर्ति का शिकार के अलावा एक नया, अधिक नियमित स्रोत प्रदान करके मास की आपूर्ति को अधिक प्रचुर बना दिया।"[1]

ध्यान देने की बात यह है कि भुना हुआ मांस अधिक सुपाच्य और स्थायी होता है। इससे उसका देश-कालगत उपयोग बढ गया। मास की उपयोगिता और स्थायित्व मे वृद्धि से उस पर व्यय श्रम का मूल्य भी बढ़ गया। इससे श्रम की उपयोगिता बढ़ी। प्रतिस्मरण से उत्पन्न परिस्थिति-बोध ने मानव-श्रम को नये धरातल पर पहुँचा दिया। दूसरी ओर इसके फलस्वरूप मनुष्य के अन्तर्जगत् के प्रत्ययों का निर्माण हुआ। जैविक विकास की दृष्टि से भाषा का जन्म परिस्थिति-बोध के साथ होता है। विषम परिस्थितियों मे निःसृत विभिन्न निरर्थक ध्वनियाँ प्रतिस्मरण की मानवीय क्षमता से जुड़ने पर सार्थक भाषा'''परिस्थिति-जन्य भावों को व्यक्त करने वाले माध्यम—के रूप में सामने आती हैं।

भाषा की अन्तःप्रकृति सामूहिक है। उसने सामाजिक गठन मे आदिम काल से ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। भाषा ही सांस्कृतिक रूपों का आधारभूत घटक है। समाज की रचना के साथ मानव-श्रम नये धरातल पर आसीन हुआ। संक्षेप में, इवान अस्तखोव के शब्दों में कह सकते हैं कि "श्रम के औजारों की उत्पत्ति मानव के विकास मे एक निर्णायक मोड़ की सूचना देती है, जिसने

---

१. 'डाइलेक्टिक्स ऑफ नेचर', पृ० २३७।

उसके भौतिक स्वरूप का स्थायित्व निश्चित कर दिया। इसके बाद मनुष्य शारीरिक दृष्टि से उतना नहीं बदला जितना सामाजिक दृष्टि से बदला है।"[1]

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि जैविक विकास के सामान्य और सामाजिक विकास के विशिष्ट—दोहरे—धरातलों से गुज़रते हुए मनुष्य ने सौन्दर्यानुभूति की विशिष्ट क्षमता हासिल की है। सौन्दर्य-मूल्यों और चेतना के रूपों का विकास उसकी विभिन्न सामाजिक अवस्थाओं से जुड़ा हुआ है।

———

१. 'प्रॉब्लम्स ऑफ मॉडर्न एस्थेटिक्स', पृ० १६०।

अग्रवाल इस बुनियादी प्रस्थापना को प्रस्तुत करते हुए कविता को नृत्य एवं संगीत से अधिक भावात्मक बताते हैं।[1] यह भावात्मकता श्रम की देन है। श्रम ने मनुष्य में साथ-साथ रहने का अभ्यास डाला। यह साहचर्य भौतिक उत्पादन के ही नहीं, आत्मिक भावों—प्रेम, घृणा आदि—के उदय का भी कारण बना। डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में, "भावों का विकास सामाजिक स्तर पर ही निर्भर है।"[2]

कविता समाज के विकास के साथ अस्तित्व में आयी है, इसलिए इन्द्रिय-बोध के अलावा भाव-जगत् से उसका गहरा सम्बन्ध है। कविता इन्द्रियों से अनुभूत बिम्बों का पुनः सृजन करती है किन्तु स्वयं बिम्ब कविता नहीं होते। मनुष्य के भाव ही बिम्बों को काव्यात्मक बनाते हैं। बाउमगार्तेन ने भाव-जगत् से कविता के गहन अन्तःसम्बन्ध को रेखांकित करने के प्रयास में ही बिम्बों को भावों की तुलना में कम काव्यात्मक माना है। स्पष्ट है कि बिम्बों की काव्यात्मक अन्तर्वस्तु मनुष्य के भावात्मक अन्तर्जगत् के अस्तित्व पर निर्भर है। इस प्रकार, कविता मनुष्य के बिम्ब निर्मित अन्तर्जगत् की भावात्मक अभिव्यक्ति है।

मनुष्य के इन्द्रिय-बोध, भाव-जगत् और विचार-प्रणाली का विकास एवं परिष्कार समाज के विकास से गहरे तौर पर सम्बद्ध है। विकास की आरम्भिक अवस्था में मानव-चेतना संश्लेषण-विश्लेषण की वह क्षमता नहीं रखती थी, जो आज हमारे पास मौजूद है। उसकी चेतना विविध संवेगों में साथ-साथ व्यवस्थित नहीं हुई थी। निम्नस्तरीय जीवों में यह अभी भी नहीं है। पशुओं के पास आँख है लेकिन अलग-अलग रंगों की विशिष्ट पहचान उनमें नहीं है। वे संगीतात्मक या अन्य संगीतेतर हित ध्वनियों का फर्क नहीं कर पाते। इसका कारण समाज की उस आरम्भिक अवस्था में निहित है जिसमें श्रम-विभाजन का अस्तित्व नहीं था। विभाजन और वर्गीकरण विशेषज्ञता का परिणाम होते हैं। श्रम के साथ-साथ चेतना भी अविकसित अवस्था में होने के नाते अस्पष्ट थी। यह अस्पष्टता दो रूपों में देखी जा सकती है। एक तो धर्म, मिथ, कला आदि सम्भव चेतना-रूपों के घालमेल में; और दूसरे, संगीत, कविता, नृत्य आदि कला-रूपों की अन्तःसम्बद्धता में। इस धरातल पर चेतना और कला के रूपों को अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता था।

कबायली जीवन बिताता हुआ मनुष्य सामूहिक चेतना विकसित करता है। ऐशले मोंटेगू ने आदिम मनुष्य की चेतना के सन्दर्भ में बताया है कि उसकी चेतना

---

१. 'समय-समय पर', पृ० १४।

२. 'साहित्य : स्थायी मूल्य और मूल्यांकन', पृ० १५।

में आधारभूत गुण-परिवर्तन लाते हैं। मनुष्य के बिम्ब परिस्थिति-बोध द्वारा अनुकूलित होते हैं।

कविता के जन्म के प्रश्न को मनुष्य के उक्त सन्दर्भों से नहीं काटा जा सकता। आदिम लय से शब्दबद्ध गीता की यात्रा के दरम्यान, नृत्य, संगीत आदि कला के अन्य रूप प्रचलित थे। यदि थोड़ा ठहर कर विचार करें तो श्रम के साथ कला के अविच्छेद्य सम्बन्ध की पुष्टि होगी। जी. वी. प्लेखानोव और क्रिस्तोफर काडवेल कविता के जन्म के प्रश्न को आदिम मनुष्य की सामूहिक जीवन-विधि से घनिष्ठ रूप में जोड़ कर देखते हैं। कविता को मूलतः गीत बताते हुए क्रिस्तोफर काडवेल कहते हैं कि गीत अपनी अन्तःप्रकृति के कारण मूलतः सामूहिक भावों की अभिव्यक्ति करते हैं।[1] लुई हरप (LUIS HARAP) कविता के उद्‌भव को श्रम-प्रक्रिया से अनिवार्यतः सम्बद्ध बताते हैं। वे कहते हैं कि "श्रम-प्रक्रिया में स्वर की लयात्मक गति से संगीत और नृत्य आविर्भूत हुए। श्रमरत आदिम मनुष्य ने सहज प्राप्त लय को शब्द प्रदान किये। फिर उसने स्वरों के बीच के रिक्ति को अन्य स्वरों से भरा। इस प्रकार, कविता और गीत का जन्म हुआ।"[2] आरम्भ में गद्य और पद्य दोनों गीत से सम्बद्ध थे। इसकी व्याख्या करते हुए ऐशले मोंटेग्यू ने लिखा है कि "अनपढ़ लोगों के गद्य और पद्य दोनों गीत से सम्बद्ध होते हैं...और यह कोई संयोग की बात नहीं है कि कविता, छन्द-शास्त्र, गीत, वाद्य संगीत और नृत्य सब एक-दूसरे से इतने जुड़े होते हैं।"[3]

स्पष्ट है कि श्रम से पहले कला का अस्तित्व सम्भव नहीं था। श्रम के कारण बाह्य-जगत् से हम जो जटिल सम्बन्ध कायम करते हैं, वह हमारी चेतना को विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है। इसी कारण मनुष्य देश-कालगत व्यापक परिधि में देख एवं सोच-समझ सकता है। मनुष्य की चेतना के रूप उसके इस सामान्य विकास से गहरे स्तर पर सम्बद्ध हैं। भाषा का जन्म समाज के साथ होता है और कविता भाषा के बगैर असम्भव है। इसलिए मानव-समाज के अस्तित्व से पूर्व कला या कविता के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ब्यूशन आदि की कला सम्बन्धी मान्यताओं का खण्डन करते हुए सोवियत चिन्तक जी. वी. प्लेखानोव कहते हैं कि "श्रम कला से प्राचीन है।"[4] हिन्दी कवि और प्रगतिशील चिन्तक केदारनाथ

---

१. 'इल्यूजन एण्ड रियलिटी', पृ० १५-१६।
२. 'सोशल रूट्स ऑफ आर्ट्‌स', पृ० ११।
३. 'मैन : हिज फर्स्ट मिलियन ईयर्स', पृ० १७२।
४. 'आर्ट एण्ड सोशल लाइफ', पृष्ठ १०२।

अग्रवाल इस बुनियादी प्रस्थापना को प्रस्तुत करते हुए कविता को नृत्य एवं संगीत से अधिक भावात्मक बताते हैं।[१] यह भावात्मकता श्रम की देन है। श्रम ने मनुष्य में साथ-साथ रहने का अभ्यास डाला। यह साहचर्य भौतिक उत्पादन के ही नहीं, आत्मिक भावों—प्रेम, घृणा आदि—के उदय का भी कारण बना। डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में, "भावों का विकास सामाजिक स्तर पर ही निर्भर है।"[२]

कविता समाज के विकास के साथ अस्तित्व में आयी है, इसलिए इन्द्रिय-बोध के अलावा भाव-जगत् से उसका गहरा सम्बन्ध है। कविता इन्द्रियों से अनुभूत बिम्बों का पुनः सृजन करती है किन्तु स्वयं बिम्ब कविता नहीं होते। मनुष्य के भाव ही बिम्बों को काव्यात्मक बनाते हैं। बाउमगार्तेन ने भाव-जगत् से कविता के गहन अन्तःसम्बन्ध को रेखांकित करने के प्रयास में ही बिम्बों को भावों की तुलना में कम काव्यात्मक माना है। स्पष्ट है कि बिम्बों की काव्यात्मक अन्तर्वस्तु मनुष्य के भावात्मक अन्तर्जगत् के अस्तित्व पर निर्भर है। इस प्रकार, कविता मनुष्य के बिम्ब निर्मित अन्तर्जगत् की भावात्मक अभिव्यक्ति है।

मनुष्य के इन्द्रिय-बोध, भाव-जगत् और विचार-प्रणाली का विकास एवं परिष्कार समाज के विकास से गहरे तौर पर सम्बद्ध हैं। विकास की आरम्भिक अवस्था में मानव-चेतना संश्लेषण-विश्लेषण की वह क्षमता नहीं रखती थी, जो आज हमारे पास मौजूद है। उसकी चेतना विविध संवेगों में साथ-साथ व्यवस्थित नहीं हुई थी। निम्नस्तरीय जीवों में यह अभी भी नहीं है। पशुओं के पास आँख है लेकिन अलग-अलग रंगों की विशिष्ट पहचान उनमें नहीं है। वे संगीतात्मक या अन्य संगीतेतर हित ध्वनियों का फर्क नहीं कर पाते। इसका कारण समाज की उस आरम्भिक अवस्था में निहित है जिसमें श्रम-विभाजन का अस्तित्व नहीं था। विभाजन और वर्गीकरण विशेषज्ञता का परिणाम होते हैं। श्रम के साथ-साथ चेतना भी अविकसित अवस्था में होने के नाते अस्पष्ट थी। यह अस्पष्टता दो रूपों में देखी जा सकती है। एक तो धर्म, मिथ, कला आदि सम्भव चेतना-रूपों के घालमेल में, और दूसरे, संगीत, कविता, नृत्य आदि कला-रूपों की अन्तःसम्बद्धता में। इस धरातल पर चेतना और कला के रूपों को अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता था।

कबायली जीवन बिताता हुआ मनुष्य सामूहिक चेतना विकसित करता है। ऐशले मोंटेगू ने आदिम मनुष्य की चेतना के सन्दर्भ में बताया है कि उसकी चेतना

---

१. 'समय-समय पर', पृ० १४।

२. 'साहित्य : स्थायी मूल्य और मूल्यांकन', पृ० १५।

अपने ऊपर सीधे प्रभाव डालने वाली अपने आस-पास की चीजों के प्रति अत्यधिक सजग एवं संवेदनशील थी।[1] व्यापक और विराट् प्रकृति के नाना उपादानों से उसका सीधा सम्पर्क कायम होता था। आत्म-साक्षात्कार की विमुग्ध दृष्टि वाला आदिम मनुष्य नदी, पहाड़, सूरज, वृक्ष, पशु-पक्षी आदि सभी पर आत्म-प्रक्षेपण करता था। वह उन्हें अपने जैसा सप्राण मानता था। आत्म-प्रक्षेपण की इस चरम अवस्था में मनुष्य की दुनिया फैण्टेसीमय होती थी। वह 'आत्म' और 'वस्तु' के बीच फर्क नहीं कर पाता था। यह अन्ध-विश्वास-युग की चेतना है। कालान्तर में जब आत्म और वस्तु के बीच का फर्क जान लिया गया तब उसकी समग्र चेतना एक नये उच्चतर धरातल पर पहुँच गयी। चेतना के इस युग को धर्म का युग कहते हैं। चेतना के विकास की सर्वोच्च अवस्था वैज्ञानिक है। मनुष्य विज्ञान-युग में पहुँच कर आत्म के भी वास्तविक रूप को देखने में समर्थ होता है।

मानव-चेतना के विकास से सम्बन्धित हमारी इस व्याख्या का आधार यह मान्यता है कि चेतना वस्तु-जगत् से स्वतंत्र या निरपेक्ष नहीं, भौतिक जगत् का परिणाम होती है। वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन के अनुसार—"चेतना मानव मस्तिष्क का कार्य है, जो अपने सारतत्त्व में पदार्थ को ही प्रतिबिम्बित करती है।"[2]

मनुष्य की चेतना का विकास उसके भौतिक विकास द्वारा अनुप्रेरित होता है। मनुष्य के भौतिक विकास की मूल धुरी उसकी कर्तृत्व-शक्ति (श्रम) है। मानव-चेतना का विकास श्रम की विभिन्न अवस्थाओं द्वारा अनुशासित होता है।

मनुष्य अपने श्रम की आरम्भिक अवस्था में भौतिक दृष्टि से जिस प्रकृति के अधीन था, चेतना के स्तर पर उसी से आक्रान्त भी था। आदिम मनुष्य की इस दुर्दम स्थिति का उल्लेख विक्टर रोमनेंको इन शब्दों में करते हैं कि "एक ऐसा भी समय था जब प्रकृति मनुष्य में सकारात्मक के स्थान पर नकारात्मक भावनाएँ उत्पन्न करती थी; जब वह उसे सुन्दर कम और त्रासद अधिक प्रतीत होती थी; और वह उसकी माँ की तरह नहीं, दुष्ट सौतेली माँ की तरह थी…।"[3]

सामाजिक दृष्टि से अन्धविश्वास युग की यह चेतना आदिम सामुदायिक व्यवस्था और दास-समाज की अवस्थाओं से सम्बद्ध है। मनुष्य भौतिक दृष्टि से प्रकृति के जितना अधीन था, उसकी चेतना, उसकी पराधीनता को उसी अनुपात में व्यक्त

---

१. 'मैन : हिज फर्स्ट मिलियन ईयर्स', पृ० १६८-६९।

२. 'दि फण्डामेण्टल्स ऑफ मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट फिलॉसफी', पृ० १६२।

३. 'प्राब्लम्स ऑफ मॉडर्न इस्थेटिक्स', पृ० १३३-३४।

करती थी। निर्जीव पदार्थजगत् को सजीव वस्तुबिम्बों के रूप में ग्रहण करना मनुष्य की प्रकृति-भीत चेतना का प्रमाण है।

धर्म की चेतना मनुष्य के श्रम की अपेक्षाकृत उन्नत अवस्था की परिचायक है। धर्म की व्याख्या करते हुए फ्रेडरिक एंगेल्स ने लिखा है—"'''समस्त धर्म मानवों के मन में उन बाह्य शक्तियों की अपरूप प्रतिच्छाया के सिवा कुछ नहीं है, जो उसके रोजमर्रे के जीवन का नियंत्रण करती है, ऐसी प्रतिच्छाया, जिसमें पार्थिव शक्तियाँ अतिप्राकृतिक रूप धारण कर लेती हैं।"[1] अर्थात् धर्म के काल में मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों के अधीन बना रहता है, उसके दैनन्दिन जीवन का नियन्त्रण प्राकृतिक शक्तियाँ ही करती है।

उक्त दोनों युगों की चेतना में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। आदिम मनुष्य प्रकृति के अनुरूप स्वयं को ढालता था, अपने श्रम द्वारा सुलभ प्राकृतिक साधनों का उपयोग करता था। उसकी ये चेष्टाएँ उसको अत्यन्त सीमित कर्तृत्व-शक्ति की सूचना देती हैं। नयी अवस्था में मनुष्य अपने चेतन प्रयत्न द्वारा उत्पादन करता है। इसके विपरीत, आदिम मनुष्य आखेट, पशुपालन आदि के जरिये अपनी जरूरतें पूरी करता था। आग के आविष्कार से उत्पादन की इस आदिम प्रणाली में नवीनता का समावेश हुआ। वैदिक युग में यज्ञों का जो विधान था, वह श्रीपाद अमृत डांगे के मतानुसार, साम्य संघ (ब्रह्म) की सामूहिक उत्पादन प्रणाली का रूप था।[2] सामूहिक उत्पादन की आदिम प्रणाली अपेक्षाकृत सरल थी। उसमें श्रम-विभाजन नहीं था। आगे चल कर "उत्पादन, काम और विशिष्ट परिश्रम की अनेकता के कारण आर्यों के साम्य संघ के अन्दर श्रम-विभाजन शुरू हुआ।"[3] आदिम श्रम-विभाजन के गर्भ से निजी सम्पत्ति का उदय हुआ।[4] यह नया समाज दास-प्रथा के रूप में सामने आया। दास-समाज निजी संपत्ति पर आधारित वर्ग-समाज के अस्तित्व का पहला संगठन है।

मनुष्य ने यायावर जीवन के स्थान पर भूमि से बँध कर रहना शुरू किया। फलतः मनुष्य के जीवन का आधार बदल गया। मनुष्य की चेतना अनुभवों को संचित करती है। जब ये अनुभव विपुल मात्रा में संचित हो जाते हैं, तब गुणात्मक दृष्टि से नयी चीजें उभरती हैं। जमीन में गिरने से अन्न पौधा बन कर उग आता

---

१. 'उद्धृत, 'ऐतिहासिक भौतिकवाद', (अनु० अली अशरफ), पृ० २८९।

२. 'भारत : आदिम साम्यवाद से दासप्रथा तक का इतिहास', पृ० ४६।

३. 'उपर्युक्त, पृ० ११२-१३।

४. 'उपर्युक्त, पृ० ११७।

है। यह अनुभव संचित होकर कृषि के विकास का कारण बना। कृषि ने मनुष्य को अपनी कर्मशक्ति का बोध कराया। श्रम के द्वारा कृषि की जा सकती है, मनुष्य खुद फसल पैदा कर सकता है, इस भाव ने वस्तु और आत्म का अन्तर उजागर कर दिया।

यह बाह्यजगत् और अन्तर्जगत् के विवेक का ही परिणाम है कि धर्मग्रन्थों में प्रयुक्त 'जड-चेतन', 'दृश्य-द्रष्टा', 'प्रमेय-प्रमाता', 'चर-अचर', 'जड-जंगम' आदि शब्द-युग्म अपने भीतर निश्चित दार्शनिक भावभूमियाँ समाहित किये हुए हैं। अन्धविश्वास की चेतना में जहाँ वस्तुओं में निहित व्यवस्था-बोध का सम्बन्ध स्वयं उन वस्तुओं से माना जाता था, वही धर्म के युग में उसे लोकोत्तर विधान के रूप में देखने की शुरुआत हुई। समस्त प्रक्रियाओं के केन्द्र में एक नयी सत्ता की कल्पना की गयी। वह सत्ता ईश्वर की है। ईश्वर की कल्पना मनुष्य की प्रतिभा के आधार पर की गयी। मैक्सिम गोर्की ने ईश्वर की कल्पना के सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं : (१) अगर सिंह, चूहे, मच्छर आदि में भी कल्पनाशक्ति होती तो वे भी ईश्वर की कल्पना अपनी-अपनी प्रतिभा के आधार पर करते; और (२) ईश्वर की कल्पना 'जीवन की नीरसता और दरिद्रता मिटाने तथा जीवन को अधिक समृद्ध, सुविधाजनक, अधिक न्यायसंगत और सुन्दर बनाने की मनुष्य की अस्पष्ट प्रेरणा' का परिणाम है। इसीलिए "लोगों ने ईश्वर को रोजमर्रा के नीरस जीवन से बहुत ऊँचा आसन दिया है।"[1] इस प्रकार यहाँ बाह्यजगत् और अन्तर्जगत् के बीच अन्योन्यता का नया धरातल सामने आया। अन्धविश्वास युग में मनुष्य का अन्तर्जगत्-वस्तुजगत् को अर्थवत्ता प्रदान करता था। धर्म के युग में बाह्यजगत् और अन्तर्जगत् एक-दूसरे को अर्थवान् बनाते हैं।

श्रम ने मनुष्य की चेतना में गुण-परिवर्तन ला दिया। सही मायने में देखा जाय तो परिभाषित रूप में कला-बोध धर्म की चेतना में ही सामने आता है। इस प्रसंग में बर्नार्ड बोसांके की यह मान्यता सही प्रतीत होती है कि कलात्मक चेतना अविकसित अथवा आरम्भिक अवस्था में सौन्दर्यात्मक मूल्यों को अपेक्षाकृत कम ग्रहण कर पाती है। कलात्मक सौन्दर्य के प्रति मनुष्य की सजगता और संवेदनशीलता उत्तरोत्तर बढ़ जाती है।[2] सौन्दर्यानुभूति की सजगता में वृद्धि मनुष्य की सजग भूमिका में आम वृद्धि का परिणाम है। मनुष्य की सजगता का यह विकास उसकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई बौद्धिक क्षमताओं की सूचना देता है।

मनुष्य की चेतना उच्चतर धरातल पर पहुँचती है तो चेतना का कार्य भी

---

१. 'ऑन लिटरेचर' पृ० ३१।

२. 'ए हिस्ट्री ऑफ़ इस्थेटिक्स', पृ० १०-११।

जटिल हो जाता है। धार्मिक कर्मकांडो और धार्मिक साहित्य के अध्ययन से यह बात सिद्ध हो जाती है। जटिलता का यह अर्थ नही है कि मनुष्य का चिन्तन उपयोगपरक आधार से च्युत हो जाता है। जो बात भौतिक जीवन से सम्बन्धित है, मनुष्य उसी के प्रति संवेदनशील होता है। कृषि-समाज मे उपयोग-पक्ष की भूमिका का हवाला देते हुए रेमंड फर्थ ने लिखा है।—"...कृषि-मूलक समाज व्यवस्था मे वर्षा की भूमिका बेहद महत्त्वपूर्ण होती है। इसलिए जल-वृष्टि के लिए तरह-तरह के उत्सव मनाये जाते हैं।"[1]

यह मनुष्य की विशिष्ट चेतना का ही नतीजा है कि वह अपने जीवन के उपयोग पक्ष से सम्बन्ध रखने वाली चीजों के प्रति न केवल सौन्दर्यात्मक, बल्कि धार्मिक दृष्टि भी अपनाता है। सामन्तवाद से पूर्व मनुष्य दास-समाज की त्रासद स्थितियाँ झेल चुका था। दोनो ही अवस्थाओं में मनुष्य का श्रम नीरसता का पर्याय था और दैनन्दिन जीवन दरिद्रतर था। दासों के प्रति सम्भ्रान्त शासक वर्ग का क्या मूल्य-बोध था, इसका अनुमान ऋग्वेद के वालखिल्य सूक्तों मे आये पृषघ्र ऋषि की इस उक्ति से लगाया जा सकता है—

"शतं मे गर्दभाना शतमुपवितीनां। शत दासा. अतिसृजः।"[2]

दासों को गधो और भेडों के समान समझा जाता था। इसलिए मनुष्य ने अपने जिस मनुष्य रूप-धारी ईश्वर की कल्पना की, उसे मैक्सिम गोर्की के अनुसार, "सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वोत्पादक बना दिया; दूसरे शब्दो मे, उसने अपनी सर्वोच्च आकांक्षाएँ उसमे मूर्तिमान कर दी।"[3]

संक्षेप मे, धर्म का विधान या समस्त मानवीय मूल्यों के सर्वोत्तम प्रतीक-ईश्वर-की कल्पना उस जीवन मे आस्था दृढ करने का जरिया बन गये। जेम्स एल० जैरेट भी सौन्दर्य और धर्म की उपर्युक्त धारणा के समर्थक हैं। "सौन्दर्यानुभूति और धार्मिक अनुभूति न तो तद्वत् हैं, न सजातीय। किन्तु सर्वोत्कृष्ट रूप मे वे एकरूप होती हैं, और तब दोनो जीवन मे आस्था दृढ करती हैं।"[4]

यह गौर करने की बात है कि मनुष्य की सचेतन साझेदारी में बढोतरी के कारण उसमे समाज और प्रकृति की अन्धशक्तियों से मुक्ति की छटपटाहट व्यक्त होती है। इसी कोशिश मे वह ईश्वरीय अवतारो की कल्पना करता है और उनके

१. 'ह्यूमन टाइप्स', पृ० ४०।
२. 'ऋग्वेद', ८/८/३।
३. 'आन लिटरेचर', पृ० ३१।
४. 'दि क्वेस्ट फॉर ब्यूटी', पृ० २८६।

द्वारा दु:ख-दारिद्र्य का नाश कराता है। उसके ये काल्पनिक कार्यकलाप प्रकृति के सामने उसकी विकराल सीमाओं को भी उद्घाटित कर देते हैं। प्रो० व० केल्ले और म० कोवालजोन इसी तथ्य को व्यक्त करते हुए कहते हैं—"धर्म की उत्पत्ति उस समय हुई, जब मानव का अपने श्रम द्वारा प्रकृति से विलगाव हो चुका था, मगर उस समय तक वह सर्वथा प्राकृतिक शक्तियों के अधीन था।"[१] इसलिए जब रेमण्ड फर्थ अन्धविश्वास और धर्म को अलग-अलग मानते हुए भी यह कहते हैं कि "उनमें साफ-साफ विभाजन नहीं किया जा सकता।"[२] तो वस्तुत: वे इसी तथ्य को रेखांकित करते हैं। फर्क यह है कि अन्धविश्वास-युग की चेतना "प्रकृति के विरुद्ध लड़ाई में जंगली मनुष्य की बेबसी का प्रतिबिम्ब है।"[३] तथा धर्म के युग की चेतना प्रकृति पर मनुष्य की अधिकार-वृत्ति और मानवीय हस्तक्षेप की नयी अभिलाषा की अभिव्यक्ति है।

जिस अनुपात में मनुष्य की सचेतन सहभागिता बढ़ती है, उसी अनुपात में वह प्रकृति की अन्ध-शक्तियों से मुक्त होता है। बदले में, अन्ध-शक्तियों से उसकी यह मुक्ति उसकी सचेतन भागीदारी और उसके दायित्व-बोध को विकसित करने में मदद देती है। इसके फलस्वरूप मनुष्य की वैचारिक संलग्नता में वृद्धि होती है। मनुष्य की यह सजग भूमिका जैविक, सामाजिक और व्यक्तिगत विकास के तीनों धरातलों पर बढ़ती है। हमारी सजग भूमिका हमारी सौन्दर्य-सृष्टि को अधिकाधिक अनुशासित करती है।

मनुष्य की चेतना तथा उसकी सजग और सक्रिय भागीदारी के निर्धारण में उसकी जीवन-विधि और उसके श्रम के स्तर की भूमिका अक्षुण्ण होती है। भारतीय कला और कला-दर्शन कई मायनों में अधिक उन्नत है। इस उन्नति का सम्बन्ध यहाँ के निवासियों की जीवन-विधि में आने वाली उन महत्त्वपूर्ण निर्णायक स्थितियों से है, जिनसे दूसरी जगहों पर रहने वाले मनुष्य के पूर्वज वंचित रहे। इसमें सबसे मुख्य है पशुपालन। भारत में पशुपालन वन्य दशा में ही आरम्भ हो गया है। संस्कृति के विकास में इसका प्रभाव इस रूप में झलकता है कि "पशु पालने और उसके द्वारा संस्कृति का विकास करने का मूल प्रदेश एशिया" बना।[४]

---

१. 'ऐतिहासिक भौतिकवाद', पृ० २८८।
२. 'ह्यूमन टाइम्स', पृ० १३२।
३. 'ऐतिहासिक भौतिकवाद', पृ० २६०।
४. 'भारत : आदिम साम्यवाद से दासप्रथा तक का इतिहास', पृ० १०६।

एशिया की विशिष्ट स्थितियों में मनुष्य ने जो उपलब्धियाँ हासिल की, उन्हीं के परिणामस्वरूप प्रकृति के प्रति भारतीय मानस का सौन्दर्य-बोध अपेक्षाकृत अधिक विकसित हुआ। यूनानी काव्य से तुलना करते हुए श्री एस० एन० दास गुप्त ने यह दिखाया है कि "भारतीय काव्य जहाँ प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य में अधिक रमता है और (उसमें) मनुष्य प्रकृति का अंग बन कर आता है वहीं ग्रीक काव्य में प्रकृति मनुष्य की तुलना में हीन मानी गयी है और कभी-कभी तो उसकी उपेक्षा भी की गयी है।"[1] कालिदास आदि कवि-कुल-गुरुओं की रचनाओं में तो प्रकृति के बिना मनुष्य की सम्पूर्णता खण्डित मानी गयी है। मनुष्य तभी पूर्ण होता है, जब वह व्यक्ति की हैसियत से नहीं, वरन् अपने समूचे परिवेशगत सन्दर्भ के साथ—समग्रता में—उपस्थित होता है।

भारतीय साहित्य के सौन्दर्य-मूल्यों के इस स्वरूप का अध्ययन मनुष्य पर प्रकृति के केवल आतंक के प्रतिबिम्ब के रूप में ही नहीं करना चाहिए। उसे प्रकृति और समाज के बीच निरन्तर चलने वाले बहुमुखी टकरावों से विकसित मानवीय सौन्दर्य-चेतना का प्रतिबिम्ब मानना चाहिए। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि आतंक पैदा करने वाली शक्तियों को मनुष्य सुन्दर नहीं मानता। भारतीय साहित्य में प्रकृति को मानव-जीवन के अनुकूल सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हुए उसे मनुष्य को पूर्ण बनाने वाली सत्ता के रूप में देखा गया है, दुष्ट सौतेली माँ के रूप में नहीं। दूसरा यह कि मनुष्य की चेतना विकास-प्रक्रिया का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब मात्र नहीं होती, वह मनुष्य के भौतिक विकास को प्रभावित करने में सक्रिय भूमिका भी अदा करती है। ब्लादीमिर इल्योच लेनिन के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "···चिन्तन और पदार्थ दोनों ही 'वास्तविक' हैं, अर्थात् दोनों का अस्तित्व है।"[2] दोनों 'वास्तविक' यानी अस्तित्ववान् हैं, इसलिए दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। पदार्थ ही चेतना के उद्भव का कारण है, यह सही है। किन्तु, चेतना पदार्थ जगत् के अधीन है, यह सही नहीं। चेतना स्वयं एक सक्रिय घटना है। वह पदार्थ-जगत् से आविर्भूत होती है और पदार्थ-जगत् को सार्थक बनाती है···उसे जानती, समझती है और मनुष्य के अनुरूप उसका रूपान्तरण करती है। चेतना पदार्थ-जगत् का परिणाम है इसलिए सामाजिक जीवन-चेतना को निर्धारित करता है। इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए कार्ल मार्क्स कहते हैं—"भौतिक जीवन की उत्पादन-पद्धति सामाजिक, राजनीतिक

---

१. 'फण्डामेण्टल्स ऑफ इंडियन आर्ट', पृ० २०।

२. उद्धृत : 'फण्डामेण्टल्स ऑफ मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट फिलॉसफी', पृ० १०६।

और बौद्धिक जीवन की आम प्रक्रिया को प्रभावित करती है। यह मनुष्य की चेतना नहीं होती जो उनके भौतिक अस्तित्व को निर्धारित करती है, बरन् यह उनका सामाजिक अस्तित्व होता है जो उनकी चेतना को निर्धारित करता है।"[१]

अगर ऐसा न होता और चेतना सर्वोपरि और स्वयंभू होती तो उसमें मनुष्य की भौतिक और सामाजिक स्थितियाँ प्रतिबिम्बित न होतीं। लेकिन यह जगजाहिर है कि मनुष्य हिताहित-विवेक से परिचालित होता है। कृषि के अस्तित्व में आने के बाद दास मुख्य श्रम-शक्ति बन गये। लेकिन जब तक कृषि का अस्तित्व नहीं था, दासों को मार डाला जाता था।[२]

यही नहीं, चतुर्वर्ण की अवधारणा कृषि के जन्म के बाद सामने आयी। इससे पहले, शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति त्रयी के रूप में चीजों को जन्म देते हैं। इनमें तीसरी त्रयी "ब्रह्म, क्षेत्र और विश"'अथवा तीन वर्णों की त्रयी थी।"[३] आगे चल कर कृषि उत्पादन में श्रम-शक्ति के रूप में दासों का उपयोग आरम्भ हुआ। श्रम को शोषण-मूलक समाज में निकृष्ट माना जाता है। यह कोई संयोग की बात नहीं है कि ऋग्वेद में शूद्रों को ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न बता कर और "श्रमद्भगवद्गीता" में 'पापयोनयः'[४] कह कर उनकी निकृष्टता साबित की गयी है।[५]

अतः स्पष्ट है कि चेतना भौतिक और सामाजिक जीवन से जुड़ कर ही सक्रिय होती है। वर्ग-समाज में सांस्कृतिक क्षेत्र में शासक वर्गों का आधिपत्य होता है, तथा श्रमजीवी वर्ग की स्थिति दयनीय होती है। श्रमजीवी समाज के सबसे निचले अंग होते हैं। शासक वर्ग उनके साथ जानवरों जैसा सलूक करता है। आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक तिरस्कार का आपस में बहुत गहरा सम्बन्ध है। धर्म का विकास वर्ग-विभक्त समाज की चेतना से होता है, इसलिए उसकी भूमिका पूर्णतः वर्गेतर नहीं होती। मध्य युग की चेतना का सामान्य रूप धर्म है। इसलिए वह सांस्कृतिक और सौन्दर्यात्मक क्रियाओं को बहुत सबल रूप में प्रभावित करता है। कला और धर्म दोनों का सम्बन्ध अधिरचना से है (क्योंकि वे बौद्धिक क्रियाएँ हैं), इसलिए दोनों ही वर्ग-विभक्त समाज में निश्चित वर्गों के हितों से जुड़ जाते हैं।

---

१. 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान', प्रस्तावना, पृ० २-३।
२. देखिए, 'ऋग्वेद', ६/२६/६, २/२०/६, ८/१७/८ आदि।
३. 'भारत:...' (डांगे), पृ० ११४।
४. 'ऋग्वेद', १०/६०/१२।
५. 'श्रीमद्भगवद्गीता' ६/३२।

वर्ग-विभक्त समाज में संस्कृति के वर्गीय स्वरूप की व्याख्या करते समय उत्साहवश कुछ मार्क्सवादी मध्य युग की समूची संस्कृति को प्रतिक्रियावादी मान बैठते है।[1] ऐसे लोगों को मध्ययुगीन शोषित जनता की चेतना का स्वरूप स्पष्ट नही होता। वे भाषा को "भारतीय जनता की महान् रचना"[2] कह कर भी वैदिक और संस्कृत भाषाओ को "शोषक वर्गों की कृति" बता सकते हैं।[3] मध्ययुगीन समाज में प्रगतिशीलता की खोज करते हुए उन्हें श्रमजीवी जनता द्वारा गढे गये थोड़े-से गीत[4] और "शिकार की तकनीक के अंगन्यासो"[5] से पैदा हुए थोडे-से नृत्य मिलते हैं।

सत्य के ऐसे एकांगी दर्शन का एक ज्वलन्त उदाहरण आर० पी० सर्राफ द्वारा व्याख्यायित "मार्क्सवाद" है। यह ठीक है कि पतनशील शोषक वर्ग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे भ्रष्टता, कामुकता और व्यभिचार फैलाता है। किन्तु वह मात्र यही करता है, यह समझ ठीक नही है। श्री सर्राफ की व्याख्या के अनुसार आदिम सामुदायिक अवस्था ("शिकार की तकनीक के अंगन्यासों") को छोड़ कर समाज मे कभी कोई श्रेष्ठ मूल्य नही विकसित हुए, वर्ग समाजो की भूमिका केवल भ्रष्टीकरण की भूमिका है।

इस समझदारी के अनुसार वर्ग समाजो मे जनता केवल उत्पादक श्रमशक्ति (बैल और घोड़ा) होती है। इस भौतिक आधार पर सांस्कृतिक अधिरचना का निर्माण करता है शोषक वर्ग। धर्म, परपरा, जाति-व्यवस्था आदि इन्ही सांस्कृतिक प्रयत्नो का परिणाम हैं। अधिरचना और संस्कृति के क्षेत्र मे जनता की कोई सक्रिय भूमिका नही होती, वह केवल निष्क्रिय ग्रहीता होती है। इसलिए 'शिकार की तकनीक के अगन्यासो' से लोगो ने लोक-नृत्य विकसित किये तो सामन्तो ने उसे 'व्यभिचार और कामुकता का माध्यम बना कर भ्रष्ट कर दिया।"[6] जनता कुछ न कर सकी, चुपचाप देखती रह गयी। भला भेड, बकरी, गधे, बैल भी संस्कृति की रचना करते हैं।

इस मान्यता से यही निष्कर्ष निकलेगा कि संस्कृति और इतिहास की रचना मुट्ठी भर शोषक वर्ग के द्वारा होती है। यह बात भौतिक आधार और सामाजिक

---

१. 'दि इडियन सोसाइटी' पृ० ३७१।
२. उपर्युक्त, पृ० ४०७।
३. उपर्युक्त, पृ० ४१३।
४. उपर्युक्त, पृ० ४३३।
५. उपर्युक्त, पृ० ४३५।
६. उपर्युक्त, पृ० ४३६।

उत्पादन के क्षेत्र में कुछ कम और सांस्कृतिक विकास के सन्दर्भ मे पूरी तरह लागू होती है। इस प्रकार, ऐतिहासिक विकास (अधिरचना के क्षेत्र मे खासकर) किन्हीं प्रगतिशील शक्तियो द्वारा परिचालित नही होता, वह एकान्ततः गिने-चुने शासकों की इच्छा का परिणाम होता है।

मार्क्सवादी समझदारी ऐसी एकागी नही है। उसके अनुसार, आज के शोषक वर्ग का उदय कल एक क्रातिकारी और प्रगतिशील भूमिका के साथ हुआ था। "उसकी क्रान्तिकारिता और प्रगतिशीलता का सम्बन्ध जनता के हितो से था।" उसकी सामाजिक भूमिका मे निहित यह द्वन्द्वात्मकता उसकी सास्कृतिक भूमिका को, अधिरचना के निर्माण में उसके अवदान को भी स्पष्ट करती है। अतः उसके सांस्कृतिक अवदान की कोई अनन्यवादी व्याख्या मार्क्सवादी नही हो सकती, उसमे उत्साह का अतिरेक और सरलीकरण की धुन चाहे जितनी हो। अस्तु।

विज्ञान ने मानव-चेतना को अन्धविश्वास-युग की चेतना के बिलकुल विपरीत ला खड़ा किया है। मनुष्य सत्य के वस्तुगत स्वरूप को पहचान गया है। इसलिए पदार्थ जगत् पर आत्म का प्रक्षेपण करने के स्थान पर अपनी चेतना के वस्तुगत रहस्यो से भी परिचित होने लगा है। अन्धशक्तियो से मुक्त होने के साथ मनुष्य की सचेतन भूमिका बढ गयी है। वह प्रकृति का प्रतिद्वन्द्वी बन बैठा है। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र मनुष्य की कर्मशक्ति की नियामक भूमिका को मनुष्य का सबसे बड़ा मूल्य मानकर चलने के नाते ही सौन्दर्य-सृजन में मनुष्य को प्रकृति का सफल प्रतिद्वन्द्वी मानता है। रचयिता होने का मानवीय भाव विज्ञान की देन है। यदि मनुष्य रचयिता न होता तो उससे बाहर के सौन्दर्य-जगत् का कोई मूल्य न होता। यह मूल्यवत्ता ही नये सन्दर्भों मे मानवीय कर्तृत्व से जुड कर नये दायित्व-बोध को जन्म देती है।

धर्म के काल में सामाजिक-सास्कृतिक विरोध चरम अवस्था में नहीं होता। इसलिए इस विरोध के प्रति सजग और सक्रिय प्रतिरोध की भी उतनी गुंजाइश नही होती। यही कारण है कि प्राचीन ग्रन्थों का एकांगी मूल्यांकन हमेशा भ्रम पैदा करता है। प्राचीन धर्म और सस्कृति का अध्ययन करते समय हमारे सामने वर्गों के आपसी टकराव और समन्वय की दोहरी भूमिका प्रकट होती है।

शासन-तंत्र पर प्रत्यक्ष आधिपत्य होने के कारण क्षत्रिय समस्त सम्पदा का स्वामी होता था। उसे किसी चीज की कमी नही थी, इसलिए निष्काम कर्म का सन्देश देता था, अगोचर और कल्पनातीत ब्रह्म की बातें करता था। किन्तु ब्राह्मण वैभव के महारणो के बीच दारिद्र्य का द्वीप होता था। वह विद्या-दान करता,

शस्त्रास्त्र-संचालन की दीक्षा देता और सारथी बनता था। उसे जीवन में सुख भी मिलता था, लेकिन यह सुख-भोग उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर न था। जीवन में अनिश्चय की स्थिति बनी रहती थी। इसलिए वह 'धनाद्यदानसूक्त' लिखता था, दान-दाक्षिण्य का गुणगान करता था, पीढ़ियों तक चलने वाले यज्ञों और सत्रों का विधान करता था। उसका ईश्वर भी शरीरी था ; वह अवतार ग्रहण कर खाता-खेलता हुआ लीलाएँ करता था।

अपनी आर्थिक परिस्थितियों की (अस्पष्ट) प्रेरणा से मनुष्य निष्कर्ष निकालता था, किन्तु उसके सभी निष्कर्षों का एकमात्र कारण उसकी सामाजिक या आर्थिक परिस्थितियाँ नहीं होती थीं। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्'[1] केवल शोषक वर्ग का मंत्र न था। इसमें प्रकृति के आतंक का प्रतिबिम्ब भी मौजूद है। कर्म करना मनुष्य का काम है। फल उसके वश में नहीं है। व्यक्तिगत कर्म का संबंध, व्यक्ति की कर्म-चेतना से है, किन्तु उस कर्म के फल की प्राप्ति व्यक्ति से पृथक् शक्ति पर निर्भर है, इसे चाहे ईश्वर कह लें, प्रकृति कह लें या समाज कह लें। विज्ञान जिसे जान-पहचान कर प्रकृति और समाज (वस्तुगत संसार) कहता है, धर्म उसे नहीं जानता और उस पर रहस्य का पर्दा डाल कर उसे ईश्वर कहता है। यह अनभिज्ञता, प्रकृति के आगे मनुष्य की यह सर्वाङ्गीण परवशता ही धर्म की चेतना के गहन अन्तर्विरोध का मुख्य कारण है।

धर्म की चेतना के अन्तर्विरोध का दूसरा कारण है समाज और श्रम का पिछड़ापन। अन्याय और उत्पीड़न का आधार सामाजिक था किन्तु उसका जीवन में अन्त सम्भव नहीं था। परस्परविरोधी हितों के परस्पर बहिष्कारी चरित्र को न समझ कर मनुष्य उनमें समन्वय करना चाहता था। इस प्रकार, जीवनानुभव और दार्शनिक समाधान में अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गया। समन्वयवाद के प्रयत्नों से एक तरफ जहाँ धर्म की समग्र चेतना अन्तर्विरोधों से ग्रस्त हुई, वहाँ दूसरी ओर वर्गीय भूमि पर खड़े होकर समस्त मानवता की चिन्ताओं से जूझने के नाते उसमें वर्गों का अतिक्रमण करने की क्षमता भी आ गयी। इसलिए धर्म के युग को वर्ग-विशेष का एकाधिकार मानना मार्क्सवाद के सरलीकरण का ही परिणाम है।

गीता का विश्लेषण करते हुए श्री डी. डी. कोसम्बी ने लिखा है कि गीता के माध्यम से "हमारे सामने विचारधाराओं का अद्‌भुत सिंहावलोकन-सश्लेषण प्रस्तुत होता है जो कई बातों में परस्परविरोधी थी।...प्रत्येक मत या सम्प्रदाय में जो

---

१. 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता', २/४७।

सर्वोत्तम है उसे इस प्रकार से लिया गया है मानो वह परम प्रभु से प्राप्त हो।"[१] थोड़े-बहुत शब्दान्तर से यह बात सभी मध्ययुगीन कृतियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

इस द्वन्द्वात्मक भावभूमि पर चिन्तन न करने से अन्धवृत्तियाँ पैदा होती हैं। श्रद्धावादी या निषेधवादी अतिवाद इसी अंधवृत्ति का परिणाम होने के नाते एक किस्म का भाववाद है। श्री सर्राफ की तरह निषेधवादी दृष्टि से प्रेरित होकर सोवियत संघ मे प्रो० नृसिनोव, क्रेपचेको लेविन आदि विद्वानो ने गोगोल की विश्वविख्यात कृति 'मृतात्माएँ' (Dead Souls) को "भू-दासो के शोषण को मूलबद्ध करने का प्रयास" घोषित किया था। इनके मत का खंडन करते हुए प्रो० मिखाइल लिफशित्ज ने लिखा था : "इस सन्दर्भ मे प्रत्येक पाठक को यह कहने का अधिकार है : यदि साहित्य के इतिहास के बारे मे भौतिकवाद का आपका व्यवहार सही है, तो सम्पत्तिशाली वर्गों के पतन के साथ-साथ कलात्मक साहित्य का सौन्दर्य-मूल्य भी नष्ट हो जाना चाहिए।"[२]

किन्तु हम जानते हैं कि व्यवहार मे ऐसा नही होता। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि समाज और चेतना की एक अवस्था का अकस्मात् किसी निश्चित तिथि पर पतन और नये रूप का उदय नही हो जाता। परिवर्तन एक प्रक्रिया है। नये तकाजो मे उत्पन्न और विकसित होने वाले नये मूल्य बहुत समय तक पुराने तत्त्वो के साथ-साथ चलते रहते है। जन-चेतना मे समाविष्ट होकर दोनो तत्त्व घुले-मिले होते हैं, उनमे दो-टूक विभाजन नही हो पाता। इसलिए अधिरचना के क्षेत्र मे परिवर्तन की गति और भी धीमी होती है।

दूसरा यह कि अपने उदय-काल मे प्रत्येक शासक वर्ग निश्चित हद तक प्रगतिशील भूमिका निभाता है। सामन्तवाद की प्रगतिशील भूमिका यह थी कि उसने असख्य लोगो को दासता से मुक्ति दिलायी। उदीयमान शासक वर्ग की भूमिका केवल तभी प्रगतिशील हो सकती है जब उसके हित जनता के हितो से मेल खाते हों। ऐसे समय मे शासक वर्ग जिन मूल्यो का विकास करता है, वे मानव-चेतना के नित्य और नैसर्गिक अग बन जाते हैं।

शासन-सत्ता पर आधिपत्य कायम कर लेने के बाद शासक वर्ग की प्रगतिशील भूमिका का ह्रास होने लगता है। जैसे-जैसे शासक वर्ग सत्ता पर अपना कब्जा जमाता जाता है, जनता के हितों से उसका विरोध प्रकट और उग्र होने लगता है।

---

१. 'मिथक और यथार्थ', (अनु०-नन्दकिशोर नवल), पृ० १६।
२. 'लिटरेचर एण्ड मार्क्सिज्म', (सं० ऐन्जेल फ्लोर्स), पृ० ८०।

उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का द्वन्द्व निरन्तर विकासमान प्रक्रिया को नये-नये धरातलों पर पहुँचाता है। मानव-श्रम और श्रम के औजार संचित होते-होते जब नये रूपों में प्रकट होते है, तब समाज नये रूप में गठित होता है और चेतना नये रूप मे प्रकट होती है। नयी चेतना के लिए भौतिक आधार निर्मित हो जाने पर और इस आधार पर अधिरचना के नये रूप का निर्माण हो जाने पर पुरानी चेतना की ऐतिहासिक भूमिका समाप्त हो जाती है। विज्ञान की चेतना ने जहाँ जीवन-जगत् के सभी प्रश्नों का सुसंगत समाधान प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया है, वहीं उसने यह भी प्रकट कर दिया है कि धर्म की प्रगतिशील सम्भावनाएँ आज समाप्त हो गयी हैं। विज्ञान वर्तमान युग की सामाजिक चेतना का रूप है। लेकिन धर्म और भाग्यवाद आज भी लोगों की चेतना पर हावी हैं। भाग्यवाद एक ओर सामर्थ्यहीन विवशता का परिणाम है तो दूसरी ओर मनुष्य की कर्मशक्ति को पगु बनाने का अस्त्र भी है। अपने विश्वप्रसिद्ध लेख 'समाजवाद और धर्म' मे लेनिन ने लिखा है: "शोषकों के खिलाफ अपने संघर्ष में, अपनी शक्तिहीनता के कारण, शोषित वर्ग स्वर्ग में सुख भोगने के स्वप्न मे विश्वास करने लगते हैं; ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकृति के विरुद्ध अपने संघर्ष मे आदिम मनुष्य की शक्तिहीनता द्वारा देवी-देवताओं, शैतानों, जादू-टोने आदि का विश्वास उत्पन्न हुआ।"[१]

इस प्रकार, विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि धर्म मनुष्य की शक्ति को नही, सीमा को व्यक्त करता है। अवनर जिस के शब्दों मे, "...धर्म एक ऐसी स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है जिसमे प्रकृति और समाज की शक्तियाँ मनुष्य पर हावी हैं ..।"[२]

आज जब विज्ञान ने हमारे ऐतिहासिक परिस्थिति-ज्ञान से उत्पन्न दायित्व, दिशा-बोध, प्रतिश्रुति, चैतन्य विचारधारा आदि को हमारे समस्त (भौतिक और आत्मिक) कार्यकलाप का नियामक बना दिया है, मानवीय असमर्थता को व्यक्त करने वाला धर्म अपनी सामाजिक भूमिका खो चुका है। आज के समाज मे धर्म का पुनरुत्थान वही तत्त्व चाहते हैं जो या तो सामाजिक विकास की सारभूत गति को नही समझते, और समझते हैं तो जाने-अनजाने उसे अवरुद्ध करना चाहते हैं।

इसीलिए लेनिन ने धर्म को वर्तमान समय में ऐसे लोगों का हथियार बताया

---

१. 'समाजवादी विचारधारा और संस्कृति', पृ० ६४।

२. 'मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट डायलेक्टिक्स एण्ड लाइफ', पृ० ६३।

है, "जो दूसरो की कमाई पर बसर करते हैं"। धर्म को मनुष्य का "व्यक्तिगत प्रश्न" घोषित कर देने की माँग करते हुए उन्होने कहा कि वह "शोषकों को अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने के लिए बहुत सस्ता उपाय बताता है,...जनता के लिए धर्म अफीम है। धर्म एक प्रकार की रूहानी शराब है, जिसके नशे मे पूंजी के गुलाम अपनी इन्सानी हैसियत और इन्सान के योग्य जिन्दगी बसर करने की अपनी ख्वाहिश तक डुबा देते हैं।"[1]

लेनिन द्वारा की गयी धर्म-सम्बन्धी इस आलोचना मे अन्याय और अन्याय को चुपचाप सहते जाने वाली भाग्यवादी चेतना के प्रति जो तीव्र विक्षोभ का । है, वह मनुष्य को सक्रिय कर्त्ता बना कर अन्याय और उत्पीड़न का नाश करने प्रेरणा लिये है। मनुष्य की यह प्रेरणा विज्ञान की देन है जिसने उसे अपने विचे और अपने विचार के अनुसार अपने परिवेश की पुनर्रचना का सामर्थ्य प्रदान किय है। विज्ञान मनुष्य की भौतिक और आत्मिक सम्भावनाओ के नये क्षितिज उद्घाटित करता है।

दूसरे शब्दों में, बौद्धिकता की बढती हुई युगीन भूमिका वैज्ञानिक चेतना की देन है। विज्ञान का यह युग प्रकृति और समाज की शक्तियो पर मनुष्य की विजय से आरम्भ होता है।

सत्य के प्रति मनुष्य की जिज्ञासा उसके बौद्धिक विकास का सर्वप्रमुख कारण है। मनुष्य का वैचारिक चिन्तन उसके सुलभ तथ्यो पर आधारित होता है। मध्य युग मे वर्तमान निगमनमूलक विज्ञान नही था। इसलिए मनुष्य सत्य के वस्तुनिष्ठ स्वरूप को पहचान नहीं सका था। कल तक वह जिन नक्षत्रो को अपने जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालने वाली चीजो के रूप में देखता था, आज वह उनके रहस्य जान कर उनके मानवीय उपयोग के लिए प्रयत्नशील है।

विज्ञान ने ज्ञान के सभी क्षेत्रो मे मनुष्य के सामने असंख्य तथ्य उजागर कर दिये हैं। प्राकृतिक प्रक्रियाओं से सम्बन्धित तथ्यों की जानकारी ने मनुष्य को सत्य के वस्तुगत स्वरूप का ज्ञान कराया। प्रकृति (पृथ्वी और सौर-मंडल ही नही, हजारो सौर-मंडलो वाली दस हजार से अधिक आकाशगंगाओ) के, विशाल प्रांगण मे मनुष्य से स्वतंत्र वस्तुजगत् के नियम, गुण-धर्म और सम्बन्ध भी मनुष्य से स्वतन्त्र होते हैं। ये गुण-धर्म और सम्बन्ध मानव-मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होते हैं। मनुष्य अपने श्रम से आज उस

1. 'समाजवादी विचारधारा और संस्कृति', पृ० ६५।

धरातल पर पहुँच गया है जहाँ वह अपने मे स्वतंत्र इस विराट् वस्तुजगत् को सार्थकता प्रदान करता है। अतएव, वस्तुजगत् की प्रक्रियाएँ मानव-संज्ञान में प्रतिबिम्बित हुए बिना मूल्यवत्ता धारण नहीं कर सकतीं।

दूसरी तरफ, मनुष्य की रचनात्मक शक्तियो को विज्ञान नये दायित्व-बोध से युक्त करता है और सक्रिय कर्त्ता की उसकी भूमिका को नया धरातल प्रदान करता है। विज्ञान मनुष्य को निष्क्रिय ग्रहीता नही मानता। मनुष्य की सक्रिय भूमिका प्रकृति मे उसके हस्तक्षेप द्वारा ही नही, भाषा, संस्कृति, सौन्दर्य-बोध और इन सबके आधार—समाज—की रचना द्वारा भी प्रमाणित होती है।

मनुष्य की सजग भूमिका मे वृद्धि उसकी भौतिक सीमाओं को तोड़ कर बौद्धिक विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। मनुष्य का ज्ञान अन्धशक्तियों से मुक्त होकर उसकी सृजनात्मक भूमिका को और भी प्रबल अभिव्यक्ति देता है। इस प्रकार विज्ञान मनुष्य को केन्द्र मे स्थापित कर देता है तथा उसे समूची प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ उत्पत्ति और सभ्यता, संस्कृति, सौन्दर्य-बोध आदि मानव-समाज से सम्बद्ध विशिष्ट मूल्यों का उत्पादक बताता है। इस मूलभूत स्थिति को उजागर करते हुए विज्ञान हमें यह बोध कराता है कि "मनुष्य का सत्य पर कोई वश नही है। वह अपने आसपास की दुनिया बदल सकता है। वह अपने जीवन की स्थितियाँ बदल सकता है। किन्तु सत्य को वह उस रूप मे नही बदल सकता जिस रूप में उसे वह उपयुक्त समझता है...।"[1]

अपने स्वतंत्र पदार्थ जगत् को वह बदल भले न सकता हो, किन्तु उसका रूपान्तरण अवश्य कर सकता है। समाज और सभ्यता की विभिन्न अवस्थाओ मे इस रूपान्तरण के सारतत्त्व और उसमें निहित अन्तर्वस्तु, दोनो मे भिन्नता होती है। साथ ही, "मनुष्य की चेतना केवल भौतिक जगत् को प्रतिबिम्बित ही नहीं करती, वरन् उसका सृजन भी करती है।'[2] अर्थात् ठोस भौतिक स्थितियों के अलावा मनुष्य की आम चेतना भी मनुष्य के विकास को प्रेरित एवं निर्धारित करती है।

इस प्रकार, सम्पूर्ण मनुष्य को सृष्टि का केन्द्रीय घटक बना कर विज्ञान का युग जिस नये मानववाद की प्रतिष्ठा करता है, वह वस्तुगत ठोस और वस्तुपरक परिप्रेक्ष्य में मनुष्य के आकलन का नतीजा है। वैज्ञानिक मानववाद अपने सम्पूर्ण में मनुष्य की सर्मग्यता को मनुष्य के सबसे महान मूल्य के तौर अभिव्यक्त करता

१. 'फण्डामेण्टल्स ऑफ मार्क्सिज्म-लेनिनिज्म,' पृ० ८६।

२. 'कलेक्टेड वर्क्स' खंड-३८, पृ० २१२।

है। मनुष्य जिस सौन्दर्य की सृष्टि करता है, वह उसकी इसी सजग भूमिका का परिणाम है। मनुष्य की यह सजगता ही उसे बाह्य-जगत् की शक्तियों पर हावी बनाती है। अन्धविश्वास के काल मे वस्तुजगत् के बिम्ब मनुष्य पर हावी होते थे। इसके बिल्कुल उल्टे, विज्ञान के युग मे, मनुष्य अपने अन्तर्जगत् में प्रतिबिम्बित होने वाले वस्तुजगत् के बिम्बो पर शासन करता है।

साहित्य मे मनुष्य की सक्रिय कर्ता (Active Agent) की यह भूमिका बिम्ब ग्रहण की प्रक्रिया को तो जटिल बनाती ही है, बिम्बो मे मुक्त साहचर्य, प्रतीकवत्ता आदि के अधिक सजग अन्यथाकरण (डिस्टार्शन) को भी सम्भव और अनिवार्य बनाती है। वस्तुजगत का महत्त्व निर्णायक है, और किन्तु सौन्दर्य-सृष्टि में वस्तुजगत् के बिम्बो को मनुष्य अपने अनुरूप बरतता है। इससे कलात्मक सौन्दर्य के क्षेत्र में प्रत्ययों का व्यापक पैमाने पर प्रवेश होता है। यही कारण है कि विज्ञान के काल में कला जिन अनेक दृष्टियों और विचार-बिन्दुओं से अधिक समृद्ध होती है, उनमे विचारधारा, सामाजिक प्रतिबद्धता और सजग कर्मण्यता का स्थान सर्वोपरि है।

अपनी सामान्य सजग भूमिका मे वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य अपनी श्रम-शक्ति का अधिक सार्थक उपयोग करता है। बाह्य जगत् मानवीय आवश्यकताओं की तुष्टि का साधन है। मूल्यवत्ता बाह्य जगत् की वस्तुओं से (मानवीय) विचारों के सम्बन्ध में प्रतिफलित होती है। मूल्यवत्ता का केन्द्र मनुष्य है, इसलिए "मूल्यो की प्रकृति की समस्या का समाधान इतिहास और खुद अपने निर्माता के बतौर मनुष्य की समझदारी पर, अपनी सकर्मक अन्तर्वस्तु मे उसके विश्वास पर निर्भर है।"[१]

मनुष्य की यह द्वन्द्वात्मक भूमिका—निर्माता की सकर्मक अन्तर्वस्तु और इससे उत्पन्न समझ की द्वन्द्वात्मकता—समग्र रूप में मानवीय कार्यकलाप का निर्धारण करती है। अर्थात् मनुष्य का चिन्तन व्यवहार से उत्पन्न और व्यवहार का नियामक है। ज्ञान और व्यवहार में द्वन्द्वात्मक एकता है। मनुष्य की सजग भूमिका और सकर्मक अन्तःप्रकृति का ज्ञानात्मक स्वरूप तीन धरातलों पर प्रकट होता है :

१. वस्तु का ठोस, अखण्ड ज्ञान ;
२. उसे व्यवहार में, भौतिक रूप मे, हासिल करने की इच्छा ; तथा
३. कर्म का उद्देश्य और सुनिश्चित कार्यक्रम, अर्थात्, 'वस्तु' के रूपान्तरण से सम्बद्ध 'आत्म' की योजना।[२]

---

१. 'फण्डामेण्टल्स ऑफ मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट फिलॉसफी, पृ० २४६।
२. वही, पृ० २४५।

मानव कर्म की सही दिशा और भूमिका के लिए तीनों का पूर्वापर क्रम अनिवार्य है। हम जिस 'वस्तु' या 'प्रक्रिया' को परिवर्तित (रूपान्तरित) करना चाहते हैं, उसका वायवी और खंड-ज्ञान हमारे व्यवहार को भ्रमित करता है। अगर कर्त्ता की अपनी भूमिका के प्रति उदासीन होकर हम 'वस्तु' के रूपान्तरण की इच्छा गँवा दें तो धर्म-कर्म में प्रवृत्त न हो सकेंगे। और यदि हमारे पास इस रूपान्तरण की सम्यक् योजना न होगी, अपने कर्म के औचित्य और उद्देश्य के प्रति अस्पष्टता होगी या किसी सुनिश्चित कार्यक्रम का अभाव होगा तो हम अपना लक्ष्य पा नहीं सकेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें से किसी एक का भी अभाव मानव-कर्म की दिशा और भूमिका को कुंठित करता है। इस प्रक्रिया को, लेनिन के शब्दों में, यों कह सकते हैं :

"जीवन्त चिन्तन से अमूर्त चिन्तन तक और फिर अमूर्त चिन्तन से व्यवहार तक—सत्य के, वस्तुगत यथार्थ के ज्ञान की प्रक्रिया ऐसी ही द्वन्द्वात्मक है।"[१]

स्पष्ट है कि विज्ञान ने ज्ञान और धर्म, दोनों स्तरों पर मनुष्य की सचेतन सहभागिता को अत्यन्त उच्च धरातल पर पहुँचा दिया है। आज मनुष्य का निःसीम गरिमामण्डित रचनात्मक स्वरूप समाज और साहित्य दोनों धरातलों पर समान रूप से व्यक्त हो रहा है। सामाजिक धरातल पर इसकी अभिव्यक्ति अनन्त काल से चले आ रहे अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध विश्व-मानवता के निर्णायक जेहाद के रूप में हो रही है। मनुष्य की इस नयी भूमिका की पहचान के प्रयत्न में जो विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, शैलियाँ और आन्दोलन समय-समय पर प्रकट हुए, उन्हीं के बीच से विकसित होकर वैज्ञानिक मानववाद मनुष्य की निःसीम रचनात्मकता को व्यक्त करता है। यह कहने की जरूरत नहीं कि साहित्यिक सीमाओं के अतिक्रमण की क्षमता दृष्टि की वैज्ञानिकता पर निर्भर होती है। मनुष्य ने यह क्षमता स्वयं अपने श्रम द्वारा अर्जित की है।

यह ध्यान देने की बात है कि विज्ञान जिस गति से मनुष्य को अन्धशक्तियों से मुक्त कर रहा है, उसी गति से मनुष्य की परिवर्तनकारी और सृजनात्मक भूमिका में भी अभिवृद्धि हो रही है। विज्ञान द्वारा प्रस्तावित मनुष्य की यह भूमिका उसे अधिकाधिक अपने से बाहर निकल कर वस्तुगत यथार्थ से जुड़ने के लिए प्रेरित कर रही है। व्यवहार ही सत्य की कसौटी है। इसलिए मनुष्य को अपनी नयी भूमिका का निर्वाह व्यवहार में करना पड़ता है। व्यवहार मनुष्य को नया मूल्य प्रदान करता है। सत्य के वास्तविक स्वरूप की समझ, अपने गंतव्य को पाने की इच्छा, अपने

१. 'कलेक्टेड वर्क्स', खंड-३८, पृ० १७१।

है। मनुष्य जिस सौन्दर्य की सृष्टि करता है, वह उसकी इसी सजग भूमिका का परिणाम है। मनुष्य की यह सजगता ही उसे वाह्य-जगत् की शक्तियों पर हावी बनाती है। अन्धविश्वास के काल मे वस्तुजगत् के बिम्ब मनुष्य पर हावी होते थे। इसके बिल्कुल उल्टे, विज्ञान के युग में, मनुष्य अपने अन्तर्जगत् मे प्रतिबिम्बित होने वाले वस्तुजगत् के बिम्बों पर शासन करता है।

साहित्य मे मनुष्य की सक्रिय कर्ता (Active Agent) की यह भूमिका बिम्ब ग्रहण की प्रक्रिया को तो जटिल बनाती ही है, बिम्बो मे मुक्त साहचर्य, प्रतीकवत्ता आदि के अधिक सजग अन्यथाकरण (डिस्टार्शन) को भी सम्भव और अनिवार्य बनाती है। वस्तुजगत का महत्त्व निर्णायक है, और किन्तु सौन्दर्य-सृष्टि मे वस्तुजगत् के बिम्बो को मनुष्य अपने अनुरूप बरतता है। इससे कलात्मक सौन्दर्य के क्षेत्र में प्रत्ययो का व्यापक पैमाने पर प्रवेश होता है। यही कारण है कि विज्ञान के काल में कला जिन अनेक दृष्टियो और विचार-बिन्दुओं से अधिक समृद्ध होती है, उनमे विचारधारा, सामाजिक प्रतिबद्धता और सजग कर्मण्यता का स्थान सर्वोपरि है।

अपनी सामान्य सजग भूमिका मे वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य अपनी श्रम-शक्ति का अधिक सार्थक उपयोग करता है। वाह्य जगत् मानवीय आवश्यकताओं की तुष्टि का साधन है। मूल्यवत्ता वाह्य जगत् की वस्तुओ से (मानवीय) विचारों के सम्बन्ध में प्रतिफलित होती है। मूल्यवत्ता का केन्द्र मनुष्य है, इसलिए "मूल्यों की प्रकृति की समस्या का समाधान इतिहास और खुद अपने निर्माता के बतौर मनुष्य की समझदारी पर, अपनी सकर्मक अन्तर्वस्तु मे उसके विश्वास पर निर्भर है।"[1]

मनुष्य की यह द्वन्द्वात्मक भूमिका—निर्माता की सकर्मक अन्तर्वस्तु और इससे उत्पन्न समझ की द्वन्द्वात्मकता—समग्र रूप में मानवीय कार्यकलाप का निर्धारण करती है। अर्थात् मनुष्य का चिन्तन व्यवहार से उत्पन्न और व्यवहार का नियामक है। ज्ञान और व्यवहार में द्वन्द्वात्मक एकता है। मनुष्य की सजग भूमिका और सकर्मक अन्तःप्रकृति का ज्ञानात्मक स्वरूप तीन धरातलों पर प्रकट होता है :

१. वस्तु का ठोस, यथार्थ ज्ञान ;
२. उसे व्यवहार में, भौतिक रूप में, हासिल करने की इच्छा ; तथा
३. कर्म का उद्देश्य और सुनिश्चित कार्यक्रम, अर्थात्, 'वस्तु' के रूपान्तरण से सम्बद्ध 'आत्म' की योजना।[2]

---

१. 'फण्डामेण्टल्स ऑफ मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट फिलॉसफी, पृ० २४६।
२. वही, पृ० २४५।

मानव कर्म की सही दिशा और भूमिका के लिए तीनों का पूर्वापर क्रम अनिवार्य है। हम जिस 'वस्तु' या 'प्रक्रिया' को परिवर्तित (रूपान्तरित) करना चाहते हैं, उसका वायवी और खंड-ज्ञान हमारे व्यवहार को भ्रमित करता है। अगर कर्त्ता की अपनी भूमिका के प्रति उदासीन होकर हम 'वस्तु' के रूपान्तरण की इच्छा गँवा दें तो धर्म-कर्म मे प्रवृत्त न हो सकेंगे। और यदि हमारे पास इस रूपान्तरण की सम्यक् योजना न होगी, अपने कर्म के औचित्य और उद्देश्य के प्रति अस्पष्टता होगी या किसी सुनिश्चित कार्यक्रम का अभाव होगा तो हम अपना लक्ष्य पा नही सकेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें से किसी एक का भी अभाव मानव-कर्म की दिशा और भूमिका को कुंठित करता है। इस प्रक्रिया को, लेनिन के शब्दो मे, यों कह सकते हैं :

"जीवन्त चिन्तन से अमूर्त चिन्तन तक और फिर अमूर्त चिन्तन से व्यवहार तक—सत्य के, वस्तुगत यथार्थ के ज्ञान की प्रक्रिया ऐसी ही द्वन्द्वात्मक है।"[१]

स्पष्ट है कि विज्ञान ने ज्ञान और धर्म, दोनो स्तरो पर मनुष्य की सचेतन सहभागिता को अत्यन्त उच्च धरातल पर पहुँचा दिया है। आज मनुष्य का नि.सीम गरिमामण्डित रचनात्मक स्वरूप समाज और साहित्य दोनो धरातलों पर समान रूप से व्यक्त हो रहा है। सामाजिक धरातल पर इसकी अभिव्यक्ति अनन्त काल से चले आ रहे अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध विश्व-मानवता के निर्णायक जेहाद के रूप मे हो रही है। मनुष्य की इस नयी भूमिका की पहचान के प्रयत्न मे जो विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, शैलियाँ और आन्दोलन समय-समय पर प्रकट हुए, उन्ही के बीच से विकसित होकर वैज्ञानिक मानववाद मनुष्य की नि.सीम रचनात्मकता को व्यक्त करता है। यह कहने की जरूरत नही कि साहित्यिक सीमाओ के अतिक्रमण की क्षमता दृष्टि की वैज्ञानिकता पर निर्भर होती है। मनुष्य ने यह क्षमता स्वयं अपने श्रम द्वारा अर्जित की है।

यह ध्यान देने की बात है कि विज्ञान जिस गति से मनुष्य को अन्धशक्तियों से मुक्त कर रहा है, उसी गति से मनुष्य की परिवर्तनकारी और सृजनात्मक भूमिका में भी अभिवृद्धि हो रही है। विज्ञान द्वारा प्रस्तावित मनुष्य की यह भूमिका उसे अधिकाधिक अपने से बाहर निकाल कर वस्तुगत यथार्थ से जुड़ने के लिए प्रेरित कर रही है। व्यवहार ही सत्य की कसौटी है। इसलिए मनुष्य को अपनी नयी भूमिका का निर्वाह व्यवहार मे करना पड़ता है। व्यवहार मनुष्य को नया मूल्य प्रदान करता है। सत्य के वास्तविक स्वरूप की समझ, अपने गंतव्य को पाने की इच्छा, अपने

---

१ 'कलेक्टेड वर्क्स', खंड-३८, पृ० १७१।

**प्राप्तव्य ध्येय के न्यायसंगत होने का बोध और उसे व्यवहार में हासिल करने की योजना—मनुष्य की कर्मशक्ति को गुणात्मक दृष्टि से नये धरातल पर पहुँचाने वाला यह नया मूल्य विज्ञान की देन है।**

इस नये मूल्य को आत्मसात् करके चलने वाला साहित्य अपने सामाजिक दायित्व से भाग नहीं सकता। विज्ञान द्वारा प्रस्तावित इस नये मूल्य के आविर्भाव के साथ साहित्य की सामाजिक भूमिका में गुणात्मक अभिवृद्धि होती है। समाजवादी यथार्थवाद की कला के सम्बन्ध में मनुष्य के दायित्व-बोध की चर्चा करते हुए क्रेपचेंको ने लिखा है : "नये समाज की रचना का दायित्व और हमारे युग का लोकप्रिय मुक्ति आन्दोलन, ये दो चीजें सम-सामयिक जनवादी कला, समाजवादी-यथार्थवाद की कला के विकास की प्रभावशाली प्रेरणाएँ हैं।"[1]

सामाजिक परिवर्तन और न्याय की आकांक्षा वर्तमान युग के सन्दर्भों की सही पहचान पर निर्भर है। सारा समाज, भूखा, नंगा, प्रताड़ित और असुरक्षित है। युगों से चला आ रहा समाज का अन्तर्विरोध आज उग्रतम रूप में प्रकट हो रहा है। मनुष्य अपनी सजग भूमिका और सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत हो और श्रम तथा सम्पत्ति के बीच के शाश्वत अन्तर्विरोध को समझ कर इसे दूर करने के एकमात्र समाधान—निजी सम्पत्ति के उन्मूलन—की ओर प्रवृत्त हो। इससे जहाँ सामान्य श्रमजीवी जनता का हित होता है, वहाँ सम्पत्तिशाली लोगों का अहित। हिताहित-विवेक से परिचालित मनुष्य अपनी अस्मिता बनाये रखने के लिए हर सम्भव प्रयास करता है। फलतः सम्पत्तिशाली वर्ग विज्ञान द्वारा प्रदर्शित मनुष्य की सकर्मक भूमिका पर कुठाराघात करता है।

साहित्य सामाजिक घटना है, इसलिए मानव-समाज के आन्तरिक द्वन्द्व उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं। विज्ञान की चेतना को धारण करने वाली साहित्य-दृष्टियाँ मानवीय श्रम और समाज का पक्ष लेती हैं और मनुष्य की दिव्य-ऐतिहासिक भूमिका को अपना केन्द्रीय विषय बनाती हैं। मानव समाज और चेतना के विकास के इस स्वाभाविक तर्क को अस्वीकार करके चलने वाली दृष्टियाँ मनुष्य को पराङ्मुखी बनाती हैं। मनुष्य अपनी रचनात्मक क्षमताओं को पहचान कर कर्मक्षेत्र में उतरे, यह उनके लिए भय का विषय है। अतः वे परिजीवन की द्वन्द्वात्मक प्रकृति के स्थान पर व्यष्टि और समष्टि में दिखायी देने वाले ऊपरी विरोध को वास्तविक विरोध बना

---

१. 'दि राइटर्स क्रिएटिव इण्डिविजुआलिटी एण्ड दि डेवलपमेण्ट ऑफ लिटरेचर', पृ० २९६-९७।

कर पेश करती हैं। उनके अनुसार, व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध ही वास्तविक विरोध है।

फ्रायड एक ऐसे ही विचारक हैं जिन्होंने परिजीवन के क्रम मे परिलक्षित होने वाले इस विरोधाभास को अपने मनो-विश्लेषण का मूलाधार बनाया है। उनकी मान्यता है कि सामाजिक निषेधो के कारण मनुष्य की वासनाएँ अतृप्त रह जाती हैं। चेतन मन मे अतृप्त रह जाने वाली वासनाएँ तरह-तरह की कुण्ठाओ और ग्रन्थियो के रूप मे अवचेतन मन में विद्यमान रहती हैं। वह इन्ही को स्वप्न और कला का उत्स मानते हैं। अत: उनके अनुसार क्या कला, क्या धर्म और क्या स्वप्न सभी की उत्पत्ति मानवीय दुर्बलताओं और क्षुद्रताओं से होती है।[1] दमित वासनाओ की तुष्टि के माध्यम स्वप्न मूलत. असामाजिक होते हैं। कला समाज द्वारा स्वीकृत माध्यम है। सामान्य लोगो के पास यह माध्यम नही होता। इसलिए सामान्य व्यक्ति अपनी इन भावनाओं को स्वप्नो के जरिये तुष्ट करता है और कलाकार अपनी कला द्वारा। इस तरह, समस्त कला क्षुद्र और कुंठित मनुष्य की दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति के सिवा कुछ नहीं है। अलग-अलग समाजों में सामाजिक निषेधों का क्या स्वरूप रहा है, यह तत्कालीन कला से मालूम हो सकता है।

फ्रायड की 'दमित' वासनाओ को एडलर ने 'हीन भावना' बना दिया। उनके मतानुसार, कलाकार सामाजिक दृष्टि से दुर्बल और अनुपयोगी प्राणी होता है। अपनी कला के जरिये वह समाज मे अपनी सत्ता प्रमाणित करता है। इसलिए कला क्षतिपूर्ति का माध्यम है।

युग इन ग्रन्थियों और हीनताओं को भिन्न दृष्टि से देखते हैं। वे मानते हैं कि 'वैयक्तिक आकांक्षाओं की पूर्ति और सामाजिक अथवा समस्त मानवता की अभिलाषाओ की पूर्ति—इन दो प्रकार की इच्छाओं और चुनौतियों के द्वन्द्व से कला का जन्म होता है। व्यक्ति ऊपर रहे और समाज नीचे, यह सावधानी युग ने भी बरती है। इसीलिए वे प्रतिपादित करते हैं कि सामूहिक भावों की अभिव्यक्ति से कलाकार का व्यक्तित्व उपेक्षित रह जाता है। यह हमेशा कलाकार व्यक्ति के दुःख का कारण बनती है। चेतना सामूहिक अवचेतन का परिणाम है। किन्तु सामाजिक प्रक्रिया कलाकार व्यक्ति को पीड़ित करती है। यह पीडा कलाकार को सृजन की उद्दाम आकांक्षा से भर देती है। ऐसी स्थिति मे कलाकार का सृजन समस्त प्राणिजगत् की आकांक्षाओं को तृप्त करता है। अतएव, कलाकार व्यक्ति के मन का प्रतिरूप सामूहिक तुष्टि का कारण बनता है।

१. देखिए, 'मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ', पृ० १६२-६३, १७०-७१, १८४, १६६, १६६ आदि।

यह सही है कि मनोविश्लेषणशास्त्र ने सतह पर दिखायी देने वाली वृत्तियों के साथ अधिक अन्तरंग 'चित्र' (इड) को रेखांकित करके मानव-चेतना के नये आयाम उद्घाटित किये हैं। किन्तु मनुष्य के विकास की प्रक्रियाओं और समस्याओं से ध्यान हटा कर व्यक्ति और समाज के विरोध को आधार मानने के कारण उसमें मनुष्य की हीनताओं, क्षुद्रताओं और कुण्ठाओं को ही मनुष्य और कला का सबसे श्रेष्ठ मूल्य माना गया है। समाज और संस्कृति का निषेध करने वाली इन दार्शनिक प्रतिपत्तियों को आधार मान कर भारत के एक आधुनिक चिन्तक ने लिखा है : "एक बिन्दु ऐसा है जहाँ कला का मार्ग संस्कृति के मार्ग से अलग हो जाता है। संस्कृति का आधार समाज है, उसका सत्य व्यापक सत्य है और उसकी दृष्टि भी तदनुकूल है। पर कला का क्षेत्र विशिष्ट का क्षेत्र है. उसका सत्य विशिष्ट, अद्वितीय और मौलिक सत्य है, और उसकी दृष्टि भी वैसी ही एक और अद्वितीय।"[१]

मनुष्य के विकास की आम प्रक्रियाओं से इस साहित्य-दृष्टि की संगति नहीं है। इस मान्यता से यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रेष्ठ कला सांस्कृतिक बोध से और श्रेष्ठ संस्कृति सौन्दर्य-बोध से रहित होती है। व्यक्ति और समाज में विरोध की या परिणति न केवल मनुष्य की कर्मशक्ति को पंगु बनाती है, वरन् उसे वापस पशुवत जीवन की दिशा में ले जाने की आकांक्षा भी व्यक्त करती है। समाज और संस्कृति का गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य का विकास सामान्य के धरातल पर होता है, अद्वितीय के धरातल पर नहीं। जो लोग इस बात को स्वीकार नहीं करते, वे मनुष्य को निष्क्रिय और पंगु बनाने का काम करते हैं। रुथ बेनेडिक्ट ने इस तरह की समझदारी का खण्डन करते हुए ठीक ही कहा है कि : "व्यक्ति की समस्या का समाधान संस्कृति और व्यक्ति के बीच वैर प्रतिपादित करके नहीं, बल्कि दोनों की परस्पर निर्भरता स्थापित करके ही किया जा सकता है।" इसका कारण यह है कि "कोई भी व्यक्ति एक संस्कृति के बगैर, जिसमें वह शरीक हो, अपनी आवश्यकताओं के द्वार तक भी नहीं पहुँच सकता।"[२]

कला और सौन्दर्य का क्षेत्र इसका अपवाद नहीं है। इस मान्यता के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मनुष्य को अपनी रचनात्मक सम्भावनाओं को मूर्त रूप देने के लिए सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग बनकर रहना पड़ेगा। समाज में रहकर, सामाजिक दायित्व-बोध से सम्पन्न होकर ही मनुष्य अपनी सृजना

---

१. 'आत्मनेपद', पृ० २५७।

२. 'पैटर्न्स ऑफ कल्चर', पृ० २३४।

त्मक वृत्तियों को परितोष प्रदान कर सकता है। अतः मनुष्य के रचनात्मक व्यवहार और सामाजिक दायित्व की स्वीकृति दोनों एक सिक्के के दो पहलुओं की भाँति अभिन्न हैं।

इसके विपरीत, मनुष्य को प्रवाह-पतित, हीन-कुण्ठित वृत्तियों के पुञ्ज के रूप में देखने वाली दृष्टियाँ उसे समाज, सभ्यता और संस्कृति से ही पराङ्‌मुख नहीं बनाती, इन सबके आधार—श्रम—के प्रति तिरस्कार का भाव भी उत्पन्न करती हैं। दृष्टियाँ इस तथ्य से आँख मूँद लेती हैं कि श्रम के बगैर मनुष्य अपना मानवीय विकास नहीं कर सकता। हेनरी जे० फोरेन के मतानुसार मनुष्य खुद अपना अधिकाधिक मानवीय विकास तभी कर सकता है, जब वह वस्तुगत प्रकृति को अधिकाधिक अपने श्रम का आधार बनाता चले।[1]

श्रम (कर्म) के प्रति तिरस्कार का भाव रखने पर मनुष्य की सृजनात्मक वृत्तियाँ कुण्ठित होती हैं। इससे जीवन में निरुद्देश्यता पैदा होती है। और यह कहने की जरूरत नहीं कि निरुद्देश्य होकर न कोई मनुष्य जी सकता है, न कोई समाज या साहित्य। पश्चिम जगत् में इस तरह के निरुद्देश्य साहित्य का अधिक प्रचार है। उद्देश्यहीन साहित्य समाज का निषेध करता है, और जनता के सौन्दर्य-बोध के उन्नयन के दायित्व से मुक्त होता है। वह शुद्ध रूप में कलाकार की आंतरिक वृत्तियों का प्रतिफलन और स्वयसाध्य होता है। यह समझ में नहीं आता कि ऐसे 'विशिष्ट' और 'अद्वितीय' साहित्य से कलाकार अपनी सामाजिक उपयोगिता कैसे प्रमाणित करता है।

यह कोई सयोग की बात नहीं है कि निराशा, कुण्ठा, व्यक्तिवाद आदि समाज-विरोधी वृत्तियों का प्रचार करने वाला पश्चिमी साहित्य आज [illegible] की पहचान भूल गया है। सन् १९६० के बाद से इस साहित्य में अस्मिता का [illegible] संकट उभरा है। हालांकि अस्मिता का प्रश्न इस साहित्य का "अकेला विषय नहीं है, फिर भी वह इन सब में केन्द्रीय विषय है।"[2] व्यक्ति की 'विशिष्टता', 'अद्वितीयता' और 'मौलिकता' जब अधिक बढ़ जाती है तब अजनबीपन पैदा होता है। मनुष्य जब नदी के बीच द्वीप बन जाता है, इतिहास की गतिमयता से [illegible] विच्छिन्न हो जाता है तब अजनबीपन अस्मिता का संकट बन कर प्रस्तुत होता है।

---

१. 'मौक्सं एण्ड दि आर्टिस्टिक मैन', पृ० ३०।

२. 'लिटरेचर इन अपहेवल : वेस्ट जर्मन राइटर्स एण्ड दि [illegible]', पृ० VII।

सामाजिक संकट के बढ़ने के साथ-साथ इतिहास और मानव-विरोधी शक्तियाँ समाज में अलग-थलग पड़ने लगती हैं। जब ये शक्तियाँ इतिहास के प्रवाह में द्वीप बन जाती हैं तब जीवन से उनका नाता टूट जाता है। मृत्यु, कुण्ठा, घुटन, अस्मिता का संकट आदि इसी भावबोध का तर्कसंगत परिणाम हैं।

यथार्थवादी साहित्यधारा मनुष्य में आस्था रख कर, उसके विकास के ऐतिहासिक निष्कर्षों को स्वीकार करके चलने के नाते समाज को साहित्य का और श्रम को सौन्दर्य-चेतना का आधार मानती है। अडोल्फो संचेज वैज्क्वेज ने निम्न-लिखित तीन बातों के आधार पर कला की व्याख्या सामाजिक घटना के रूप में की है.

१. कलाकार की प्रथम अनुभूति कितनी ही अद्वितीय क्यों न हो, वह एक सामाजिक प्राणी है;

२ कलाकृति उस प्रथम अनुभूति से चाहे जितनी गहराई से सम्बद्ध हो और उसका वस्तवीकरण या रूप चाहे जितना विशिष्ट हो और जिसका दोहराया जाना फिर कभी सम्भव न हो, वह सदैव कलाकार और समाज के अन्य सदस्यों के बीच सेतु का, सम्पर्क-सूत्र का काम करता है,

३. कलाकृति दूसरों को प्रभावित करती है—वह दूसरों के विचारों, लक्ष्यों या मूल्यों को पुनः पुष्ट करती है या उनका अवमूल्यन करती है; कला एक सामाजिक शक्ति है जो अपनी भावात्मक या विचारधारात्मक शक्ति के कारण लोगों को विचलित या प्रेरित करती है।[1]

यहाँ यह भ्रम न पैदा हो कि कला का सामाजिक चरित्र रेखांकित करने का अर्थ है कला के विशिष्ट चरित्र का निषेध करना। अतः क्रैपचेंको के इन शब्दों को स्मरण करना प्रासंगिक होगा—"कलाकार का मानस नये के अन्वेषण तथा अज्ञातपूर्व आत्मिक और सौन्दर्यात्मक मूल्यों के सृजन का प्रयास करते हुए उस नये की ओर आकृष्ट होता है।"[2]

सामाजिक सन्दर्भवत्ता और कलाकार की सचेतन भूमिका से जुड़ कर कला भी रचनात्मक और परिवर्तनकारी भूमिका अदा करती है। इस अर्थ में कला मनुष्य की

---

१. 'आर्ट एण्ड सोसाइटी', पृ० ११२-१३।

२. 'दि राइटर्स क्रिएटिव इंडिविजुअलिटी एण्ड दि डेवेलपमेण्ट ऑफ लिटरेचर', पृ० २६०।

सजग चेतना का ही प्रतिविम्ब है। मानव-जीवन से गहरे स्तर पर जुड़े होने के नाते कला के सौन्दर्य-मूल्य को जीवन-मूल्यो से अलग नही किया जा सकता। श्रम मानव-जीवन का सबसे बड़ा स्रोत है और मानव-जीवन—व्यापक अर्थो में जिजीविषा-सृष्टि का सबसे बड़ा मूल्य है। इसलिए श्रम और सौन्दर्य-मूल्यों को एक-दूसरे से जोड़ कर देखने की जरूरत है। विज्ञान सौन्दर्य को मानव-श्रम की उत्पत्ति मानता है और यह रेखांकित करता है कि सौन्दर्य-मूल्य मनुष्य के श्रम को अधिक मानवीय बनाते हैं। विकास मनुष्य को वंचित नही करता वरन् उसे समृद्ध करता है। इसलिए विकास के दौरान मानवीय आवश्यकताओ मे वृद्धि मनुष्य की पूर्ति-सम्बन्धी गतिविधियो को ही नही, सौन्दर्य-चेतना को भी अधिक सघन बनाती है।

मानवीय कर्म और सौन्दर्य-चेतना परस्पर निर्भर होते है। विकास के साथ उनकी यह परस्पर निर्भरता बढती जाती है। विकास के विभिन्न चरणो मे मानव-चेतना और सौन्दर्य-मूल्यों का स्वरूप भिन्न होता है। उनका उच्चतर धरातलो पर पदार्पण होता है। चेतना के विकास का आकलन श्रम की अवस्थाओ द्वारा किया जा सकता है। जब मनुष्य अपने श्रम की उच्चतम अवस्था मे पहुँचता है तथा प्रकृति और समाज की शक्तियो पर नियत्रण के लिए सघर्षरत होता है, तब मनुष्य की चेतना भी सर्वोच्च धरातल पर पहुँचती है तथा सौन्दर्य-मूल्यों के क्षेत्र मे सजग निर्माता की उसकी विशिष्ट क्षमता निर्णायक भूमिका अदा करती है।

सक्षेप मे, हम कहते हैं कि "इन्सान की बुद्धि, इन्सान का चिन्तन मानसिक कार्यकलाप के विकास मे सर्वोच्च धरातल है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इसलिए उसके अत्यन्त उच्च स्तर के मानसिक जीवन, उसके चिन्तन का निर्धारण उसके श्रम सम्बन्धी कार्यकलाप द्वारा होता है।"[१]

---

१. 'फण्डामेण्टल्स ऑफ मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट फिलासफी, पृ० ३६।

# सौन्दर्य : अधिष्ठान और अन्तर्रचना का प्रश्न

लम्बे अरसे से बहस-मुबाहसे के परिणामस्वरूप दूसरे प्रश्नों की तरह इस प्रश्न पर भी सौन्दर्य-चिन्तक खेमों में बँट गये हैं। कोई कहता है कि सौन्दर्य की सत्ता हमारे मन में है। वस्तुजगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। सौन्दर्य एक अनुभूति है। कोई कहता है कि सौन्दर्य की अनुभूति का सम्बन्ध वस्तुजगत् के साक्षात्कार से है। सम्भव है शुरुआती दौर में ऐसे मत प्रचलित रहे हों जो सौन्दर्य को एकान्ततः वस्तुजगत् की वस्तु मानते रहे हों। ऐसे चिन्तन के अवशेष अभी भी उन अतिवादी प्रगतिशीलों में पाये जा सकते हैं जो सौन्दर्य को व्यक्ति के अन्तर्जगत् से काट कर देखने का प्रस्ताव करते हैं। साहित्य और कला को आर्थिक जीवन का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब मान बैठने की भूल इसी सिद्धान्त का व्यवहार पक्ष है।

सौन्दर्यानुभूति चेतना का गुण है। इसलिए उसका सम्बन्ध सजीव मनुष्य से है। इस पक्ष पर अधिक बल देने वाले भाववादी चिन्तक अन्ततः इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि चेतना ही सृष्टि का उत्स है, समूचा वस्तुजगत् इसी परम चेतना का प्रतीयमान रूप है; सौन्दर्यानुभूति इसी परम चेतना से सम्बद्ध अद्वितीय-अलौकिक अनुभूति है।[1] प्लेटो के सौन्दर्य-सम्बन्धी मत का सार-संक्षेप प्रस्तुत करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है, "सौन्दर्य के चार स्तर हैं : शारीरिक सौन्दर्य, मानसिक सौन्दर्य, नैतिक सौन्दर्य और शुद्ध बुद्धि का सौन्दर्य या प्रज्ञात्मक सौन्दर्य। प्रज्ञात्मक सौन्दर्य ही निरपेक्ष और परम सौन्दर्य है।...इस प्रज्ञात्मक सौन्दर्य को प्लेटो ने प्रकाश-रूप माना है जो वस्तुतः आत्मचैतन्य का प्रतीक है।"

अव्यक्त सत्ता को गुण और "उसी के व्यक्त भाव को रूप" कह कर श्री जैनेन्द्र

---

[1] 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका', पृ० २१।

कुमार ने सौन्दर्य को "अन्तरंग आकांक्षा के प्रतिविम्ब" के रूप में परिभाषित किया है।[1] भारतीय काव्यशास्त्र में रसानुभूति और साधारणीकरण को 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' बता कर अन्ततः अलौकिक (लोकोत्तर) अनुभूति का समानधर्मा घोषित किया गया है। पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तकों ने भी सौन्दर्य को चेतन-रूप माना है। जिन चिन्तकों ने *कलात्मक सौन्दर्य और लोकोत्तर (Transcendental) सौन्दर्य को एक* बिन्दु पर जोड़ कर देखने की चेष्टा की है वे जैम्वेज मारितें की भाँति इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं : "कला सौन्दर्यशास्त्रीय सौन्दर्य (Aesthetic Beauty) और लोकोत्तर (इन्द्रियातीत) सौन्दर्य के बीच के फर्क को मिटाने तथा सौन्दर्यशास्त्रीय सौन्दर्य को लोकोत्तर सौन्दर्य में समाहित करने के लिए सघर्ष करती है।"[2]

अर्थात्, यह कला का कार्य है। कला पहले तो सौन्दर्यशास्त्रीय (इन्द्रियग्राह्य) सौन्दर्य और लोकोत्तर (इन्द्रियातीत) सौन्दर्य का फर्क मिटाती है और अन्ततः इन्द्रिय-ग्राह्य सौन्दर्य को इन्द्रियातीत सौन्दर्य में समाहित करती है। इसके बगैर कलात्मक सौन्दर्य की सिद्धि नहीं होती। आत्मा ब्रह्म में लीन होकर ही पूर्णता प्राप्त करती है। प्रतीयमान विश्व परम चेतना में लीन होकर ही सार्थक होता है। इस दार्शनिक भावभूमि पर आधारित भाववादी सौन्दर्यशास्त्र अमूर्त विचार और इन्द्रियातीत लोकोत्तर अनुभूति को ही सौन्दर्य-मूल्य के रूप में स्थापित करता है।

विज्ञान इस तर्क-पद्धति पर दार्शनिक मान्यता का हामी नहीं है। इस चिन्तन के अनुसार चेतना प्राथमिक और पदार्थ गौण है। वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने जिन तथ्यों को उद्घाटित किया है उनके अनुसार मनुष्य की अधिरचना, उसका अन्तर्जगत् स्वयं वस्तुओं के साथ उत्तरोत्तर विकासमान घात-प्रतिघात की सतत प्रक्रिया में निर्मित और विकसित हुए हैं। विभिन्न युगों की चेतना के मौलिक स्वरूप का अध्ययन करते हुए हम देख चुके हैं कि मनुष्य की सामान्य चेतना श्रम की विभिन्न अवस्थाओं में वस्तुजगत् में कायम होने वाले मनुष्य के निश्चित सम्बन्धों का (जटिल) प्रतिफलन है। दूसरे शब्दों में, मानवीय चेतना और बोध का विकास श्रम के विकास की अवस्थाओं से जुड़े होने के नाते स्वयं एक भौतिक प्रक्रिया है।

मनुष्य की चेतना विकसित होती है, यह तथ्य चेतना को स्वयंभू और स्वयंपूर्ण मानने वाले भाववाद के दार्शनिक आधार को ध्वस्त कर देता है। इससे यह पता चलता है कि आरम्भ से आज तक अन्य सभी वस्तुओं की भाँति चेतना भी

---

१. प्रस्तुत प्रश्न, पृ० १०१।

२. 'क्रिएटिव इंट्यूशन इन आर्ट एण्ड पोएट्री' पृ० १२६।

विकसित हुई है। पेड़-पौधों से लेकर मनुष्य तक जीवन के विविध रूप देखे जा सकते हैं। पेड़-पौधो, पशु-पक्षियों और मनुष्य की चेतना मे मात्रा और गुण दोनो का अन्तर है। इस अन्तर का कारण, विज्ञान का नजर मे, भौतिक है।

यही नही, विभिन्न मनुष्यों (व्यक्तियो और जातियो) की चेतना में भी अन्तर हुआ करता है। एक ही व्यक्ति की चेतना अलग-अलग शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं में समान नही रहती। ये सभी तथ्य चेतना के भौतिक स्वरूप का समर्थन करते हैं। मन की परिभाषा करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है, "मन भी रूप-गति का सघात ही है।''''''हमें अपने मन और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है"।[1] हमारा अन्तर्जगत् रूप और गति का संघात है। रूप और गति पदार्थ के गुण हैं। मन इस पदार्थ जगत् के बाहर की वस्तु नही है। किसी को सदेह न रहे, इसलिए आगे चल कर शुक्ल जी यह भी कहते हैं कि "राग मिलाने वाली वासना है और द्वेष अलग करने वाली। रासायनिक मूल द्रव्यो के राग से ही सृष्टि का विकास होता है।"[2] अर्थात् समस्त जड़-चेतन सृष्टि रासायनिक मूल द्रव्यों के राग का परिणाम है। दूसरे शब्दो मे, चेतना स्वय भौतिक पदार्थ की उपज है। पदार्थ का गुण होने के नाते चेतना स्वयं भौतिक है। इसलिए शुक्ल जी सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य की सत्ता अस्वीकार करते है।[3]

चिन्तको का एक दल चेतना के रूपो और उससे सम्बद्ध अनुभूति के अनेक स्तरों के तर्क को उस बिन्दु तक ले जाता है जहाँ व्यक्ति-व्यक्ति की अनभूति के मौलिक अन्तर का सिद्धात प्रतिपादित किया जा सके। ऐसा ही एक तर्क अज्ञेय जी का है— "अनभूति अद्वितीय है क्योंकि कोई दूसरे की अनुभूति नही भोग सकता।"[4] इस मान्यता का दार्शनिक आधार है अनुभूति की निरपेक्षता। इस तर्क के अनुसार अनुभूति का सम्बन्ध अन्तर्मन की प्रेरणाओं से है, बाहर की किसी वस्तु या विचार के साक्षात्कार से नही। यदि अनुभूति का सम्बन्ध ऐसे किसी साक्षात्कार से माना जाय तथा इस साक्षात्कार-जन्य अनुभूति को व्यक्ति-मन की अवस्था और वस्तु के बीच कायम होने वाले संघर्ष से जोड़ कर देखा जाय तो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अनुभूति की विशिष्टताओं का स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा और साथ ही अनुभूति की

---

१. 'रस मीमांसा', पृ० २४।

२. उपर्युक्त, पृ० ६०।

३. उपर्युक्त, पृ० २४।

४. 'आत्मनेपद', पृ० १६६।

अद्वितीयता की मान्यता की निरर्थकता भी साबित हो जायेगी। कारण यह है कि अनुभूति-प्रक्रिया शुद्ध भौतिक-प्रक्रिया है। मनुष्य सवेदनशील प्राणी है। उसके मन मे घटित होने वाली प्रक्रियाओ का स्वरूप विशिष्ट है। वे शुद्ध रासायनिक प्रक्रियाओ या फार्मूलों की तरह नही होती।

किन्तु अनुभूति की 'अद्वितीयता' के तर्क से यह निष्कर्ष निकलता है कि देश, काल और पात्र (व्यक्ति) के तीनो आयामो मे अनुभूति की पुनरावृत्ति सम्भव नही है। साथ ही, कोई भी दूसरी अनुभूति पहली जैसी नही हो सकती। इसलिए अनुभूतियाँ गुण-दोष वाचकता से भी निरपेक्ष हुईं।

अन्ततः, मनुष्य का भौतिक और आत्मिक विकास सामान्य के धरातल पर हुआ है, विशिष्ट के धरातल पर नही। न तो हमारे सवेदन-तन्त्रो का विकास 'अद्वितीय' है और न ही भावो, विचारो और बिम्बो से निर्मित अन्तर्जगत् का। अतः सामान्य ग्राहिकाओ (रिसेप्टर्स) के जरिये ग्रहण करके (सामान्य के ही धरातल पर अर्जित) अन्तर्जगत् में अनुभव की जाने वाली अनुभूति सर्वथा 'अद्वितीय' कैसे है, यह समझ मे नहीं आता।

और फिर, अनुभूति कितनी भी अद्वितीय हो, उसे व्यक्त करती है भाषा। भाषा स्वयं सामान्य की उपलब्धि है, 'अद्वितीय' की नही। इसलिए ऐसी अद्वितीय अनुभूति कैसे सम्भव है, उसे अनुभव करने वाले जानें; विज्ञान ऐसी अनुभूति का अस्तित्व सम्भव नही मानता। अनहोनी को होनी बताने वाले भाववादी-व्यक्तिवादी चिन्तकों की यह अनुभूति शायद 'अव्याकृतम् अग्राह्यम् अव्यपदेशम्' की दुनिया का नेतिवाद है।

भाववादी चिन्तनधाराओ की यह सबसे प्रमुख सीमा है कि वे सौन्दर्य को अमूर्तता और निरपेक्षता के धरातल पर व्याख्यायित करती हैं। वस्तुजगत् से काट कर सौन्दर्य को आन्तरिकतावादी दृष्टि से देखने का आग्रह करने वाली भाववादी धारणाओं की इस मूल असंगति को रेखांकित करते हुए क्रिस्तोफर काडवेल ने कहा है कि वे सौन्दर्य को रूप-रंगहीन विचार मे तब्दील कर देते हैं।[1] विश्व का कोई भी सृजनात्मक साहित्य रंग-रूप-गंध रहित ऐसे अमूर्त विचार को सौन्दर्य-मूल्य मानने को तैयार नही है। किसी विचार को कलात्मक सत्य बनने के लिए रंग-रूप-गंध आदि के मूर्त संवेदनात्मक अनुभव-बिम्बो मे परिणत होना पड़ता है। कलागत सौन्दर्य-मूल्य और दार्शनिक सौन्दर्य के इस अन्तर को समझ कर ही जैम्बेज मार्गिन ने कहा

१. 'फरदर स्टडीज इन ए डाइंग कल्चर', पृ० ८२।

का कार्य निर्दिष्ट किया था। कला की सामाजिक और ऐतिहासिक भूमिका को अस्वीकार करने के नाते उनका निष्कर्ष भिन्न है; वे कला को—मूर्त सौन्दर्य को—लोकोत्तर इन्द्रियातीत सौन्दर्य में समाहित करने का माध्यम बताते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि जीवन-जगत् के प्रति पराङ्मुखता का यह भाव भाववादी-आन्तरिकतावादी चिन्तन की स्वाभाविक परिणति होती है।

इस व्याख्या का यह आशय नहीं है कि सौन्दर्य का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तर्जगत् से है ही नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि सौन्दर्य की अवधारणा एक मूल्य की अवधारणा है, जिसकी कल्पना मनुष्येतर सत्ता के रूप में नहीं की जा सकती। वस्तुतः मनुष्य ही प्रकृति के नाना उपादानों से रू-ब-रू होता है, उनसे अपनी जैविक और सामाजिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न तरह से टकराता है और इस समूचे क्रम में उन्हें सुन्दर या असुन्दर के रूप में पहचानता है। सौन्दर्य-मूल्यों की इस मानव-विशिष्ट सत्ता को अस्वीकार करने के नाते भाववादी या अतिशय वस्तुवादी चिन्तक सौन्दर्य की एकांगी व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं।

सौन्दर्य की आन्तरिकतावादी व्याख्याओं को 'भाषा का गड़बड़झाला' कहते हुए जब शुक्ल जी यह कहते हैं कि "'''सुन्दर वस्तु से पृथक सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं" तो वे वस्तुतः सौन्दर्यानुभूति के वस्तुगत स्वरूप पर ही बल देते हैं। वे सौन्दर्य को वस्तुवादी दृष्टि से देखने का आग्रह करते हैं, इसलिए उसे उसके आधार से जोड़ते हैं। शुक्ल जी उन भौतिकवादी विचारकों में नहीं हैं जो वस्तुवाद के आग्रह में संवेदनशील मनुष्य की भूमिका का निषेध करें। वे यह भली-भाँति अनुभव करते हैं कि वस्तुओं में जो सौन्दर्य है, उसकी पहचान और परख मनुष्य करता है, सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया वस्तु के सम्पर्क से सजीव मानव के अन्तर्जगत् में घटित होती है। इसीलिए वे कहते हैं कि "कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं।"[1] जो लोग इस बात को नहीं समझ पाते वे सौन्दर्य की आन्तरिक अनुभूति-प्रक्रिया को ही सर्वस्व मान बैठते हैं।

इस विवेचन के आधार पर यह बेखटके कहा जा सकता है कि "मनुष्य किसी वस्तु को देखता है और उसे सुन्दर-असुन्दर की संज्ञा से विभूषित करता है।"[2]

---

१. 'रस-मीमांसा', पृ० २४।
२. 'फरदर स्टडीज', पृ० ७६।

स्पष्ट है कि वस्तुगत और आत्मगत के पारस्परिक (द्वन्द्वात्मक) सम्बन्धों के बिना सौन्दर्य की कल्पना नही की जा सकती। जिस मनुष्य का संवेदन-तंत्र दृष्टि या श्रुति की दिशा में कुंठित और अविकसित रह गया है, क्या उसके लिए दृश्य या श्रव्य जगत् से सम्बद्ध ऐसी कोई मूल्यवत्ता हो सकती है जिसमे सौन्दर्य-बोध की आदिम भूमिका खोजी जा सके? ठीक यही बात उन जीवियों (Species) के साथ भी लागू होती है जिनमें श्रुति नही है, या जो वर्णान्ध हैं।

वस्तुगत सौन्दर्य की स्थिति मानव-सापेक्ष है। अन्तर्गामी अनुभवों और बहिर्गामी सकल्पों से निर्मित हमारा जटिल अन्तर्जगत् वस्तु और आत्म के उस सुदीर्घ द्वन्द्व का परिणाम है जो हमारे जैविक और सामाजिक विकास के दौरान चलता रहा है। बाह्य जगत् की जिन वस्तुओ मे हमारी जीवन-प्रक्रिया जितनी अधिक टकराती है, उनसे सम्बन्धित हमारी ग्राहिकाएँ, हमारा सवेदन-तन्त्र और इन्द्रिय-बोध उसी अनुपात मे अधिक विकसित हुआ है। विकास के इस क्रम में संवेदनो को ग्रहण करने के आन्तरिक तंत्र के साथ-साथ उसका आत्मगत नानारंगी आस्वाद और बोध भी विकसित हुआ है। मूल्यवत्ता का जन्म इसी आत्मगत धरातल पर होता है। इसलिए सौन्दर्य के आन्तरिक प्रतिमानों का निषेध वस्तुवाद न होकर यांत्रिक भौतिकवाद है।

बाह्य जगत् के ग्रहण की मानवीय सीमाएँ हैं। पहले अध्याय मे देख चुके हैं कि जीवन-प्रक्रिया मे बाह्य जगत् की जिन चीजो से हमारा उपयोगपरक टकराव जितना अधिक होता है, उनसे सम्बन्धित हमारा आन्तरिक संवेदन भी उसी अनुपात मे कमोवेश विकसित होता है। इस आनुपातिक सम्बन्ध को आँख और कान की ग्रहण-शक्तियों और उनसे सम्बद्ध मूल्य-बोध के विकास के स्तरों से जाना जा सकता है।

बाह्य जगत् की ऊर्जा-तरंगों, वायु के कम्पनो आदि को ग्रहण करने की हमारे सवेदन-तंत्रों की शक्ति न्यूनतम और अधिकतम के एक निश्चित प्रसर के भीतर ही विकसित हुई है। हम बैंगनी और लाल के प्रसर के भीतर की ऊर्जा-तरंगो को देख सकते हैं। लेकिन परार्बैंगनी या अवरक्त ऊर्जा-तरंगों को नही देख सकते। एकमरेज में अन्तर केवल मात्रात्मक है, गुणात्मक नही।

मनुष्य की ग्रहण-शक्ति की यह विशेषता और सीमा दोनों ही सामान्य के गुण हैं, विशिष्टि के या अद्वितीय के नही। यह तो सम्भव है कि कोई 'अद्वितीय' मनुष्य की इस सामान्य ग्रहण-शक्ति में कम ही ग्रहण कर पाने मे समर्थ हो और दृष्टि या श्रुति के क्षेत्र में उसकी व्यक्तिगत सीमाएँ मनुष्य-मात्र की आम सीमाओं से बड़ी अधिक हों; किन्तु यह सम्भव नही है कि वह इन्द्रधनुषी सात रंगों (बैंगनी

और लाल के प्रसर) से बाहर की ऊर्जा-तरंगों को देख सकें। यह मनुष्य-मात्र की सीमा है।

हम एक्सरेज को यत्र की सहायता से भले ही ग्रहण कर लें और उन्हें मानवीय उपयोग का हिस्सा बना लें, किन्तु हमारे पास उनके अनुभव के लिए संवेदन-तत्र विकसित नही है। जो वस्तुएँ हमारे अनुभव-जगत् से बाहर हैं वे हमारे मूल्य-जगत् से भी बाहर हैं। हम जिसका अनुभव नही कर सकते उसके प्रति सौन्दर्य-दृष्टि भी नही अपना सकते। जाहिर है कि हम उनके गुणो को परिभाषित नही कर सकते।

रग का गुण रग की विशिष्टता के लिए की गयी हमारी परिभाषा ही है। रगो का अपना कोई अस्तित्व नही होता। इसीलिए, "यदि कोई भूरी पृष्ठभूमि पर अंकित लाल बिन्दु को लगातार देखे तो वह हरा दिखाई देने लगेगा।"[1] अगर सचमुच रंगो का अपना अस्तित्व होता तो ऐसा कभी न होता। जो लोग वर्णान्ध होते हैं वस्तुतः उनका सवेदन-तत्र उन विशिष्ट प्रकाश-तरगो को देखने मे अक्षम होता है। इसलिए कहने की जरूरत नही कि ऊर्जा-तरगो के विशिष्ट प्रसर के प्रति हमारे तत्र का विशिष्ट सम्बन्ध हमे रगो का आभास कराता है। प्रजातीय परिजीवन के तकाजों से उत्पन्न हमारा चाक्षुष बोध दृश्य जगत् से सम्बन्धित हमारे सौन्दर्य-मूल्य का आधार है।

हमारी ज्ञानेन्द्रियो (रिसप्टर्स) और कर्मेन्द्रियो (इफेक्टर्स) के विकास के बाद बाह्य जगत् से हमारा समस्त घात-प्रतिघात इनके माध्यम से होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ वस्तुजगत् के तत्वो को ग्रहण करती हैं। विकास के क्रम में हमने वस्तु के गुणो को विशिष्ट संवर्गों (कैटेगरीज) के रूप मे ग्रहण करने की शक्ति अर्जित की है। इन्हें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध के पाँच सवर्गों मे बाँटा गया है। वस्तुओ को संवर्गों मे ग्रहण करने की प्रक्रिया मे उसके गुण हमारे अनजाने ही विश्लेषित हो जाते हैं। यह हमारे तत्र का नैसर्गिक गुण है। यह नैसर्गिक गुण इसी बात मे प्रमाणित है कि हम रंगो को सुनते नहीं, या ध्वनियों को लाल, हरे या पीले के रूप मे देखते नही।

मनुष्य मे यह गुण विशेष है। पशु हल्की या तेज आवाज में फर्क कर सकता है, अपनी नैसर्गिक वृत्तियों के अनुरूप तत्सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ भी कर सकता है, लेकिन संगीत और शोर में फर्क नही कर सकता। भैंस के आगे बीन बजाने से कला का ही अनादर होता है। यही स्थिति पशुओं के रंग-बोध की है। पशु आमतौर पर रंगों

---

१. 'पर्क एण्ड दि ब्रेन, पृ० १६।

को अलग-अलग, बिम्ब में ग्रहण नही कर सकते, वे 'रंगो में विवेक नही कर सकते।''[१]

किन्तु मनुष्य में यह क्षमता बहुत अधिक विकसित है। मनुष्य के सौन्दर्य-बोध के विकास का उसकी इन विशिष्ट क्षमताओं से गहरा सम्बन्ध है।

हम जिन गुणों को अलग-अलग संवर्गों मे ग्रहण करते है वे मस्तिष्क में पहुँचते हैं और वहाँ संश्लेपित होते हैं। विश्लेषण और सश्लेषण के बाद हमे सश्लिष्ट वस्तु-बोध होता है। बिम्ब इस वस्तु-बोध का मूलभूत रूप है। हम फूल को देखते हैं और उसके विशिष्ट आकार-प्रकार, रग और गध के बिम्ब हमारी ग्राहिकाओं द्वारा हमारे मस्तिष्क मे पहुँचते हैं और सश्लेपित होकर वहाँ फूल के लिए एक विशिष्ट बिम्ब बन जाते हैं। दूसरे शब्दो मे, हमारे सवेदन-संज्ञो के जरिये वस्तु हमारे मस्तिष्क मे नही जाती, वरन् वस्तु का बिम्ब जाता है।

इसलिए बिम्ब को हम इन शब्दों मे परिभाषित कर सकते हैं : **बिम्ब वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान से उत्पन्न वस्तु-बोध है।** यह संवेदन-बिम्ब हमारी चेतना का अंग बन जाता है। और तब हम वस्तु की अनुपस्थिति में भी उसके बिम्ब के माध्यम से उसे स्मरण अथवा परिभाषित कर सकते हैं।

लेकिन डॉ० नगेन्द्र मानते हैं कि : बिम्ब किसी पूर्वानुभूत किन्तु तत्काल अनुपस्थित पदार्थ या घटना के गुणों या विशेषताओं के न्यूनाधिक पूर्ण मानसिक प्रत्यंकन—मानस-चित्र का नाम है'''बिम्ब किसी पदार्थ या घटना के **प्रत्यक्ष ज्ञान की पुनरावृत्ति** है जो मूल पदार्थ या बिना घटना के ही घटित होता है।[२]

बिम्ब और प्रतिबिम्ब मे लगभग ऐसा ही भेद सार्त्र ने भी किया था।[३] दोनों को इस तरह बिलगाने का प्रयत्न ठीक नहीं है। क्योंकि किसी वस्तु का ग्रहण हम तथाकथित प्रतिबिम्बों के माध्यम मे करते हैं। हमारे अन्तर्जगत् का निर्माण इन्हीं प्रतिबिम्बों के जरिये हुआ है। वस्तुतः हमारे अन्तर्जगत् मे उन वस्तुओं के बिम्ब होते हैं, जिनसे हमारा साक्षात्कार हुआ है, न कि स्वयं वे वस्तुएँ।

बिम्बों से निर्मित मनुष्य का अन्तर्जगत् अत्यन्त विकसित है। विकास प्रक्रिया मे अर्जित प्रतिस्मरण क्षमता ने मनुष्य को पशुओं से एकदम अलग धरातल पर

---

१. 'वर्क एण्ड दि ब्रेन', पृ० १५।

२. 'काव्य-बिम्ब' (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९), पृ० २२।

३. 'इमेजिनेशन', (अनु० फॉरेस्ट विलियम्स), भूमिका, पृ० V-VI।

पहुँचा दिया। बिम्बों से प्रत्यय के निर्माण की प्रक्रिया सौन्दर्य-मूल्यों के निर्धारण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रतिस्मरण की क्षमता के बगैर प्रत्यय विकसित नहीं हो सकते और प्रत्ययों के बगैर सौन्दर्य-मूल्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

वस्तु और गति के बिम्ब इन्द्रिय संवेदनों द्वारा हमारे मस्तिष्क में पहुँचते हैं। बिम्ब ग्रहण के दो स्तर है—संवेदन (सेंसेशन) और प्रत्यक्ष (पर्सेप्शन)। प्रत्यक्ष होते ही बिम्ब एक अनुभूति (फीलिंग) उत्पन्न करता है। इस प्रकार, वस्तु मनुष्य के सन्दर्भ में सगुण और अर्थवान् हो जाती है। इस गुणवत्ता और अर्थवत्ता को हम उपयोग और अनुरंजन के द्वन्द्व से पृथक् नहीं कर सकते।

प्रत्यक्ष के बाद बिम्ब मनुष्य की प्रत्यभिज्ञान और प्रतिस्मरण की क्षमता के कारण विश्लेषित-संश्लेषित और सामान्यीकृत होते हैं। इन प्रक्रियाओं से गुजर कर बिम्ब प्रत्यय में रूपान्तरित हो जाता है। **अतः प्रत्यय बिम्ब के अमूर्तन का परिणाम है।** *बिम्बों और प्रत्ययों से निर्मित अन्तर्जगत् वाले मनुष्य के लिए ही यह सम्भव था कि वह सौन्दर्य-बोध का विकास कर सके।*

सौन्दर्य-मूल्य जीवन-प्रक्रिया में विकसित हुए हैं। इसलिए जीवन-प्रक्रिया से उनका अविच्छेद्य सम्बन्ध है। जीवन के बगैर न अनुभूति का अस्तित्व सम्भव है और न सौन्दर्य का। **जीवन-प्रक्रिया में बाह्य-जगत् को ग्रहण करने के लिए विकसित की गयी युक्तियों में निहित आत्मगत मूल्य ही सौन्दर्य है।** अतएव सौन्दर्यानुभूति के लिए आत्मगत और वस्तुगत पक्षों की मौजूदगी समान रूप से अनिवार्य है। इसी *अर्थ में सौन्दर्य-मूल्य वस्तुगत और आत्मगत के द्वन्द्वात्मक अन्तःसम्बन्धों का प्रतिफल* है। यह द्वन्द्वात्मकता सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया में निसर्गतः अन्तर्निहित है; इसके लिए आत्म और वस्तु में सामंजस्य या सन्तुलन के आरोपण की जरूरत नहीं होती। इस द्वन्द्व के बगैर सौन्दर्य-बोध क्या, कोई भी बोध विकसित नहीं हो सकता।

सौन्दर्य की द्वन्द्वात्मक सत्ता को नजरंदाज करके हम एकांगिता का शिकार होने से नहीं बच सकते। चूँकि वस्तुओं के गुणों को ग्रहण करने की युक्तियाँ हमारे प्रजातीय विकास की देन हैं, अतः सौन्दर्य को आत्मगत मान कर उसकी स्वायत्तता और वस्तु-निरपेक्षता का तर्क देना अवैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है। और चूँकि वस्तुजगत् की जिस किसी भी अर्थवत्ता से हम परिचालित होते हैं, वह जीवन, बल्कि मानव-जीवन से सन्दर्भित है, इसलिए सौन्दर्य का बाह्य जगत् में ऐकान्तिक अधिष्ठान मानना यांत्रिक भौतिकवाद है। ऐसा करते समय हम केवल जीवन की उपेक्षा नहीं करते, वरन् यह भी भुला देते हैं कि वस्तुजगत् की मूल्यवत्ता और अर्थवत्ता मानव जीवन से सन्दर्भित होती है।

सौन्दर्य के अधिष्ठान की इस अन्तर्बाह्य द्वन्द्वात्मकता को रेखांकित करते हुए इवान प्रस्तखोव ने लिखा है—"**सौन्दर्य हमारे विचार और विचार की वस्तु दोनों में है।** जिसे हम आत्मगत धरातल पर सौन्दर्यात्मक आनन्द के रूप में अनुभव करते हैं वह हमारी अनुभूतियों और वस्तु के घात-प्रतिघात से निष्पन्न होता है।"[१]

इस द्वन्द्वात्मकता से सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता प्रमाणित होती है। इस वस्तुगत सत्ता को मानव-सन्दर्भ से काट कर नही देखा जा सकता। मनुष्य, बहैसियत एक सामाजिक प्राणी, इस समस्त सौन्दर्य-प्रक्रिया का केन्द्र-बिन्दु है। सोवियत चिन्तक जी०वी० प्लेखानोव मनुष्य के भौतिक और आत्मिक विकास का, सौन्दर्य सम्बन्धी अभिव्यक्तियों और अवधारणाओं से उसके सम्पन्न हो सकने की सम्भाव्यताओं के यथार्थ रूप मे परिणत होने की प्रक्रिया का आकलन वस्तुगत परिस्थितियों की निर्णायक भूमिका के परिप्रेक्ष्य में करते हैं। साथ ही वे निर्दिष्ट करते हैं कि "यही स्थितियाँ इस तथ्य को भी स्पष्ट करती है कि सामाजिक मनुष्य (अथवा कोई विशेष समाज, जनता या वर्ग) अपनी विशिष्ट सौन्दर्याभिरुचि और अवधारणाओं से क्यों सम्पन्न होते हैं।"[२]

सामाजिकता एक नैसर्गिक गुण है। मनुष्य के सन्दर्भ मे यह और भी सार्थक तथ्य बन गया है। मानवीय सन्दर्भ में सामाजिकता की भूमिका को परिभाषित करते हुए क्रिस्तोफर काडवेल ने समाज को व्यक्ति और प्रकृति के बीच एक दुर्दम मानवीय शक्ति के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। काडवेल समाज को व्यक्ति और प्रकृति के मध्य स्थित एक ऐसा घटक मानते हैं जो व्यक्ति के समक्ष सूर्य, पृथ्वी, वायु आदि सहित समस्त वातावरण के रूप में व्यवस्थित होता है, तथा प्रकृति के समक्ष एक सक्रिय मानवीय शक्ति के रूप में।[३]

समाज की इस मानवीय शक्ति ने मनुष्य में सुन्दर रूप और सुन्दर सगीत के प्रति आकर्षण उत्पन्न किया; उसके भाव-बोध को निद्रा, भय, मैथुन आदि की सहज वृत्तियों से ऊपर उठा कर मूल्य-बोध के स्तर तक पहुँचाया। मनुष्य के इस सामाजिक (मनुष्य-मात्र के सन्दर्भ में अद्वितीय) विकास की कुंजी है श्रम—जिसने उसमें निहित भौतिक और आत्मिक विकास की अपार सम्भावनाओ को साकार किया। रूप-रंग-गंध की वस्तुओं मे, उनके विशिष्ट अन्तःसबंधों और सन्तुलनों में

---

१. 'प्राब्लम्स ऑफ मॉडर्न इस्थेटिक्स', पृ० १७३।
२. 'आर्ट एण्ड सोशल लाइफ', पृ० ३१।
३. 'फरदर स्टडीज', पृ० ८६-७।

सौन्दर्य की अनुभूति कर सकने की मानवीय क्षमता ने हमें प्राणिजगत् में विशिष्ट धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया है। रंग-बिरंगे पक्षियों का सौन्दर्य-बोध केवल अपने नर-मादा तक सीमित रहता है।[१] किन्तु मनुष्य तो सौन्दर्य की दुनिया में प्रकृति का भी सफल प्रतिद्वन्द्वी बन बैठा है। उसकी इसी क्षमता को पहचान कर डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है : "सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता स्वयं उन वस्तुओं में है जिनके गुण पहचान कर हम उन्हें सुन्दर-असुन्दर की संज्ञा देते हैं।...आकार-प्रकार, रूप-रंग और घ्राण-स्पर्श आदि विषयों के अनुपात को हम सुन्दर-असुन्दर की संज्ञा देते हैं।"[२]

यदि हम न हों तो प्रकृति के इस अपार, अनुपम सौन्दर्य का क्या मूल्य रह जायेगा? जो सौन्दर्य मनुष्य की चेतना से स्वतंत्र है, जिसकी अपनी वस्तुगत सत्ता है, वह मनुष्य के अभाव में कितना सुन्दर या असुन्दर रह जायगा, यह केवल कल्पना करने की बात है। वस्तुगत सौन्दर्य, मानव-चेतना से स्वतंत्र जिसका अपना भौतिक अस्तित्व है, मनुष्य द्वारा सन्दर्भित होकर ही मूल्य में परिणत होता है। इसलिए सौन्दर्य की अवधारणा को मूल्य-बोध से निरपेक्ष नहीं माना जा सकता।

मनुष्य के श्रम सम्बन्धी कार्यों और उसकी सौन्दर्य-चेतना में सपाट रिश्ता भले न हो, लेकिन दोनों के बीच कितना गहरा सम्बन्ध है, यह श्रम और मनुष्य की चेतना के विकास की मंजिलों से ही प्रमाणित है। प्रकृति जीवों से कहीं अधिक पुरातन है। किन्तु मनुष्य के अतिरिक्त किसी जीवों में उसके सौन्दर्य का बोध या उसके प्रति ऐसी ललक नहीं दिखायी पड़ती। स्वयं मनुष्य में, हर युग में ही सौन्दर्य-चेतना का एक ही स्तर नहीं रहता। आदिम मनुष्य जब अपना और अपने वातावरण यानी प्रकृति का बोध अर्जित कर रहा था, तब प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति उसकी दृष्टि निश्चित रूप से या तो अविकसित रही होगी या विकास की शैशवावस्था में रही होगी।[३]

मनुष्य का विकास यूथ या रेवड़ के रूप में न होकर समाज के रूप में हुआ है। इसलिए सामाजिक विकास के युग में अर्जित मूल्य भी हमारी सौन्दर्याभिरुचियों को निर्धारित करते हैं। जैविक विकास के दौरान मुख्यतः हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ विकसित होती हैं। ज्ञानेन्द्रियों के विकास के साथ हमारे इन्द्रिय-संवेदन और इन्द्रिय-बोध का

---

१. 'दि डिसेंट ऑफ मैन', पृ० १०४।
२. 'लोक जीवन और साहित्य', पृ० ५-६।
३. 'प्राब्लम्स ऑफ माडर्न एस्थेटिक्स', पृ० १३६।

विकास होता है। श्रम प्रकृति से मनुष्य के रिश्ते को पूर्णतः बदल देता है। संगठन-बद्ध मनुष्य समाज में रूपान्तरित होता है। समाज उसकी चेतना के विकास के लिए नयी स्थितियाँ सुलभ करता है।

सामाजिक अनुशासन पशु-यूथ और मनुष्य के बीच सबसे बड़ा फर्क पैदा करता है। उसका आत्मगत अनुभूतियों का अन्तःसंसार पशु-पक्षियों की भाँति भय, निद्रा आदि मूल वृत्तियों तक सीमित नहीं होता। इसमें मानवीय भावों का विकास होता है।

सामूहिक जीवन बिताते हुए मनुष्य ने आदिम सामुदायिक अवस्था में जिन मूल्यों और भावों का विकास किया, सामाजिक विकास के साथ उनमें विकास, परिवर्तन और परिष्कार हुआ। ऋग्वेद में उर्वशी-पुरूरवा प्रसंग पर विचार करने से मालूम होता है कि यह मनुष्य के वस्तुनिष्ठ प्रेम की प्रथम अनुभूति की कथा है। सामूहिक विवाह के मूल्यों वाले आदिम समाज में एकनिष्ठ प्रेम की प्रथम अनुभूति सचमुच कैसी रही होगी। सामाजिक निषेधों के कारण एकनिष्ठ प्रेम की सफलता सम्भव न थी। इसलिए उर्वशी प्रथम उषा-सी आती है और स्वयं को वायु की तरह दुर्लभ बताती है।[1]

व्यक्तियों में आसक्ति हर युग में पायी जा सकती है, हालाँकि समय-समय पर उसकी सघनता में अन्तर होता है।[2] किन्तु परिभाषित रूप में प्रेम का भाव मानवीय बोध का सूचक है। मानवीय संघर्षों से मुक्त होकर ही प्रेम एक नैतिक मूल्य बनता है जिसे सोवियत सौन्दर्य-शास्त्री इवान अस्तखोव के अनुसार "समूचे मानवीय विकास" के सन्दर्भ में ही देखना चाहिए।[3]

यह स्पष्ट है कि मानवीय बोध और भावों के विकास के बिना सौन्दर्य-चेतना के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रकृति से मनुष्य का सम्बन्ध अधिक प्राचीन तथा स्थायी है। किन्तु प्रकृति में सौन्दर्य का दर्शन—यह मानवीय रूपान्तरण के बाद ही सम्भव है। अडोल्फो-सैंचेज वैज्म्वेज के शब्दों में, "मानवीकृत किये बिना प्रकृति स्वतः सौन्दर्य की परिधि के बाहर होती है।"[4] प्रकृति स्वयं सुन्दर नहीं हो सकती। सौन्दर्य की आवश्यकता मनुष्य को होती है, जैसे प्रेम की

---

१. 'ऋग्वेद' १०/९५/२।
२. 'द प्रोप ऑफ सोशबिलिटी', पृ० १०७।
३. 'प्राब्लम्स ऑव मॉडर्न एस्थेटिक्स', पृ० १६४।
४. 'आर्ट एण्ड सोसाइटी', पृ० ८६।

आवश्यकता मनुष्य को होती है। मनुष्य की प्रेम आदि भावनाओं मे उपयोग और अनुरजन का शाश्वत द्वन्द्व अन्तर्निहित है, जैसे सौन्दर्य में इनका द्वन्द्व अन्तर्निहित है। उपयोग और अनुरजन के अन्तस्सम्बन्ध को अन्योन्याश्रित मानते हुए विल ड्यूरॉ उपयोग को अनुरजन का आधार मानते हैं। वे कहते हैं, "सभी उपयोगी चीजें एक समय के बाद रुचिकर हो जाती हैं।"[1]

उपयोग से अनुरजन तक पहुँचने के बाद, मनुष्य में भावो और सौन्दर्य-बोध के विकास के बाद यह द्वन्द्व उच्चतर धरातलो पर पहुँचता है। सामाजिक विकास की प्रबल धारा मे प्रत्ययो के विकास के साथ अमूर्त तर्क विकसित होता है जो हमारे सोचने-समझने की क्षमता को विचारों के सूक्ष्म और अत्यन्त उन्नत धरातल पर प्रतिष्ठापित करता है।

समाज की रचना (सामाजिक सरचना) मनुष्य की चेतना को रूप प्रदान करती है। जिस तरह कबाइली समाज मे उर्वशी का प्रेम—आदिम मानव का एकनिष्ठ प्रेम—उसके लिए एक अपरिभाषित अनुभूति मात्र था, उसी तरह दास समाज का अंत-विरोध आरम्भ मे मनुष्य के सामने अस्पष्ट और अपरिभाषित था। किन्तु इन अन्त-विरोधो के मूलबद्ध होने के साथ मनुष्यों में जो परस्पर-अन्तर्विरोधी हित उभरने लगे, उनसे मनुष्य की सामाजिक चेतना का अछूता रहना अकल्पनीय है। यह सोचना निराधार है कि दासों और दास-स्वामियो की चेतना एक ही रही होगी। यही आधुनिक अर्थ में परिभाषित विचार अस्तित्व मे आते हैं।

सक्षेप में, विकास-क्रम की दृष्टि से हमारी चेतना के तीनो तत्त्व, इन्द्रिय-बोध, भाव और विचार क्रमशः अगली कड़ी के रूप मे विकसित हुए हैं। इन्द्रिय-बोध का आर्थिक जीवन से सबसे कम सम्बन्ध है और विचारों का इससे अधिक। इसीलिए आर्थिक परिवर्तन के साथ विचारो के क्षेत्र मे सबसे अधिक तेजी से परि-वर्तन घटित होता है और इन्द्रिय-बोध के धरातल पर सबसे कम…नही के बराबर।

आर्थिक परिवर्तन वर्गों की स्थिति मे परिवर्तन लाता है। इन्द्रिय-बोध, भाव और विचार के क्षेत्र में यह परिवर्तन वर्ग-हितों की अभिव्यक्ति की मात्रा और स्वरूप पर निर्भर करता है। डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दो में: "वर्गों का अपना राजनीतिक दृष्टिकोण होता है, करुणा और शृंगार आदि के क्षेत्र में भी उनके बहुत-कुछ अपने भाव होते हैं, कभी-कभी रूप-रस-गन्ध के क्षेत्र में भी स्वरूप और अभ्यस्त रस-दृष्टियों का अन्तर देखा जाता है। …विचारों के क्षेत्र में यह सबसे

१. 'दि प्लेज़र्स ऑफ़ फिलासफी', पृ० १६३।

अधिक होता है; भावों में उससे कम; इन्द्रिय-बोध में—जिसमें चित्र-सौन्दर्य, छन्द-संगीत आदि भी शामिल है—यह अन्तर प्रायः नहीं रह जाता।"[१]

कला एक संश्लिष्ट इकाई है। उसका सौन्दर्य इन्द्रिय-बोध, भाव और विचार में सम्यक् परिणाम द्वारा घटित होता है। जहाँ ये अलग-अलग या बेमेल हों, वहाँ कलात्मक सिद्धि नहीं होती। अतः सौन्दर्य-प्रक्रिया कला-सृजन के आन्तरिक मूल्य से सम्बद्ध है। कला-सृजन का यह आन्तरिक तर्क कला को शुद्ध विचार या विचारधारा का रूप होने से बचाता है।

वर्गों के आर्थिक-राजनीतिक हित विचारों के स्तर पर सर्वाधिक व्यक्त होते हैं इसलिए उनमें भौतिक परिवर्तन का सबसे अधिक और प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव विचारों की तुलना में कम और धीमी गति से पड़ता है भावों पर। मनुष्य का इन्द्रिय-बोध सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों से सबसे कम (नहीं के बराबर) प्रभावित होता है।

यह तथ्य एक ओर जहाँ आर्थिक जीवन से साहित्य और कला की सापेक्ष स्वतंत्रता को रेखांकित करता है वहीं दूसरी ओर सौन्दर्य-चेतना के थिराव (स्थायित्व) और परिवर्तन सम्बन्धी बहस को ठोस आधार और निश्चित स्वरूप प्रदान करता है।

सौन्दर्य-बोध का यह आन्तरिक चरित्र उसके वस्तुगत स्वरूप का निषेध नहीं करता। सौन्दर्य वस्तु और आत्म के द्वन्द्व का परिणाम होने के नाते प्रकृति, मानव-जीवन और मानव मन में है, इसीलिए सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता है। इसलिए शुद्ध, स्वायत्त अथवा निरपेक्ष सौन्दर्य की अवधारणाएँ काल्पनिक और विज्ञान-विरुद्ध प्रतीत होती हैं। सौन्दर्य-मूल्य हमारे नैतिक विकास का परिणाम है तो हमारे सामाजिक विकास की देन भी है। जैविक और सामाजिक विकास की प्रक्रियाओं में विरोध नहीं है। सभ्य मनुष्य समान रूप से दोनों की उत्पत्ति है। इसलिए मनुष्य के सौन्दर्य-मूल्यों का सम्बन्ध एक ओर प्रकृति और मनुष्य, समाज और व्यक्ति की द्वन्द्वात्मक प्रक्रियाओं से है और दूसरी ओर उपयोग और अनुरंजन के सतत द्वन्द्व से।

---

१. 'आस्था और सौन्दर्य', पृ० १६।

# सौन्दर्य और विचारधारा

सौन्दर्य सम्बन्धी रुचि और अवधारणा की आवश्यकता मनुष्येतर प्राणियों को नहीं होती। इस आवश्यकता की अनुभूति मनुष्य की प्रबल सृजनात्मक वृत्ति की सूचक है। जिस अनुपात में मानवीय सृजनवृत्ति तात्कालिकता के धरातल से उठ कर सशक्त और सघन होती गयी है, उसकी सौन्दर्याभिरुचि उसी अनुपात में अधिक गहन, अन्तरंग और चिरस्थायी होती गयी है। जो लोग मनुष्य के रचनात्मक चरित्र को सौन्दर्य का कारक नहीं मानते वे न केवल मनुष्य के जन्मदाता—श्रम—के रचनात्मक चरित्र से इन्कार करते हैं बल्कि खुद कला-सृजन में मनुष्य के सजग दायित्व से इन्कार करते हैं।

कला एक सृजनात्मक इकाई है। कलाकार इस सृजन का माध्यम है। सृजन-कर्म में सर्जक की निमित्तता को अतिरंजित करके देखने वाली दृष्टि कलाकार को सभी प्रकार के दायित्वों से मुक्त करती है। इस दृष्टि के अनुसार कोई अज्ञात सत्ता कलाकार को वशीभूत करके सृजन करा लेती है।[1] और कलाकार अवाक्, विवश, विस्मृत और स्तब्ध रह जाता है। 'असाध्य वीणा' शीर्षक कविता में अज्ञेय ने सृजनकर्म सम्बन्धी अपनी सैद्धान्तिक मान्यताएँ प्रतिपादित की हैं :

"श्रेय नहीं कुछ मेरा
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में—
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था...
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,

---

१. 'दि क्रियेटिव प्रॉसेस', पृ० १६४।

न वीणा का था
वह तो सब कुछ की तथता थी"[1]

यही नहीं, रचना-कर्म के सम्बन्ध में सजगता को वे अस्वास्थ्यकर मानते हैं।[2]

इसके विपरीत दूसरा दृष्टिकोण कलाकार के सजग और कर्ता व्यक्तित्व पर अमर्यादित बल देता है। कला की कृतकार्यता कला-सम्पादन का माध्यम बन जाने में नहीं, 'शिल्पी' या 'गढ़िया' बनने में है। इस मत के अनुसार कवि का कर्तृत्व उसकी इच्छा और संकल्प से शत-प्रतिशत अनुशासित होता है। कला के अपने आन्तरिक तर्क को पूर्णतः नजरदाज करके चलने वाली यह कल्पना भी अतिवादी है। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में 'गढ़िया' कवि को सच्चा कवि माना जाता था। इसका परिणाम भावहीन शिल्प-साधना और कामोत्तेजना के रूप में हमारे सामने है।

पहली स्थिति रचनाकर्म में रचनाकार को हर प्रकार के दायित्व से मुक्त करती है। दूसरी स्थिति उसकी सचेतन भूमिका और दायित्व-पक्ष पर अमर्यादित बल देती है। पहली स्थिति स्वयंस्फूर्तता और सहजता पर अतिरिक्त बल देती है; दूसरी स्थिति बुद्धि-विवेक साध्यता और असहजता पर।

यह निर्विवाद है कि दोनों अतिवाद अवैज्ञानिक और भ्रान्त हैं। एक-दूसरे से प्रकट अलगाव के बावजूद कलात्मक धरातल पर दोनों स्थितियाँ एकीभूत होती हैं। महान् कवियों में " 'रचयिता' और 'आविष्ट' दोनों का समन्वय हुआ करता है।"[3] यह समन्वय यांत्रिक अन्तस्सम्बन्ध न होकर द्वन्द्वात्मक एकता का सम्बन्ध होता है। इनमें द्वन्द्वात्मक सामासिकता का यह अन्तस्सम्बन्ध सौन्दर्यानुभूति से लेकर उसकी अभिव्यक्ति तक सश्लिष्ट रूप में विद्यमान रहता है। अनुभूति क्षण से लेकर अभिव्यक्ति क्षण तक की इस अत्यन्त जटिल और सश्लिष्ट विकास-प्रक्रिया को मुक्तिबोध इस प्रकार कहते हैं :

"वीरान मैदान, अँधेरी रात, खोया रास्ता, हाथ में एक पीली मद्धिम लालटेन। यह लालटेन समूचे पथ को पहले से उद्घाटित करने में असमर्थ है। केवल थोड़ी-सी जगह पर ही उसका प्रकाश है। ज्यों-ज्यों वह पग बढ़ाता जायेगा, थोड़ा-थोड़ा उद्घाटन होता जायेगा।"[4]

---

१. 'आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : अज्ञेय', पृ० १२६।
२. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृ० १५०।
३. रेनेवेलेक, ऑस्टिन वारेन : 'साहित्य सिद्धान्त', अनु० बी. एस. पालीवाल, पृ० १०६।
४. 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध', पृ० २६-२७।

लालटेन उन उद्योगों और अनुरोधो का प्रतीक है जिनके सहारे रचना बढ़ती है।[१]

कलाकार के इस आन्तरिक संघर्ष को नजरंदाज करने के नाते ही स्वयंस्फूर्तता या गढ़िया की आत्यतिक मान्यताएँ सामने आती हैं। इन सिद्धान्तों का सबसे बड़ा दोष यह है कि वे कला को कलाकार के अपने अनुभूत यथार्थ से काट देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कला यथार्थ जगत् से विच्छिन्न सर्वथा नवीन सृजन प्रतीत होती है। श्रीमती लैंगर के शब्दों मे,"कलाओ में व्यक्त प्रत्येक वस्तु का सृजन किया जाता है, वास्तविकता से कभी भी आयात नही किया जाता।"[२] भ्रम की गुंजाइश न छोडते हुए उन्होंने आगे और भी स्पष्ट किया है कि कला में सम्भाव्य वस्तु का 'पूर्णतः सृजन'[३] किया जाता है। श्री अर्न्स्ट क्रिस के विचार मे भी "कलाकार न तो प्रकृति का "पुनर्चित्रण" करता है, न उसका "अनुकरण" ही करता है, अपितु वह नये सिरे से इसकी रचना करता है।"[४]

कला जीवन की वास्तविकताओ का ब्यौरा नही होती। इसीलिए वह इतिहास या राजनीति से भिन्न होती है। वह मनुष्य और संसार के अन्तस्सम्बन्धो का सैद्धान्तिक विवेचन भी नही करती। इसलिए वह दर्शनशास्त्र से भी भिन्न होती है। किन्तु इस आधार पर हम श्रीमती लैंगर की भाँति कला के बिम्बों और वास्तविकताओ के बीच "तात्विक अन्तर"[५] प्रतिपादित नही कर सकते। कलाकार अपनी रचना में जिन बिम्बों की सृष्टि करता है वे इसी वस्तुजगत् के अनुभूत बिम्ब होते हैं। यह सही है कि बिम्बो का कलात्मक मूल्य उनकी यथातथ्यता में नही, कलाकार के 'संवेदनात्मक उद्देश्य' (मुक्तिबोध द्वारा प्रयुक्त पद) मे निहित होता है। इनमे से किसी एक पक्ष पर—वस्तुपक्ष या आत्मपक्ष पर—अमर्यादित बल देने पर हम कलासृजन की वास्तविक समझ तक, उसकी गहराइयो तक कभी नही पहुँच सकते।

कला की प्रेरणा आकाश से नही आती। अपने सृजनकर्म के लिए कलाकार यथार्थ से टकराता है। वह यथार्थ का अनुसरण करने के लिए उससे नही टकराता, बल्कि उसे आत्मसात् करने और उसे मानवीय महत्ता प्रदान करने के लिए उससे टकराता

१. 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध', पृ० २७।
२. 'प्राब्लम्स ऑफ आर्ट', पृ० ८४।
३. उपर्युक्त, पृ० १४८।
४. 'साइकोएनालिटिक एक्सप्लोरेशन इन आर्ट्स', पृ० ५१।
५. फीलिंग एण्ड फॉर्म, पृ० ४६।

है।[१] यथार्थ को आत्मसात् करने से लेकर उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति तक की आन्तरिक प्रक्रिया में कलाकार वास्तविकता का लोप नहीं कर देता। वह वास्तविकता के उस रूप का निषेध जरूर कर देता है जिससे उसे प्रथम अनुभूति प्राप्त हुई है। वह अपने अनुभूत सत्य को अपने संवेदनात्मक उद्देश्य के अनुरूप रूपाकार देता है और तब वह यथार्थ एक नये यथार्थ में परिणत हो जाता है। यह यथार्थ कलात्मक बिम्बों में व्यक्त होने वाला उच्चतर—सौन्दर्यात्मक—यथार्थ होता है। रचना की इस समूची आन्तरिक प्रक्रिया में कलाकार वस्तुजगत् के मूल अनुभवों में विच्छिन्न नहीं हो जाता। उसकी अनुभूतियाँ कलात्मक वस्तुजगत् के विशिष्ट साक्षात्कार का परिणाम होती हैं। इसीलिए मुक्तिबोध रचना-प्रक्रिया को 'बाह्य का आभ्यन्तरीकरण' और इस 'आभ्यंतर का बाह्यीकरण' कह कर परिभाषित करते हैं।[२] रचना-प्रक्रिया की जटिल अन्तर्बाह्य द्वन्द्वात्मकता के सम्बन्ध में रालफ-फाक्स ने लिखा था :

"कला एक साधन है जिसके द्वारा मानव वास्तविकता से जूझता और उसे आत्मसात् करता है। अपनी भीतरी चेतना की निहाई पर लेखक वास्तविकता रूपी लाल भभूका धातु को रखता, हथौड़ियों की चोट से ठोक-पीट कर अपने उद्देश्य के अनुकूल उसे नयी शक्ल में ढालता और एकदम बेसुध होकर ''विचारों के हिंस्र हथौड़े उस पर बरसाता है। सृजन की समूची प्रक्रिया, कलाकार की सम्पूर्ण वेदना वास्तविकता के साथ इसी हिंस्र द्वन्द्व में, और दुनिया का एक सत्यपूर्ण चित्र गढ़ने के प्रयास में, निहित है।"[३]

संक्षेप में, कलाकार यथार्थजगत् के साक्षात्कार से जागृत बिम्बों की कलात्मक बिम्बों के रूप में पुनर्रचना करता है। कला हमारे अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति है लेकिन उसे बाह्यजगत् के पार्थक्य में नहीं देखा जा सकता। हमारी चेतना से स्वतंत्र जो सत्ता है वही हमारे भीतर प्रतिबिम्बित होकर हमारे अन्तर्जगत् की रचना करती है। हमारा अन्तर्जगत बाह्यजगत् के प्रतिबिम्बित रूपों के अलावा हमारे निजी भावों, विचारों, संस्कारों, अनुभवों, प्रागनुभवों आदि से भी निर्मित होता है। इसलिए जब हम कला में अपने अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति करते हैं तो वस्तुतः यथार्थ का ही "सौन्दर्यात्मक और विचारधारात्मक मूल्यांकन" करते हैं।[४]

---

१. आर्ट एण्ड सोसाइटी, पृ० १०६।
२. 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष,' पृ० २७–२८।
३. 'उपन्यास और लोकजीवन,' पृ० २१।
४. 'फण्डामेण्टल्स ऑफ मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट फिलॉसफी,' पृ० ४८६।

इससे स्पष्ट है कि रचना सामान्य ( अर्थात् जीवन जगत् ) और विशिष्ट ( अर्थात् कलाकार ) के विशिष्ट अन्तस्सम्बन्ध का परिणाम है। कलाकार का आभ्यन्तरीकृत जीवन-यथार्थ जब उसके अन्तःकरण में पहुँचता है तब वह जीवन-मूल्य, जीवन-दृष्टि आदि के मनोवैज्ञानिक रूपों में ढल जाता है।[१] इसीलिए मुक्तिबोध लेखक को जीवन तथ्यों और भावो का स्रष्टा नही मानते, वरन् "उनका केवल अनुभविता, भोक्ता और अभिव्यंजक" मानते हैं। कारण यह कि "वस्तुतः वे जीवन तथ्य लेखक के भीतर उपस्थित होते हुए भी, अपने अस्तित्व के लिए मात्र उसकी सत्ता पर अवलम्बित नही रहते। वे सामाजिक अनुभवो के रूप में सबके हृदय मे विराजमान रहते हैं।"[२]

इसका यह अर्थ नही है कि कलाकार की अनुभूतियों और संवेदनाओ की कोई विशिष्ट भूमि नही होती। इसका केवल यह अर्थ है कि नित-नवीनताओ की ओर आकृष्ट होने वाले कलाकार की विशिष्ट और अद्वितीय अनुभूतियाँ उसके समग्र अस्तित्व की व्यंजक होती हैं और इसलिए उनकी विशिष्टता कलाकार की जीवन-दृष्टि और सामाजिक अनुभव-प्रतिबद्धता पर निर्भर होती है। यही कारण है कि कोई दो कलाकार समान विषय से, और समान विषय होने पर भी समान रूप से आन्दोलित नही होते। विषय ही वह केन्द्रीय उद्दीपक है जो हमारी मनःस्थिति और सजग प्रयत्न की अत्यन्त संश्लिष्ट और गतिशील समष्टि होता है। अतः महत्त्व दोनो बातो का है—

१. कौन-सा विषय उद्दीप्त करता है, और

२. यह उद्दीपक किस प्रकार उद्दीप्त करता है। अर्थात् ज्ञान, बुद्धि, अनुभवो, संस्कारो, रुचियो, मनःस्थितियो आदि से सम्पृक्त कलाकार विषय से कैसे उद्दीप्त होता है।

उदाहरण के लिए मृत्यु के साक्षात्कार से सम्बद्ध दो स्थितियाँ लें। एक ऐसी स्थिति है जिसमे महीने भर की रसद जोड़ कर बर्फ के नीचे दबे मकान में दार्शनिक बहस करते हुए मृत्यु का साक्षात्कार है।[३] और दूसरी स्थिति है 'गोदान' के होरी की मृत्यु की जिसमें सुबह-शाम की रसद जुटाने की चिन्ता करता हुआ व्यक्ति मौत के चक्के में पिस रहा है।[४] एक मौत भरे पेट की दार्शनिक ऊहा का परिणाम है

---

१. 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष,' पृ० ५।

२. 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,' पृ० १४५।

३. 'अज्ञेय : 'अपने-अपने अजनबी।

४. प्रेमचन्द : 'गोदान'।

जिसमें निष्क्रिय और नपुंसक ठंडापन है। दूसरी मौत जिन्दगी के जद्दोजहद में गले तक डूबे हुए बेबस आदमी की सचाई है जो सामाजिक अन्तर्विरोधों को निर्ममतापूर्वक उद्घाटित करती है और एक तिलमिला देने वाले व्यंग्य में परिणत होती है।

दोनों स्थितियाँ सच है। दोनों इसी समाज की सचाई हैं। दोनों दो जीवनानुभव से सम्बद्ध सचाइयाँ हैं। यह कलाकार की संवेदना, सहानुभूति और विचारधारा पर निर्भर है कि उसका अन्तर्जगत् किस सचाई से आन्दोलित होता है। यह दावा करना भ्रामक है कि "कलाकार यथार्थ से कुछ भी आयात नहीं करता।" इसके विपरीत, यह कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है कि कला वस्तुजगत् के साथ कलाकार के विशिष्ट सम्बन्ध को व्यक्त करने वाली कल्पना-सृष्टि है, इसलिए वह "जगत् की वस्तुओं के प्रति उसके प्रेम या घृणा का फल"[1] है। प्रेम या घृणा के भाव कलाकार को शून्य से नहीं मिलते। ये राग-द्वेष जगत् की वस्तुओं से उसके विशिष्ट साक्षात्कार का परिणाम होते हैं। जीवन के व्यावहारिक अनुभवों से निर्मित कलाकार का अन्तर्जगत् समूचे बाह्य यथार्थ के सन्दर्भ में कलाकार की स्थिति और इस स्थिति के प्रति कलाकार के दृष्टिकोण का परिणाम और व्यंजक है।

जिस प्रकार कला में केन्द्रीय महत्त्व विषय का है उसी प्रकार कलाकार के अन्तर्जगत् के सन्दर्भ में केन्द्रीय महत्त्व कलाकार के दृष्टिकोण का है। यह दृष्टिकोण बाह्य जगत् को ग्रहण और आत्मसात् करने, मूल्यबोध के धरातल पर उसे स्वीकार या अस्वीकार करने, तथा अपने निजी भावों, विचारों, संस्कारों, अनुभवों, प्रागनुभवों, मनःस्थितियों आदि के साथ उसका अविरोधात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की मूल धुरी है। इस आधारभूत दृष्टिकोण पर निर्भर विचारों की निश्चित पद्धति को, इस पद्धति के अन्तर्गत आने वाले मूल्यों, अभिरुचियों आदि को डेविड आप्टर विचारधारा के नाम से अभिहित करते हैं।[2] कला सर्जक के आन्तरिक मूल्य-जगत् से गहरे स्तर पर जुड़ी होती है, वह कलाकार के समूचे अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व को व्यंजित करती है। इसलिए वह कलाकार की विचारधारा को भी धारण करती है।

यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी विचारधारा निश्चित कर ले। एक ही व्यक्ति में भिन्न जीवन-प्रसंगों या स्थितियों में विरोधी वैचारिक संस्कार प्रकट हो सकते हैं। लेकिन इसे चिन्तन का दोष मानेंगे, गुण नहीं। जो व्यक्ति, जितना सजग और विवेकसम्पन्न होगा, जिसकी चेतना जिस अनुपात में

१. राल्फ फाक्स : 'उपन्यास और लोकजीवन,' पृ० १३।
२. 'आइडियालॉजी एण्ड डिस्कण्टेण्ट', पृ० १७।

इससे स्पष्ट है कि रचना सामान्य ( अर्थात् जीवन जगत् ) और विशिष्ट ( अर्थात् कलाकार ) के विशिष्ट अन्तस्सम्बन्ध का परिणाम है। कलाकार का आभ्यन्तरीकृत जीवन-यथार्थ जब उसके अन्त:करण में पहुँचता है तब वह जीवन-मूल्य, जीवन-दृष्टि आदि के मनोवैज्ञानिक रूपों में ढल जाता है।[1] इसीलिए मुक्तिबोध लेखक को जीवन तथ्यों और भावो का सृष्टा नही मानते, वरन् "उनका केवल अनुभविता, भोक्ता और अभिव्यंजक" मानते हैं। कारण यह कि "वस्तुत: वे जीवन तथ्य लेखक के *भीतर उपस्थित होते हुए भी, अपने अस्तित्व के लिए मात्र उसकी सत्ता पर* अवलम्बित नही रहते। वे सामाजिक अनुभवो के रूप मे सबके हृदय में विराजमान रहते हैं।"[2]

इसका यह अर्थ नही है कि कलाकार की अनुभूतियों और संवेदनाओ की कोई विशिष्ट भूमि नही होती। इसका केवल यह अर्थ है कि नित-नवीनताओं की ओर आकृष्ट होने वाले कलाकार की विशिष्ट और अद्वितीय अनुभूतियाँ उसके समग्र अस्तित्व की व्यंजक होती हैं और इसलिए उनकी विशिष्टता कलाकार की जीवन-दृष्टि और सामाजिक अनुभव-प्रतिबद्धता पर निर्भर होती है। यही कारण है कि कोई दो कलाकार समान विषय से, और समान विषय होने पर भी समान रूप से आन्दोलित नही होते। विषय ही वह केन्द्रीय उद्दीपक है जो हमारी मन:स्थिति और मजग प्रयत्न की अत्यन्त सश्लिष्ट और गतिशील समष्टि होता है। अत: महत्त्व दोनो बातों का है—

१. कौन-सा विषय उद्दीप्त करता है, और

२. यह उद्दीपक किस प्रकार उद्दीप्त करता है। अर्थात् ज्ञान, बुद्धि, अनुभवों, संस्कारो, रुचियों, मन:स्थितियो आदि से सम्पृक्त कलाकार विषय से कैसे उद्दीप्त होता है।

उदाहरण के लिए मृत्यु के साक्षात्कार से सम्बद्ध दो स्थितियाँ लें। एक ऐसी स्थिति है जिसमें महीने भर की रसद जोड़ कर बर्फ के नीचे दबे मकान में दार्शनिक बहस करते हुए मृत्यु का साक्षात्कार है।[3] और दूसरी स्थिति है 'गोदान' के होरी की मृत्यु की जिसमें सुबह-शाम की रसद जुटाने की चिन्ता करता हुआ व्यक्ति मौत के धक्के मे पिस रहा है।[4] एक मौत भरे पेट की दार्शनिक ऊहा का परिणाम है

---

१. 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष,' पृ० ५।

२. 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,' पृ० १४५।

३. 'अज्ञेय : 'अपने-अपने अजनबी'।

४. प्रेमचन्द : 'गोदान'।

जिसमें निष्क्रिय और नपुंसक ठंडापन है। दूसरी मौत जिन्दगी के जद्दोजहद में गले तक डूबे हुए बेवस आदमी की सचाई है जो सामाजिक अन्तर्विरोधों को निर्ममतापूर्वक उद्घाटित करती है और एक तिलमिला देने वाले व्यंग्य में परिणत होती है।

दोनों स्थितियाँ सच हैं। दोनों इसी समाज की सचाई हैं। दोनों दो जीवनानुभव से सम्बद्ध सचाइयाँ हैं। यह कलाकार की संवेदना, सहानुभूति और विचारधारा पर निर्भर है कि उसका अन्तर्जगत् किस सचाई से आन्दोलित होता है। यह दावा करना भ्रामक है कि "कलाकार यथार्थ से कुछ भी आयात नहीं करता।" इसके विपरीत, यह कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है कि कला वस्तुजगत् के साथ कलाकार के विशिष्ट सम्बन्ध को व्यक्त करने वाली कल्पना-सृष्टि है, इसलिए वह "जगत् की वस्तुओं के प्रति उसके प्रेम या घृणा का फल"[1] है। प्रेम या घृणा के भाव कलाकार को शून्य से नहीं मिलते। ये राग-द्वेष जगत् की वस्तुओं से उसके विशिष्ट साक्षात्कार का परिणाम होते हैं। जीवन के व्यावहारिक अनुभवों से निर्मित कलाकार का अन्तर्जगत् समूचे बाह्य यथार्थ के सन्दर्भ में कलाकार की स्थिति और इस स्थिति के प्रति कलाकार के दृष्टिकोण का परिणाम और व्यंजक है।

जिस प्रकार कला में केन्द्रीय महत्त्व विषय का है उसी प्रकार कलाकार के अन्तर्जगत् के सन्दर्भ में केन्द्रीय महत्त्व कलाकार के दृष्टिकोण का है। यह दृष्टिकोण बाह्य जगत् को ग्रहण और आत्मसात् करने, मूल्यबोध के धरातल पर उसे स्वीकार या अस्वीकार करने, तथा अपने निजी भावों, विचारों, संस्कारों, अनुभवों, अनानुभवों, मनःस्थितियों आदि के साथ उसका अविरोधात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की मूल धुरी है। इस आधारभूत दृष्टिकोण पर निर्भर विचारों की निश्चित पद्धति को, इस पद्धति के अन्तर्गत आने वाले मूल्यों, अभिरुचियों आदि को डेविड आप्टर विचारधारा के नाम से अभिहित करते हैं।[2] कला सर्जक के आन्तरिक मूल्य-जगत् से गहरे स्तर पर जुड़ी होती है, वह कलाकार के समूचे अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व को व्यंजित करती है। इसलिए वह कलाकार की विचारधारा को भी धारण करती है।

यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी विचारधारा निश्चित कर ले। एक ही व्यक्ति में भिन्न जीवन-प्रसंगों या स्थितियों में विरोधी वैचारिक संस्कार प्रकट हो सकते हैं। लेकिन इसे चिन्तन का दोष मानेंगे, गुण नहीं। जो व्यक्ति, जितना सजग और विवेकसम्पन्न होगा, जिसकी चेतना जिस अनुपात में

1. राल्फ फाक्स : 'उपन्यास और लोकजीवन,' पृ० १३।
2. 'आइडियालॉजी एण्ड डिसकण्टेण्ट', पृ० १७।

इससे स्पष्ट है कि रचना सामान्य (अर्थात् जीवन जगत्) और विशिष्ट (अर्थात् कलाकार) के विशिष्ट अन्तस्सम्बन्ध का परिणाम है। कलाकार का आभ्यन्तरीकृत जीवन-यथार्थ जब उसके अन्तःकरण में पहुँचता है तब वह जीवन-मूल्य, जीवन-दृष्टि आदि के मनोवैज्ञानिक रूपों में ढल जाता है।[१] इसीलिए मुक्तिबोध लेखक को जीवन तथ्यों और भावों का स्रष्टा नहीं मानते, वरन् "उनका केवल अनुभविता, भोक्ता और अभिव्यंजक" मानते हैं। कारण यह कि "वस्तुतः वे जीवन तथ्य लेखक के भीतर उपस्थित होते हुए भी, अपने अस्तित्व के लिए मात्र उसकी सत्ता पर अवलम्बित नहीं रहते। वे सामाजिक अनुभवों के रूप में सबके हृदय में विराजमान रहते हैं।"[२]

इसका यह अर्थ नहीं है कि कलाकार की अनुभूतियों और संवेदनाओं की कोई विशिष्ट भूमि नहीं होती। इसका केवल यह अर्थ है कि नित-नवीनताओं की ओर आकृष्ट होने वाले कलाकार की विशिष्ट और अद्वितीय अनुभूतियाँ उसके समग्र अस्तित्व की व्यंजक होती हैं और इसलिए उनकी विशिष्टता कलाकार की जीवन-दृष्टि और सामाजिक अनुभव-प्रतिबद्धता पर निर्भर होती है। यही कारण है कि कोई दो कलाकार समान विषय से, और समान विषय होने पर भी समान रूप से आन्दोलित नहीं होते। विषय ही वह केन्द्रीय उद्दीपक है जो हमारी मनःस्थिति और सृजन प्रयत्न की अत्यन्त संश्लिष्ट और गतिशील समष्टि होता है। अतः महत्त्व दोनों बातों का है—

१. कौन-सा विषय उद्दीप्त करता है, और

२. यह उद्दीपक किस प्रकार उद्दीप्त करता है। अर्थात् ज्ञान, बुद्धि, अनुभवों, संस्कारों, रुचियों, मनःस्थितियों आदि से सम्पृक्त कलाकार विषय से कैसे उद्दीप्त होता है।

उदाहरण के लिए मृत्यु के साक्षात्कार से सम्बद्ध दो स्थितियाँ लें। एक ऐसी स्थिति है जिसमें महीने भर की रसद जोड़ कर बर्फ के नीचे दबे मकान में दार्शनिक ऊहा करते हुए मृत्यु का साक्षात्कार है।[३] और दूसरी स्थिति है 'गोदान' के होरी की मृत्यु की जिसमें सुबह-शाम की रसद जुटाने की चिन्ता करता हुआ व्यक्ति मौत के चक्के में पिस रहा है।[४] एक भरे पेट की दार्शनिक ऊहा का परिणाम है

१. 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष,' पृ० ५।
२. 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,' पृ० १४५।
३. 'अज्ञेय : 'अपने-अपने अजनबी'।
४. प्रेमचन्द : 'गोदान'।

जिसमें निष्क्रिय और नपुंसक ठंडापन है। दूसरी मौत जिन्दगी के जद्दोजहद में गले तक डूबे हुए बेबस आदमी की सचाई है जो सामाजिक अन्तर्विरोधों को निर्ममतापूर्वक उद्घाटित करती है और एक तिलमिला देने वाले व्यंग्य में परिणत होती है।

दोनों स्थितियाँ सच है। दोनों इसी समाज की सचाई हैं। दोनों दो जीवनानुभव से सम्बद्ध सचाइयाँ है। यह कलाकार की संवेदना, सहानुभूति और विचारधारा पर निर्भर है कि उसका अन्तर्जगत् किस सचाई से आन्दोलित होता है। यह दावा करना भ्रामक है कि "कलाकार यथार्थ से कुछ भी आयात नहीं करता।" इसके विपरीत, यह कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है कि कला वस्तुजगत् के साथ कलाकार के विशिष्ट सम्बन्ध को व्यक्त करने वाली कल्पना-सृष्टि है, इसलिए वह "जगत् की वस्तुओं के प्रति उसके प्रेम या घृणा का फल"[1] है। प्रेम या घृणा के भाव कलाकार को शून्य से नहीं मिलते। ये राग-द्वेष जगत् की वस्तुओं से उसके विशिष्ट साक्षात्कार का परिणाम होते है। जीवन के व्यावहारिक अनुभवों से निर्मित कलाकार का अन्तर्जगत् समूचे बाह्य यथार्थ के सन्दर्भ में कलाकार की स्थिति और इस स्थिति के प्रति कलाकार के दृष्टिकोण का परिणाम और व्यंजक है।

जिस प्रकार कला में केन्द्रीय महत्त्व विषय का है उसी प्रकार कलाकार के अन्तर्जगत् के सन्दर्भ में केन्द्रीय महत्त्व कलाकार के दृष्टिकोण का है। यह दृष्टिकोण बाह्य जगत् को ग्रहण और आत्मसात् करने, मूल्यबोध के धरातल पर उसे स्वीकार या अस्वीकार करने, तथा अपने निजी भावों, विचारों, संस्कारों, अनुभवों, प्रागनुभवों, मनःस्थितियों आदि के साथ उसका अविरोधात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की मूल धुरी है। इस आधारभूत दृष्टिकोण पर निर्भर विचारों की निश्चित पद्धति को, इस पद्धति के अन्तर्गत आने वाले मूल्यों, अभिरुचियों आदि को डेविड आप्टर विचारधारा के नाम से अभिहित करते हैं।[2] कला सर्जक के आन्तरिक मूल्य-जगत् से गहरे स्तर पर जुड़ी होती है, वह कलाकार के समूचे अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व को व्यंजित करती है। इसलिए वह कलाकार की विचारधारा को भी धारण करती है।

यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी विचारधारा निश्चित कर ले। एक ही व्यक्ति में भिन्न जीवन-प्रसंगों या स्थितियों में विरोधी वैचारिक संस्कार प्रकट हो सकते हैं। लेकिन इसे चिन्तन का दोष मानेंगे, गुण नहीं। जो व्यक्ति, जितना सजग और विवेकसम्पन्न होगा, जिसकी चेतना जिस अनुपात में

---

१. राल्फ फाक्स : 'उपन्यास और लोकजीवन,' पृ० ९१।

२. 'आइडियालॉजी एण्ड डिस्कन्टेण्ट', पृ० १७।

आवयविक और अन्तर्विरोधरहित होगी उसकी विचारधारा उसी अनुपात में अखण्ड, निर्भ्रान्त और समर्थ होगी। मानव समाज और चेतना का विकास व्यवस्थाबद्धता और सजगता की दिशा में हुआ है। विचारधारा व्यवस्थाबद्ध चिन्तन का परिणाम है। इन्द्रियजन्य ज्ञान से विचारात्मक ज्ञान तक का विकास यह रेखांकित करता है कि मानव-चेतना का विकास सीमित से विस्तृत की दिशा में हुआ है तथा बौद्धिकीकरण और सजगता की भूमिका उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। मानव-चेतना के विकास की इस गति को समझते हुए शुक्ल जी ने भावप्रसार को ज्ञानप्रसार में निहित बताया है, और इस प्रकार बौद्धिकीकरण की बढ़ती हुई भूमिका को भाव एवं ज्ञान की व्यापकता का आधार बताया है।[1]

मनुष्य की भौतिक और आत्मिक सीमाएँ तोड़ कर उसकी सृजनात्मक क्षमताओं के नये-नये क्षितिज उद्घाटित करने में विज्ञान की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विज्ञान मनुष्य के बौद्धिक विकास का चरमोत्कर्ष है। विज्ञान की विशेषता यह है कि उसने ज्ञान और कर्म को पारस्परिक सम्बद्धता में परिभाषित किया है। जेम्स कोनेन्ट ने विज्ञान को निरीक्षणों-परीक्षणों पर आधारित तथा भावी निरीक्षणों-परीक्षणों में मददगार प्रत्ययों और अवधारणात्मक पद्धतियों की अन्तस्सम्बद्ध शृंखला[2] कह कर सिद्धान्त और व्यवहार के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को ही विज्ञान का आधार बताया है। यह द्वन्द्वात्मकता मानव समाज और मानव-चेतना के विकास की मूल धुरी है। इस द्वन्द्वात्मक अन्तरसम्बन्ध के बिना मनुष्य के रूप में मनुष्य का विकास ही सम्भव नहीं था। अपने परिवेश से जटिल क्रियात्मक सम्बन्ध मनुष्य के भौतिक और आत्मिक विकास का आधार है, यह हम पहले अध्याय में देख चुके हैं। मनुष्य का अपने परिवेश में यह सम्बन्ध जिस अनुपात में जटिलतर होता गया बाह्य जगत् को ग्रहण करने की मनुष्य की आन्तरिक युक्ति उसी अनुपात में जटिल होती गयी। विचारधारा व्यक्ति की अपने परिवेश से साक्षात्कार की मूल युक्ति है। इसलिए वह बाह्यजगत् से मनुष्य के घात-प्रतिघातात्मक सम्बन्ध को, इस सम्बन्ध के प्रति मनुष्य की सजगता को व्यक्त करने वाली व्यवस्थित अन्तर्दृष्टि का पर्याय होती है।

कुछ विद्वान् विचारधारा को भ्रान्त और मिथ्या चेतना से बढ़ कर कुछ नहीं मानते। श्लेसिंजर के मतानुसार विचारधारा वास्तविकताओं की तस्वीर न होकर वास्तविकताओं से ग्रहण किया गया आदर्श होती है इसलिए वह यथार्थ के अनेक-

---

1. 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'रस-मीमांसा', पृ० १६।
2. 'साइंस एण्ड कॉमन सेंस,' पृ० २५।

ज्वलन्त पहलुओं की उपेक्षा करती है।[1] इस परिभाषा की असंगति यह है कि इसमें मनुष्य के चिन्तन को यथार्थ का यांत्रिक प्रतिबिम्ब माना गया है। विचारधारा वास्तविकता से टकराती है, वास्तविकता के सन्दर्भ मे मनुष्य की स्थिति से प्रभावित होती है और वास्तविकता को अपने अनुरूप ढालने का यत्न करती है, इन बातो को नजरदाज करके चलने के परिणामस्वरूप वे विचारधारा की सक्रिय भूमिका को पहचान पाने में असमर्थ रहते हैं। वास्तविकताओं के ग्रहण से आदर्श का निर्माण भी वस्तुतः विचारधारा का एक कार्य है। कला सम्बन्धी कार्य में विचारधारा की यह भूमिका अनेक रूपों मे प्रकट होती है। सामाजिक विरोधो से घिरे वर्तमान समाज मे कलाकार न तो यथार्थ की उपेक्षा कर सकता है और न आदर्शों और मूल्यो के अपने आन्तरिक जगत् की। कलाकार जिस सामाजिक समुदाय का अग होगा या जिससे खुद को जोडेगा उसके आदर्शों और मूल्यो को भी अपनायेगा। लेकिन अगर वह इन अन्तविरोधों में अपने को पक्षधर न बना कर तटस्थ रहना चाहता है तो भी उसे वास्तविकता के अपने साक्षात्कार के आधार पर एक आदर्शजगत् और मूल्य-जगत् की रचना करनी होगी। इस आन्तरिक जगत् से खुद को जोड कर ही वह कला की साधना कर सकता है। सम्भवतः इसीलिए जोसेफ च्यारी यह मानते हैं कि "सृजनात्मक कल्पना सोद्देश्य कल्पना होती है।"[2]

कलात्मक सोद्देश्यता का स्वरूप क्या है यह कलाकार की सामाजिक और वैचारिक प्रतिबद्धता या सहानुभूति पर निर्भर है। सच पूछा जाय तो कलाकार द्वारा समाज या उसके अन्तर्विरोधो के अतिक्रमण की कल्पना भी असम्भव है। आज की सामाजिक स्थिति ऐसी नही है कि दैनन्दिन जीवन की चिन्ताओं से सर्वथा मुक्त होकर हम दस्तकारी या कला के किसी क्षेत्र में सर्वतोभावेन निमग्न हो जायें। आदिम समाज में मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित थी। उसका सार्थक क्रिया-व्यापार भी सीमित था। शिकारादि सम्बन्धी उत्पादन-धर्म मूलतः व्यक्ति-प्रयास पर निर्भर था। आज का उत्पादन अत्यन्त जटिल सामाजिक चरित्र ग्रहण कर चुका है। कला के धर्म के निर्वाह के लिए आज रचनाकार-व्यक्ति की आन्तरिक तैयारी और इच्छा ही पर्याप्त नही है। सामाजिक तन्त्र उसमे बाधा बनता है। श्रम और सम्पत्ति के अन्तर्विरोध पर आधारित सामाजिक उत्पादन जिस तन्त्र को जन्म देता है वह कलाकार की कलात्मक संलग्नता का नियमन करता है। सम्पत्तिशाली वर्ग के रचनाकार

---

१. पाथ्स ऑफ अमेरिकन थॉट, पृ० ५३४।

२. 'आर्ट एण्ड नॉलिज', पृ० ४१।

समस्याओं से मुक्त होते हैं, वे चाहें तो कलात्मक सिद्धि के लिए जीवन अर्पण कर सकते हैं। जिन्हें खाने-पीने जैसी तुच्छ और मामूली समस्याओं के समुद्र में असहाय की भाँति संघर्ष करना हो, वे कला और सौन्दर्य की साधना किस प्रकार करें? उनकी अत्यन्त साधारण समस्याएँ श्रम के शोषण और तिरस्कार पर आधारित सम्पत्तिमूलक समाज की उत्पत्ति हैं और ये चिन्ताएँ उसकी रचनात्मक इच्छा को बाधित करती हैं।

कलाकार इसी समाज में रहता है इसलिए वह श्रम और सम्पत्ति के सम्बन्धों से उत्पन्न सामाजिक समुदायों से परे नहीं रह सकता। वह अपने जाने-अनजाने या चाहे-अनचाहे समाज के किसी-न-किसी समुदाय का सदस्य होता है। कलाकार की विचारधारा और उसका साहित्य उसकी इस सामाजिक क्षति से प्रभावित होते हैं। अर्थात् सामाजिक स्थितियाँ मनुष्य की वैयक्तिक स्थिति को प्रभावित करती हैं, इसलिए वर्ग-विभक्त समाज में सम्पत्ति और श्रम से सम्बद्ध विचारधाराओं को प्रभावित करते हैं। विचारधारा की इस वर्गीय प्रकृति को रेखांकित करते हुए लेनिन ने कहा था कि "वर्ग-वैषम्य में जीर्ण समाज में गैर-वर्गीय या वर्गेतर विचारधारा का अस्तित्व सम्भव नहीं है।"[1]

सौन्दर्य-बोध विचारधारा की ही तरह मानव-संतान का एक अंग है, उसके वर्ग-विभाजन से निरपेक्ष रहने की बात करना भ्रामक है। वर्ग-विभाजन के मानव-चेतना पर पड़ने वाले प्रभाव को नजरंदाज करके श्री स्टेस सौन्दर्य-निर्णय को "सभी मनुष्यों का सत्य" बताते हैं।[2] किन्तु आगे चल कर वे स्वयं अपनी बात सिद्ध कर सकने में असमर्थ रहे। उन्होंने यह शंका उठाई कि सौन्दर्य के सार्वभौम चरित्र की कल्पना वास्तव में विवादास्पद है। इसका समाधान तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण पर निर्भर है। सत्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अपनाये गये दृष्टिकोण का सवाल सौन्दर्य-शास्त्र से बाहर का सवाल है।[3] इसलिए न वे सौन्दर्य-निर्णय की सार्वभौमता प्रमाणित कर सके और न अपनी शंका का समाधान ही प्रस्तुत कर सके।

श्री स्टेस ने सौन्दर्य-निर्णय के प्रश्न पर अपनाये गये हमारे दृष्टिकोण को केन्द्रीय महत्व प्रदान करके इस सम्भावना की ओर संकेत कर दिया कि उसे व्यक्ति के सामाजिक सन्दर्भ में देखा जाय। अन्तर्विरोधपूर्ण समाज में सत्य के सार्वभौम चरित्र की कल्पना अधिक-से-अधिक हमारी सदिच्छा को व्यक्त करती है, हमारे अध्ययन की व्यावहारिकता को नहीं। हावर्ड फास्ट ने वर्ग-समाजों में सत्य के चरित्र

१. 'लेनिन : कलेक्टेड वर्क्स', पृ० १८४।
२. 'द मीनिंग ऑफ ब्यूटी', पृ० २०६।
३. उपर्युक्त, पृ० २०६।

को सार्वभौम या तटस्थ न मान कर पक्षधर माना है।[1] उन्होंने हड़ताल के चित्रांकन का उदाहरण देकर यह बताया है कि हड़ताल के सम्बन्ध में अपनाया गया कलाकार का दृष्टिकोण उसकी वैचारिक प्रतिबद्धता पर निर्भर है। हड़ताल यदि मालिक के पक्ष से उसकी सम्पत्ति और मुनाफे पर गैरकानूनी हमला है तो मजदूरों के लिए वह जीवन-मरण का सवाल हो सकती है। ऐसा सम्भव नहीं है कि कलाकार उसे मालिकों और मजदूरों दोनों के पक्ष में देखे। जनता के अलग-अलग समुदाय अपनी स्थितियों और जरूरतों के अनुसार हड़ताल के सम्बन्ध में अलग-अलग दृष्टिकोण अपना सकते हैं। कलाकार उनमें से किसी एक के दृष्टिकोण से हड़ताल का चित्रांकन कर सकता है। किन्तु वह अपनी विशिष्ट स्थिति से और उस स्थिति से हड़ताल के प्रति उत्पन्न हिताहित विवेक से तटस्थ नहीं हो सकता।[2]

यह सही है कि समाज में वर्गों-उपवर्गों के अनेक संवादी-विसंवादी हित होते हैं। वे आपस में अलग-अलग धरातलों पर संवाद-विसंवाद के भिन्न समुच्चय बनाते हैं। पूँजीवादी क्रांति के बाद वर्ग-विरोध सरल और उग्र हो जाते हैं, किन्तु पुरानी सामाजिक संरचनाओं के अवशेष बखूबी मौजूद रहते हैं। आदिवासियों के रूप में अगर आदिम सामुदायिक समाज के अवशेष पाये जा सकते हैं तो कानूनी खात्मे के बावजूद बन्धक श्रम प्रथा के रूप में भूदास समाज के ध्वंसावशेष भी कुछ कम तादाद में नहीं हैं। नम्बरदारी आदि तरह-तरह के पेशे के लोग सामंतवाद की उपज हैं। आज भी उन्हें हर गली-मुहल्ले में आदमी को आटे-दाल की गठरी बना कर पेट ठोंकते या बन्दर-भालुओं के साथ नाचते हुए देखा जा सकता है। राजा-रानियों और जमींदारों को कानून ने खत्म कर दिया है; उनका सामाजिक-आर्थिक अस्तित्व और प्रभाव भी खत्म हो गया है, यह दावा नहीं किया जा सकता। सामाजिक हितों और हित-समुच्चयों की बहुलता के अनुपात में विचारधाराओं की बहुलता देखी जा सकती है।

इसी सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विचारधारा का अध्ययन करते हुए सोवियत सिद्धान्तकार मोस्क्विचोव ने लिखा है : "विचारधारा किसी समाज, वर्ग या सामाजिक समुदाय की चेतना है जिसका निर्धारण उसके अस्तित्व की भौतिक स्थितियों द्वारा होता है तथा जो उसके व्यावहारिक क्रिया-कलाप को दिशा, सिद्धान्त और आदर्श प्रदान करती है।"[1]

पूँजीवाद और उसमें अवशिष्ट पुरानी सामाजिक संरचनाओं से व्यापक रूप में जिन वर्गों-उपवर्गों की हित-सिद्धि होती है वे आपसी हित-टकराव और तज्जन्य विचार-

---

1. 'लिटरेचर एण्ड रियलिटी', पृ० २१।
2. उपर्युक्त, पृ० २१।
3. 'दि एण्ड ऑफ आइडियालॉजी थियरी : इल्यूजस एण्ड रियलिटी', पृ० ६६।

समस्याओं से मुक्त होते हैं, वे चाहें तो कलात्मक सिद्धि के लिए जीवन अर्पण कर सकते हैं। जिन्हें खाने-पीने जैसी तुच्छ और मामूली समस्याओं के समुद्र में असहाय की भाँति संघर्ष करना हो, वे कला और सौन्दर्य की साधना किस प्रकार करें? उनकी अत्यन्त साधारण समस्याएँ श्रम के शोषण और तिरस्कार पर आधारित सम्पत्तिमूलक समाज की उत्पत्ति हैं और ये चिन्ताएँ उसकी रचनात्मक इच्छा को बाधित करती हैं।

कलाकार इसी समाज में रहता है इसलिए वह श्रम और सम्पत्ति के सम्बन्धों से उत्पन्न सामाजिक समुदायों से परे नहीं रह सकता। वह अपने जाने-अनजाने या चाहे-अनचाहे समाज के किसी-न-किसी समुदाय का सदस्य होता है। कलाकार की विचारधारा और उसका साहित्य उसकी इस सामाजिक स्थिति से प्रभावित होते हैं। अर्थात् सामाजिक स्थितियाँ मनुष्य की वैयक्तिक स्थिति को प्रभावित करती हैं, इसलिए वर्ग-विभक्त समाज में सम्पत्ति और श्रम से सम्बद्ध विचारधाराओं को प्रभावित करते हैं। विचारधारा की इस वर्गीय प्रकृति को रेखांकित करते हुए लेनिन ने कहा था कि "वर्ग-वैषम्य में जीर्ण समाज में गैर-वर्गीय या वर्गेतर विचारधारा का अस्तित्व सम्भव नहीं है।"[१]

सौन्दर्य-बोध विचारधारा की ही तरह मानव-संतान का एक अंग है, उसके वर्ग-विभाजन से निरपेक्ष रहने की बात करना भ्रामक है। वर्ग-विभाजन के मानव-चेतना पर पड़ने वाले प्रभाव को नजरंदाज करके श्री स्टेस सौन्दर्य-निर्णय को "सभी मनुष्यों का सत्य" बताते हैं।[२] किन्तु आगे चल कर वे स्वयं अपनी बात सिद्ध कर सकने में असमर्थ रहे। उन्होंने यह शंका उठाई कि सौन्दर्य के सार्वभौम चरित्र की कल्पना वास्तव में विवादास्पद है। इसका समाधान तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण पर निर्भर है। सत्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अपनाये गये दृष्टिकोण का सवाल सौन्दर्य-शास्त्र से बाहर का सवाल है।[३] इसलिए न वे सौन्दर्य-निर्णय की सार्वभौमता प्रमाणित कर सके और न अपनी शंका का समाधान ही प्रस्तुत कर सके।

श्री स्टेस ने सौन्दर्य-निर्णय के प्रश्न पर अपनाये गये हमारे दृष्टिकोण को केन्द्रीय महत्त्व प्रदान करके इस सम्भावना की ओर संकेत कर दिया कि उसे व्यक्ति के सामाजिक सन्दर्भ में देखा जाय। अन्तर्विरोधपूर्ण समाज में सत्य के सार्वभौम चरित्र की कल्पना अधिक-से-अधिक हमारी सदिच्छा को व्यक्त करती है, हमारे अध्ययन की व्यावहारिकता को नहीं। हावर्ड फास्ट ने वर्ग-समाजों में सत्य के चरित्र

१. 'लेनिन : सलेक्टेड वर्क्स', पृ० ३८४।
२. 'दि मीनिंग ऑफ ब्यूटी', पृ० २०६।
३. उपर्युक्त, पृ० २०६।

को सार्वभौम या तटस्थ न मान कर पक्षधर माना है।[1] उन्होंने हड़ताल के चित्रांकन का उदाहरण देकर यह बताया है कि हड़ताल के सम्बन्ध में अपनाया गया कलाकार का दृष्टिकोण उसकी वैचारिक प्रतिबद्धता पर निर्भर है। हड़ताल यदि मालिक के पक्ष से उसकी सम्पत्ति और मुनाफे पर गैरकानूनी हमला है तो मजदूरों के लिए वह जीवन-मरण का सवाल हो सकती है। ऐसा सम्भव नहीं है कि कलाकार उसे मालिकों और मजदूरों दोनों के पक्ष में देखे। जनता के अलग-अलग समुदाय अपनी स्थितियों और जरूरतों के अनुसार हड़ताल के सम्बन्ध में अलग-अलग दृष्टिकोण अपना सकते हैं। कलाकार उनमें से किसी एक के दृष्टिकोण से हड़ताल का चित्रांकन कर सकता है। किन्तु वह अपनी विशिष्ट स्थिति से और उस स्थिति से हड़ताल के प्रति उत्पन्न हिताहित विवेक से तटस्थ नहीं हो सकता।[2]

यह सही है कि समाज में वर्गों-उपवर्गों के अनेक संवादी-विसंवादी हित होते हैं। वे आपस में अलग-अलग धरातलों पर संवाद-विसंवाद के भिन्न समुच्चय बनाते हैं। पूँजीवादी क्रांति के बाद वर्ग-विरोध सरल और उग्र हो जाते हैं, किन्तु पुरानी सामाजिक संरचनाओं के अवशेष बखूबी मौजूद रहते हैं। आदिवासियों के रूप में अगर आदिम सामुदायिक समाज के अवशेष पाये जा सकते हैं तो कानूनी खात्मे के बावजूद बन्धक श्रम प्रथा के रूप में भूदास समाज के ध्वंसावशेष भी कुछ कम तादाद में नहीं हैं। नम्बरदारी आदि तरह-तरह के पेशे के लोग सामंतवाद की उपज हैं। आज भी उन्हें हर गली-मुहल्ले में आदमी को आटे-दाल की गठरी बना कर पेट ठोकते या बन्दर-भालुओं के साथ नाचते हुए देखा जा सकता है। राजा-रानियों और जमींदारों को कानून ने खत्म कर दिया है; उनका सामाजिक-आर्थिक अस्तित्व और प्रभाव भी खत्म हो गया है, यह दावा नहीं किया जा सकता। सामाजिक हितों और हित-समुच्चयों की बहुलता के अनुपात में विचारधाराओं की बहुलता देखी जा सकती है।

इसी सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विचारधारा का अध्ययन करते हुए सोवियत सिद्धान्तकार मॉस्क्विचोव ने लिखा है : "विचारधारा किसी समाज, वर्ग या सामाजिक समुदाय की चेतना है जिसका निर्धारण उसके अस्तित्व की भौतिक स्थितियों द्वारा होता है तथा जो उसके व्यावहारिक क्रिया-कलाप को दिशा, सिद्धान्त और आदर्श प्रदान करती है।"[3]

पूँजीवाद और उसमें अवशिष्ट पुरानी सामाजिक संरचनाओं से व्यापक रूप में जिन वर्गों-उपवर्गों की हित-सिद्धि होती है वे आपसी हित-टकराव और तज्जन्य विचार-

१. 'लिटरेचर एण्ड रियलिटी', पृ० २१।
२. उपर्युक्त, पृ० २१।
३. 'दि एण्ड ऑफ आइडियालॉजी थियरी : इल्यूजंस एण्ड रियलिटी', पृ० ९९।

धारात्मक पार्थक्य के बावजूद यथास्थिति के हिमायती होते हैं। मनुष्य की असमर्थता और हीनता का दर्शन प्रतिपादित करके वे निष्क्रियता और भाग्यवाद का पाठ पढ़ाते हैं। कलाकार "समाज के किसी भी तात्कालिक सुधार मे अपनी असमर्थता अनुभव करता है...।"[१] भावी परिवर्तन की भयावहता का प्रचार करके वे किसी भी सामाजिक परिवर्तन के प्रति लोगों की आस्था डिगाते हैं : "अमुक दलित वर्ग जब क्रान्ति के जार से शास्ता वर्ग बन बैठा है, तब मालूम हुआ कि वही शोषक बन गया है।"[२] इसलिए समाज के वर्गीय चरित्र और दिनोंदिन उग्र होते हुए वर्ग-विरोधों को छिपाने या नजरदाज करने की कोशिश करते हैं और जन-संघर्षों को कुण्ठित करने के लिए यह सीख देते हैं कि "...संघर्ष से परे अस्तित्व ही तो सार्थकता है—स्वयं अर्थ है...।"[३]

यथास्थितिवादी शक्तियों की प्रगति-विरोधी भूमिका का उद्घाटन करते हुए मॉस्तिश्चोव ने लिखा था : "न तो सभी वर्ग-हित सामाजिक प्रगति को, सामाजिक अन्तर्विरोधों और समस्याओं के समाधान को प्रोत्साहित करते हैं, न ही सभी वर्ग हमेशा सामाजिक उत्पादन, विज्ञान और संस्कृति के स्वस्थ विकास में रुचि रखते हैं, क्योंकि ऐसी प्रगति उनके अस्तित्व को ही खतरे में डाल सकती है।"[४]

इसके विपरीत, अनेकानेक वर्गों-उपवर्गों में विभक्त जन-समुदाय है जिसके हित वर्तमान वर्ग-विरोधों से बाधित होते हैं। वर्ग-समाज श्रम के शोषण पर टिके होते हैं इसलिए श्रमजीवी जन-समुदाय शोषक तंत्र को बदलना चाहता है। सम्भव है, उन्हें इस परिवर्तन की दिशा का सही बोध न हो। इस दूसरे वर्ग-समुच्चय में वह तमाम जन-समुदाय आ जाता है जो अपने भौतिक और आत्मिक श्रम से सामाजिक सम्पदा की सृष्टि करता है। औद्योगिक क्रान्ति और विज्ञान के उत्थान के साथ श्रम की सृजन-क्षमता में क्रान्तिकारी अभिवृद्धि हुई है। विज्ञान और प्रविधि के विकास के साथ मनुष्य अत्यन्त सजटिल औजारों को बरतने में सक्षम हो गया है। भाप, बिजली, नाभिकीय ऊर्जा, इस्पात, इलेक्ट्रानिकी, स्वचालन और साइबरनेटिक्स ने मनुष्य के श्रम में गुणात्मक परिवर्तन ला दिया है। श्रम में एक नयी विलक्षण सृजनशक्ति आ गयी है। इस ज्ञानदीप्त श्रम का स्पर्श स्वयं एक नया जादू है। इसकी चमत्कारी सृजन-शक्ति, 'अणोरणीयान् महतोमहीयान्' का सृजन कर रही है तथा परमाणु के नाभि का

१. 'पोएटिक क्राफ्ट एण्ड प्रिंसिपिल्स', पृ० ११२।
२. जैनेन्द्र कुमार : 'प्रस्तुत प्रश्न' पृ० ८२।
३. अज्ञेय : 'आत्मनेपद' पृ० २५३।
४. दि एन्ड ऑफ आईडियालॉजी थियरी, पृ० ६८।

और पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण को तोड़ कर अन्तरिक्ष की गहराइयों का भेदन कर रही है।

पाश्चात्य चिन्तक हर्बर्ट रीड ने लिखा है : "समाज का स्वास्थ्य और कल्याण उसके सदस्यों के श्रम और विज्ञान पर निर्भर करता है; किन्तु जब तक श्रम और विज्ञान स्वयं श्रमजीवियों द्वारा निर्दिष्ट और नियंत्रित नहीं किये जाते तब तक न स्वास्थ्य सम्भव है और न कल्याण।"[१] वर्तमान समाज की असंगति यही है कि यन्त्र का स्वामी स्वयं श्रमजीवी नहीं है। श्रम के सृजन-सामर्थ्य में वृद्धि के अनुपात में विरोधी हितों का टकराव उग्र-से-उग्रतर और उग्रतम होता गया है। लेनिन ने इस टकराव की उग्रता को देखते हुए इसे 'समझौताविहीन विरोध' कहा था।"[२]

पूँजीवाद का सूत्रपात हुआ औद्योगिक क्रान्ति से। "सामन्ती व्यवस्था में खाने-पहनने की चीजें मशीनों में नहीं, हाथ से, बड़े पैमाने पर नहीं, छोटे पैमाने पर, कारखानों में नहीं, खेत, घर या दूकान पर तैयार की जाती हैं।"[३] सामन्ती व्यवस्था के ये दस्तकारी के औजार जब श्रम की उत्पादकता बढ़ाने में बाधक बनने लगते हैं और श्रम-विभाजन पर आधारित बड़े-बड़े मैनुफैक्चरिंग प्रतिष्ठानों का उदय होने लगता है तब श्रम अपनी नयी आवश्यकता के अनुरूप नये उपकरणों (अर्थात् यंत्रों या औजारों) का आविष्कार करता है।[४] मार्क्स के शब्दों में, हाथचक्की आपको सामन्ती समाज देती है, भाप चक्की औद्योगिक पूँजीवादी।[५]

इस प्रकार, पूँजीवाद उत्पादन-साधनों (उपकरणों) में क्रान्ति लाता है, उत्पादन सम्बन्धों में नहीं। वह वर्ग समाज का ही एक रूप होता है। पूँजीवाद की विशेषता यह है कि उसमें मशीनों से बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है। औद्योगिक केन्द्रों के उदय के साथ उत्पादन-प्रक्रिया का चरित्र घर, खेत या दूकान पर होने वाले उत्पादन जैसा सरल और सीधा नहीं रह जाता, वरन् वह अत्यन्त जटिल, निर्मम और निर्वैयक्तिक स्वरूप ग्रहण करता जाता है। पूँजीवादी उत्पादन जहाँ एक ओर अत्यन्त जटिल श्रम-विभाजन पर आधारित होता है वहीं दूसरी ओर वह वर्ग-विरोधों को बेहद सरल बना देता है।

---

१. 'सेलेक्टेड राइटिंग्स', पृ० ३३२।
२. लेनिन : 'कलेक्टेड वर्क्स' खण्ड ६, पृ०
३. डॉ० रामविलास शर्मा : 'निराला की साहित्य-साधना', पृ० २७।
४. विवरण के लिए देखिए : 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' पृ० १२२, १२४-२५, और 'फण्डामेण्टल्स ऑफ मार्क्सिज्म-लेनिनिज्म', पृ० १२६-१३०।
५. 'पावर्टी ऑफ फिलॉसफी,' पृ० ९५।

उत्पादन के नये उपकरणों और उत्पादक शक्तियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ पूंजीवाद का जन्म विज्ञान के जन्म का भी द्योतक बन गया है। विज्ञान ने परिवेश के साथ मनुष्य के नये अन्तस्सम्बन्ध और नये अनुपात स्थापित किये हैं। बद्रीनाथ तिवारी के शब्दों में इस अन्तस्सम्बन्ध और अनुपात-बोध के फलस्वरूप मानव समाज विकास की "उस मंजिल पर पहुँच गया है जहाँ से वह इस पूरे विकास के नियमों को पूर्ण वस्तुगत, वैज्ञानिक ढंग से सूत्रित कर सकता है, भावी दिशा का पूर्वानुमान कर सकता है और उस दिशा में समाज को आगे ले जाने के लिए अपनी 'नियति' में दखल दे सकता है।"[1] इस नयी शक्ति और सम्भावना को पहचानने और उसे साकार करने की क्षमता स्वयं विज्ञान की देन है। परिवेश के साथ मनुष्य के सापेक्ष्य-सामर्थ्य और उसके वस्तुगत ज्ञान में वृद्धि के समानान्तर मनुष्य की सजग भूमिका और उसके दायित्व में भी अभिवृद्धि होती जाती है। संक्षेप में, मानव-समाज और चेतना का विकास स्वयंस्फूर्तता से सजगता, नियति से सक्रिय हस्तक्षेप की दिशा में हुआ है।

वैज्ञानिक चेतना के विकास का परिणाम यह है कि नियति और प्रगति की शक्तियों में विरोध अधिकाधिक उग्र होता जा रहा है। कार्ल मार्क्स के शब्दों में, " "आज पूरा समाज दो विशाल शत्रु शिविरों में, एक-दूसरे के खिलाफ खड़े दो विशाल वर्गों में—पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग में अधिकाधिक विभक्त होता जा रहा है।"[2] यह सम्भव नहीं है कि दोनों में समन्वय स्थापित किया जाय। एक का हित दूसरे के हित का बहिष्कार करता है।[3] फलतः यथास्थितिवादी शक्तियों के विरुद्ध अविरोधात्मक समाज के निर्माण के लिए भविष्य-विधायक सर्वहारा वर्ग (श्रमजीवी जन-समुदाय) को एक नये वैचारिक अस्त्र की जरूरत होती है। उसका यह वैचारिक अस्त्र विश्व को समझाने, उसका रूपान्तरण और पुनर्निर्माण करने में उसकी मदद करता है। विज्ञान आज की चेतना का रूप है, अर्थात् विज्ञान वर्तमान युग की विचारधारा है। इसलिए यह आवश्यक है कि भविष्य-विधायक शक्तियाँ विज्ञान की दृष्टि अपनायें और विज्ञान की विधि को अपना आधार बनायें।

---

१. बद्रीनाथ तिवारी : 'जनता से जुड़ने की जरूरत' परिचर्चा ('मुक्तधारा', नयी दिल्ली, वर्ष-६, अंक-७, १७ मार्च, १९७३) पृ० ११।

२. 'मार्क्स-एंगेल्स : कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', (प्रगति प्रकाशन, मास्को), पृ० ३६।

३. 'लेनिन एण्ड गोर्की : लेटर्स, रेमिनिसेंसेज, आर्टिकल्स', पृ० ६८।

विज्ञान की विचारधारा के उदय के साथ मनुष्य के श्रम को जो नवीन अर्थवत्ता और गुणवत्ता प्राप्त हुई है उसे मार्क्सवाद अपने दर्शन का केन्द्रबिन्दु मानता है। मार्क्सवाद के इस पक्ष को रेखांकित करते हुए टामस और जान वेट्टिमेट्टम ने लिखा है कि मार्क्सवाद मानवीय श्रम को मनुष्य का निर्माण करने और वस्तुगत यथार्थ को मानवीय यथार्थ में परिवर्तित करने वाले गतिशील तत्त्व के रूप मे देखता है।[१] भावी परिवर्तन की दिशा का निर्धारण वह विज्ञानप्रसूत सकर्मकता के आधार पर, नियतिवाद के विरुद्ध सजग सहभागिता के आधार पर करता है। श्रम को मूल्यवत्ता प्रदान करके वह श्रमजीवी जन-समुदाय की वैचारिक-दार्शनिक विश्व-दृष्टि बन जाता है और श्रमजीवी जनता को ही भावी परिवर्तन का, समाज के अविरोधात्मक विकास का वाहक घोषित करता है। दो शत्रु-शिविरों में समन्वय स्थापित करने की मध्ययुगीन असमर्थता का अतिक्रमण करके वह सम्पत्ति के व्यावसायिक और अमानवीय चरित्र का उद्‌घाटन करता है और सम्पत्ति की प्रभुता के उन्मूलन की अनिवार्यता प्रतिपादित करता है।

यह संयोग की बात नहीं है कि यथास्थिति से अपने हित जोड़ कर चलने वाले विद्वान् मार्क्सवाद के विरुद्ध प्रचार करने के प्रश्न पर एक और दृढनिष्ठ हैं। इस रुझान का भौतिक-दार्शनिक स्वरूप जैनेन्द्र के इस कथन से उजागर हो सकता है : "कुछ की आर्थिक सम्पन्नता के प्रति आकांक्षा और सम्पन्नता के वर्तमान भोक्ताओं के प्रति विद्वेष जगाने से उसका (मार्क्सवाद का) काम सधता है।"[२] सम्पन्नता के वर्तमान भोक्ताओं के प्रति तीव्र सहानुभूति जगाने वाला यह सिद्धान्त वर्तमान विपन्नता-पीड़ितों को 'पड़ोसी की कीमत पर बड़ा न बनने'[३] की नैतिक सलाह देकर क्या स्वयं किसी वर्ग की रक्षा का प्रयत्न नहीं करता ? फिर तटस्थता की मुद्रा क्यों ? पूंजीवादी व्यवस्था कायम रखने वाली विचारधाराओं की यह विशेषता है कि वे अपना मंतव्य साफ-साफ नहीं व्यक्त कर सकतीं।

इसके विपरीत मार्क्सवाद मानवतावादी चिन्तन-परम्परा का वैज्ञानिक विकास करता हुआ अब्राहम लिंकन के "सच्चे लोकतंत्र" सम्बन्धी इन सूत्रों को अपना मूलमंत्र मानता है : "नागरिक के रूप में सभी नागरिक बराबर हैं" और "सभी मनुष्य समान सिरजे गये हैं।"[४] उनमें छोटे-बड़े, ऊँच-नीच आदि का भेद-भाव मनुष्य का अपना

१. 'इमेज ऑफ मैन : ए फिलॉसफिक एण्ड साइण्टिफिक इक्वायरी' पृ० १०५।
२. जैनेन्द्र : 'प्रस्तुत प्रश्न' पृ० १०६।
३. उपर्युक्त, पृ० १०६।
४. 'लिंकन वाणी' पृ० १०७।

बनाया हुआ है। आज जब ये भेद-भाव समाज और मनुष्य के लिए अहितकर हो गये हैं और उनका तर्कसंगत समाधान सुलभ है तब उनको बनाये रखने की इच्छा मनुष्य के कर्म के तिरस्कार का मार्ग प्रशस्त करती है। इसीलिए कार्ल मार्क्स दृढ़ स्वर में घोषित करते हैं कि "कम्युनिस्ट अपने विचारों और उद्देश्यों को छिपाना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। वे खुलेआम ऐलान करते हैं कि उनके लक्ष्य पूरी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बलपूर्वक उलटने से ही सिद्ध किये जा सकते हैं। कम्युनिस्ट क्रान्ति के भय से शासक वर्ग काँपा करें। सर्वहारा के पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के सिवा कुछ नहीं है। जीतने के लिए सारी दुनिया है।"[१] इस प्रकार, सर्वहारा क्रान्ति जिस वर्गहीन समाज की रचना का ध्येय लेकर चलती है वह वर्तमान विरोधात्मक समाज के उन्मूलन द्वारा ही सम्भव है। विज्ञान की विचारधारा के प्रसार के साथ मनुष्य की सजग और सक्रिय भूमिका में अभिवृद्धि के कारण सामाजिक टकरावों की उग्रता ने यथास्थितिवादी शासक वर्ग को अधिक अमानवीय बना दिया है। वह अपनी अस्तित्व-रक्षा के प्रयत्न में परिवर्तनकामी शक्तियों के विरुद्ध अपना आक्रमण घनीभूत करता है। परिवर्तन की किसी भी आशंका से भयाक्रान्त शासक-वर्ग शोषण और सामाजिक अन्तर्विरोध-उत्पीड़न कायम करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देता है। इसलिए अविरोधात्मक समाज की वाहक शक्तियों को बलपूर्वक वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को उलटना पड़ता है।

टामस और वेट्रिमेट्स का कहना है कि वर्गहीन समाज की मार्क्सवादी परिकल्पना मनुष्य के कर्म व्यक्तित्व में उसकी आस्था का परिणाम है।[२] वैज्ञानिक विचारधारा के विकास के साथ मनुष्य की सीमाएँ टूटी हैं और उसकी रचनात्मक सम्भावनाओं के नये-नये क्षितिज उद्घाटित हुए हैं। अपनी रचनात्मक क्षमताओं को साकार करने के लिए यह जरूरी है कि मनुष्य ज्ञान और कर्म को पारस्परिक अन्तःसम्बद्धता में देखे। हम पहले देख चुके हैं कि विज्ञान ने मनुष्य की सजग और सक्रिय भूमिका के तीन आयाम रेखांकित किये हैं : वस्तु या प्रक्रिया का ठोस, अखण्ड ज्ञान, उसे भौतिकतः और व्यवहारतः हासिल करने की इच्छा तथा इच्छा को मूर्त रूप देने का "कर्म का" उद्देश्य और कार्यक्रम; यानी कि वस्तु या प्रक्रिया के रूपान्तरण की सम्यक् योजना। आद्योपान्त अखण्ड प्रक्रिया होने के नाते मनुष्य के ज्ञान और कर्म में भेद करना अवैज्ञानिक है। मार्क्सवाद मनुष्य के सकर्मक अस्तित्व को अपना दार्शनिक आधार मानता है इसलिए हर्बर्ट मूलर उसे वैज्ञानिक दृष्टि-

---

१. 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', पृ० ८० ।
२. 'इमेजेज ऑफ मैन', पृ० १११ ।

कोण पर आधारित बताते हैं। उनके अनुसार मार्क्सवाद ने अपनी प्रामाणिकता विज्ञान से अर्जित की है।[1]

संक्षेप में, मनुष्य का श्रम उसके विकास की धुरी है। विज्ञान श्रम की सृजनात्मक अन्तर्वस्तु को अधिकाधिक मानवीय धरातल प्रदान करता है। अपने इस प्रयत्न में मनुष्य अन्धशक्तियों पर विजय हासिल करता है तथा श्रम की सृजनात्मक क्षमताओं में बाधक अन्तर्विरोधों का समाधान करता है। विज्ञान मनुष्य के बौद्धिक विकास की अत्यन्त उन्नत अवस्था है। वह प्रकृति और मानवमात्र के बीच के तथा समाज के आन्तरिक अन्तर्विरोधों को उद्घाटित करता है। मानवीय सामर्थ्य में गुणात्मक परिवर्तन लाकर वह प्राकृतिक शक्तियों के मानवीय उपयोग का मार्ग प्रशस्त करता है। प्रकृति के साथ अपने समष्टिगत अन्तर्विरोधों को पहचान कर मनुष्य अपने सजग प्रयत्न द्वारा उन पर अपना अधिकार बढ़ाता जाता है। चूँकि प्राकृतिक प्रक्रियाएँ मानव-अस्तित्व से स्वाधीन हैं इसलिए वह उनका नियमन-निर्धारण नहीं कर सकता। अधिक-से-अधिक वह उन पर अपना नियन्त्रण कायम करके उनका मानवीय उपयोग कर सकता है और अपने ऊपर पड़ने वाले अनिष्टकारी प्रभाव को सीमित कर सकता है। लेकिन समाज का अस्तित्व मनुष्य और उसके पुरुषार्थ (गुण) पर निर्भर है। वह अपने पुरुषार्थ द्वारा सामाजिक अन्तर्विरोधों का समाधान कर सकता है। ज्ञान और कर्म की इस नयी भूमिका के साथ मनुष्य के निर्णय और दायित्व-बोध का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। अपने परिवेश के मानव-बोध की दिशा बौद्धिकीकरण की दिशा है जिसे हम दो स्तरों पर देख सकते हैं :

१. इन्द्रियज ज्ञान से विचारात्मक ज्ञान तक की यात्रा में, और
२. अन्धविश्वास (वस्तु-आत्मीकरण) से विज्ञान (आत्म-वस्तवीकरण) तक की यात्रा में।

बौद्धिक उन्मेष के इस युग में व्यक्ति के अन्तर्जगत् को आन्दोलित करने वाले वस्तु और क्रिया के बिम्बों की अन्तर्वस्तु (उनका आन्तरिक आशय) भी परिवर्तित और विकसित तथा सरल से जटिल और जटिल-से-जटिलतर होती गयी है। बिम्बों का स्वरूप मूर्त होता है। बिम्बों की अन्तर्वस्तु में जटिलता बढ़ने के साथ मनुष्य के चिन्तन में जटिलता बढ़ती है। अवधारणात्मक प्रत्ययों का विकास अत्यन्त जटिल मस्तिष्क के बिना सम्भव न था। इस प्रकार मूर्त बिम्बों से अमूर्त प्रत्ययों तक का विकास मानव-चेतना की जटिलता, सृजनात्मकता, सकर्मकता, सजगता और सामर्थ्य की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति करता है।

१. 'साइंस एण्ड क्रिटिसिज्म', पृ० १८८।

मनुष्य के वस्तुगत ज्ञान और सापेक्ष सामर्थ्य तथा सजग भूमिका और दायित्व में अभिवृद्धि के समानान्तर उसी अनुपात में रचनाकर्म की स्वयंस्फूर्तता (रचनाकार की नियतिबद्धता अथवा निमित्तता) घटती है और सामाजिक सन्दर्भवत्ता बढ़ती है। कपड़ा धोते समय धोबी या बोझ ढोते हुए श्रमिक के स्वर-प्रवाह में और आदिवासी समूह के स्वर-समारोह में और एक कवि के गान में इस विकासमान क्रम को बखूबी देखा और समझा जा सकता है। इस आधार पर यह सूत्रित किया जा सकता है कि मनुष्य की सजगता में अभिवृद्धि के साथ उसी अनुपात में रचनाकार की विचारधारा का महत्त्व भी बढ़ता जाता है। विचारधारा व्यक्ति की अपने अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् तथा इनके अन्तस्सम्बन्धों की अविकल और अविरोधात्मक समझदारी को कहते हैं इसलिए न तो किसी व्यक्ति (खासकर साहित्यकार) के विचारधाराहीन होने की कल्पना की जा सकती है और न वर्ग-आधारित समाज में विचारधारा के गैर-वर्गीय चरित्र की। मनुष्य की चेतना उसके इन्द्रियबोध, भावजगत् और विचारों की पारस्परिक विच्छिन्नता के कारण संगठित और विकसित नहीं हुई है; बल्कि ये तीनों तत्त्व गहन अन्तस्सम्बन्ध में, परस्पर घात-प्रतिघात में आकर मानव-चेतना का गठन करते हैं। इसलिए सौन्दर्य-बोध और विचारधारा में भेद या विरोध दर्शाने की प्रवृत्ति मनुष्य के व्यक्तित्व का विघटन करती है। विज्ञान मानव-अस्तित्व की सम्पूर्णता को मनुष्य की शक्ति का कारण मानता है। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के विघटन की प्रवृत्ति मनुष्य को शक्तिहीन और निष्क्रिय बनाने की योजना का अंग है। सामाजिक अन्तर्विरोधों के सन्दर्भ में देखने पर मालूम होगा कि मनुष्य का विघटन, उसकी शक्तिहीनता और निष्क्रियता का प्रतिपादन अन्ततः यथास्थितिवादी शक्तियों के हित में जाता है। रचनाकर्म की स्वतःस्फूर्तता और रचनाकार की दायित्वहीनता की मान्यताएँ यथास्थिति की विचारधारा से सम्बद्ध हैं।

मानव संज्ञान के अन्य रूपों—राजनीति, दर्शन, धर्म आदि की ही भाँति विज्ञान और कला के क्षेत्र में भी यथास्थितिवादी और भविष्य-विधायक विचारधाराओं का विरोध आसानी से देखा जा सकता है। यह विरोध कला के यथार्थ आधारित चरित्र और रचना-प्रक्रिया की वस्तुनिष्ठता एवं आन्तरिकता के सम्बन्ध में उठने वाले विवादों में ही परिलक्षित नहीं होता, वरन् कला में मानव-अस्तित्व की अभिव्यक्ति के प्रश्न पर भी साफ-साफ उभर कर आता है। 'सहज-वृत्तियों' के नाम पर कला को मनुष्य के सचेतन व्यक्तित्व से असम्बद्ध करके कला की विचारहीनता या असजगता का प्रतिपादन करने वाले तरह-तरह के मनोविश्लेषणवादी-स्वप्नवादी सिद्धान्त अन्ततः कला और मनुष्य को असामाजिक वृत्तियों और काम-कुण्ठाओं का पुंज मात्र बना देते हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषक भी सर्वत्र यही प्रमाणित करते हैं कि वे निषिद्धों को काम-वृत्ति का

पर्याय मान कर मानव-चेतना के समस्त कार्यकलाप को कामतृप्ति का स्थानापन्न मात्र घोषित करते हैं। उनकी इस असंगति को चुनौती देते हुए उन्हीं के एक अनुयायी सी० एस० लेविस ने सृजन और काम सम्बन्धी प्रक्रियाओं के मौलिक अन्तर को स्पष्ट किया और इस आधार पर दोनों में प्राप्त होने वाले परितोष या तृप्ति के स्तरों को अलग-अलग सिद्ध किया। उन्होंने यह दो-टूक निष्कर्ष निकाला कि "कविता कामतृप्ति का स्थानापन्न नहीं है।"[1]

कला मनुष्य की सृजनात्मक अन्तर्वस्तु की अभिव्यक्ति का अभेद्य दुर्ग है। कला उन क्षेत्रों में से एक है जहाँ मनुष्य अपनी "सृजनशक्ति को बारम्बार और निस्सीम हद तक चरितार्थ कर सकता है।"[2] दूसरे शब्दों में, कला मनुष्य का ऐसा सृजनात्मक प्रयत्न है जिसे वह अपनी सृजनवृत्ति के परितोष के लिए सम्पन्न करता है। मनुष्य के इस सृजनात्मक प्रयत्न में यन्त्र आदि की भूमिका जितनी सीमित होती है, उसमें मिलने वाला कलात्मक परितोष उतना अधिक होता है। इस प्रयत्न के अभाव में उसे सृजनात्मक परितोष नहीं मिल सकता। कलाकर्म में मानवीय प्रयत्न की केन्द्रीय भूमिका को स्वप्न और कविता या कला के अन्तर में भी देखा जा सकता है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कला को "प्रयत्नसाध्य सिसृक्षा का परिणाम या फल" कह कर "प्रयत्न-निरपेक्ष सर्जनात्मक शक्ति की सूचना" देने वाले स्वप्न से उसका अन्तर स्पष्ट किया है।[3] यदि स्वप्न और कला में कोई फर्क न होता तो दोनों से मिलने वाले कलात्मक या सृजनात्मक परितोष में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए था। दूसरी ओर, स्वप्न मनुष्य की प्रयत्न-निरपेक्ष सृष्टि है इसलिए व्यक्ति उसके लिए उत्तरदायी नहीं होता, हालांकि स्वप्न मनुष्य चित्त को व्यक्त अवश्य करते हैं। कविता प्रयत्नसाध्य सृष्टि होने के नाते ही स्वप्न से भिन्न होती है। उसमें कवि का दायित्व और व्यक्तित्व समन्वित रहते है। प्रयत्नसाध्य सिसृक्षा का फल होने के कारण ही कला जीवन-जगत् और समाज के सभी पक्षों के प्रति कलाकार की "समग्र अवधारणा"[4] को व्यक्त करती है।

बहुधा यह देखने में आता है कि कला में व्यक्तित्व अथवा यथार्थ की अखण्डता और समग्रता से इन्कार किया जाता है। यह अस्वीकार किसी एक रूप या किस्म का नहीं होता। किन्तु इन मान्यताओं का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि उनका

१. 'सेलेक्टेड लिटरेरी एसेज', पृ० २६५।
२. 'आर्ट एण्ड सोसाइटी' पृ० २०५।
३. 'आलोचना' (नयी दिल्ली, पूर्णाङ्क-४०, अक्टूबर-दिसम्बर, १९६७), पृ० ३३।
४. रेनेवेलेक, आस्टिन वारेन : 'साहित्य सिद्धान्त', पृ० १२५।

मनुष्य के वस्तुगत ज्ञान और सापेक्ष सामर्थ्य तथा सजग भूमिका में अभिवृद्धि के समानान्तर उसी अनुपात में रचनाकर्म की स्वयस्फूर्तता (नियतिबद्धता अथवा निमित्तता) घटती है और सामाजिक सन्दर्भवत्ता ब धोते समय धोबी या बोझ ढोते हुए श्रमिक के स्वर-प्रवाह में और आि स्वर समारोह में और एक कवि के गान में इस विकासमान क्रम को बढ़ समझा जा सकता है। इस आधार पर यह सूचित किया जा सकता है सजगता में अभिवृद्धि के साथ उसी अनुपात में रचनाकार की विचार भी बढ़ता जाता है। विचारधारा व्यक्ति की अपने अन्तर्जगत् और बाह्य अन्तस्सम्बन्धों की अविकल और अविरोधात्मक समझदारी को कहते किसी व्यक्ति (खासकर साहित्यकार) के विचारधाराहीन होने की सकती है और न वर्ग आधारित समाज में विचारधारा के गैर-व मनुष्य की चेतना उसके इन्द्रियबोध, भावजगत् और विचारों की पारस के कारण सगठित और विकसित नहीं हुई है; बल्कि ये तीनों तत्त्व में, परस्पर घात-प्रतिघात में आकर मानव-चेतना का गठन करते हैं। बोध और विचारधारा में भेद या विरोध दर्शाने की प्रकृति मनुष्य विघटन करती है। विज्ञान मानव-अस्तित्व की सम्पूर्णता को मनु कारण मानता है। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के मनुष्य को गतिहीन और निष्क्रिय बनाने की योजना का अन्तर्विरोधों के सन्दर्भ में देखने पर मालूम होगा कि मनुष्य गतिहीनता और निष्क्रियता का प्रतिपादन अन्ततः यथास्थितिवादी में जाता है। रचनाकर्म की स्वतःस्फूर्तता और रचनाकार की मान्यताएँ यथास्थिति की विचारधारा से सम्बद्ध हैं।

मानव संज्ञान के अन्य रूपों—राजनीति, दर्शन, धर्म आदि और कला के क्षेत्र में भी यथास्थितिवादी और भविष्य-विधायक विरोध आसानी से देखा जा सकता है। यह विरोध कला के यथा और रचना-प्रक्रिया की वस्तुनिष्ठता एवं आन्तरिकता के सम्बन्ध में कि में ही परिलक्षित नहीं होता, वरन् कला में मानव-अस्तित्व की अ भी साफ-साफ उभर कर आता है। 'सहज-वृत्तियों' के नाम पर सचेतन व्यक्तित्व से असम्बद्ध करके कला की विचारशीलता या कला करने वाले तरह-तरह के मनोविज्ञानवादी-स्वप्नवादी सिद्धान्त मनुष्य को असामाजिक वृत्तियों और काम-कुण्ठाओं का पुंज मात्र के मनोविश्लेषण को यहाँ तक प्रमाणित करते हैं कि वे विविध

पर्याय मान कर मानव-चेतना के समस्त कार्यकलाप को कामतृप्ति का स्थानापन्न मात्र घोषित करते हैं। उनकी इस असंगति को चुनौती देते हुए उन्हीं के एक अनुयायी सी० एस० लेविस ने सृजन और काम सम्बन्धी प्रक्रियाओं के मौलिक अन्तर को स्पष्ट किया और इस आधार पर दोनों में प्राप्त होने वाले परितोष या तृप्ति के स्तरों को अलग-अलग सिद्ध किया। उन्होंने यह दो-टूक निष्कर्ष निकाला कि "कविता कामतृप्ति का स्थानापन्न नहीं है।"[१]

कला मनुष्य की सृजनात्मक अन्तर्वस्तु की अभिव्यक्ति का अभेद्य दुर्ग है। कला उन क्षेत्रों में से एक है जहाँ मनुष्य अपनी "सृजनशक्ति को बारम्बार और निस्सीम हद तक चरितार्थ कर सकता है।"[२] दूसरे शब्दों में, कला मनुष्य का ऐसा सृजनात्मक प्रयत्न है जिसे वह अपनी सृजनवृत्ति के परितोष के लिए सम्पन्न करता है। मनुष्य के इस सृजनात्मक प्रयत्न में यन्त्र आदि की भूमिका जितनी सीमित होती है, उससे मिलने वाला कलात्मक परितोष उतना अधिक होता है। इस प्रयत्न के अभाव में उसे सृजनात्मक परितोष नहीं मिल सकता। कलाकर्म में मानवीय प्रयत्न की केन्द्रीय भूमिका को स्वप्न और कविता या कला के अन्तर में भी देखा जा सकता है। प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कला को "प्रयत्नसाध्य सिसृक्षा का परिणाम या फल" कह कर "प्रयत्न-निरपेक्ष सर्जनात्मक शक्ति की सूचना" देने वाले स्वप्न से उसका अन्तर स्पष्ट किया है।[३] यदि स्वप्न और कला में कोई फर्क न होता तो दोनों से मिलने वाले कलात्मक या सृजनात्मक परितोष में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए था। दूसरी ओर, स्वप्न मनुष्य की प्रयत्न-निरपेक्ष सृष्टि है इसलिए व्यक्ति उसके लिए उत्तर-दायी नहीं होता, हालाँकि स्वप्न मनुष्य चित्त को व्यक्त अवश्य करते हैं। कविता प्रयत्नसाध्य सृष्टि होने के नाते ही स्वप्न से भिन्न होती है। उसमें कवि का दायित्व और व्यक्तित्व समन्वित रहते हैं। प्रयत्नसाध्य सिसृक्षा का फल होने के कारण ही कला जीवन-जगत् और समाज के सभी पक्षों के प्रति कलाकार की "समग्र अवधारणा"[४] को व्यक्त करती है।

बहुधा यह देखने में आता है कि कला में व्यक्तित्व अथवा यथार्थ की अखण्डता और समग्रता से इन्कार किया जाता है। यह अस्वीकार किसी एक रूप या किस्म का नहीं होता। किन्तु इन मान्यताओं का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि उनका

---

१. 'सेलेक्टेड लिटरेरी एसेज', पृ० २६५।
२. 'आर्ट एण्ड सोसाइटी' पृ० २०५।
३. 'आलोचना' (नयी दिल्ली, पूर्णाङ्क-४०, अक्टूबर-दिसम्बर, १९६७), पृ० ३३।
४. रेनेवेलेक, आस्टिन वारेन : 'साहित्य सिद्धान्त', पृ० १२५।

मनुष्य के वस्तुगत ज्ञान और सापेक्ष सामर्थ्य तथा सजग भूमिका और दायित्व में अभिवृद्धि के समानान्तर उसी अनुपात में रचनाकर्म की स्वयंस्फूर्तता (रचनाकार की नियतिबद्धता अथवा निमित्तता) घटती है और सामाजिक सन्दर्भवत्ता बढ़ती है। कपड़ा धोते समय धोबी या बोझ ढोते हुए श्रमिक के स्वर-प्रवाह में और आदिवासी समूह के स्वर-समारोह में और एक कवि के गान में इस विकासमान क्रम को बखूबी देखा और समझा जा सकता है। इस आधार पर यह सूचित किया जा सकता है कि मनुष्य की सजगता में अभिवृद्धि के साथ उसी अनुपात में रचनाकार की विचारधारा का महत्व भी बढ़ता जाता है। विचारधारा व्यक्ति की अपने अन्तर्जगत् और वाह्यजगत् तथा इनके अन्तस्सम्बन्धों की अविकल और अविरोधात्मक समझदारी को कहते हैं इसलिए न तो किसी व्यक्ति (खासकर साहित्यकार) के विचारधाराहीन होने की कल्पना की जा सकती है और न वर्ग-आधारित समाज में विचारधारा के गैर-वर्गीय चरित्र की। मनुष्य की चेतना उसके इन्द्रियबोध, भावजगत् और विचारों की पारस्परिक विच्छिन्नता के कारण सगठित और विकसित नहीं हुई है; बल्कि ये तीनों तत्त्व गहन अन्तस्सम्बन्ध में, परस्पर घात-प्रतिघात में आकर मानव-चेतना का गठन करते हैं। इसलिए सौन्दर्य-बोध और विचारधारा में भेद या विरोध दर्शाने की प्रकृति मनुष्य के व्यक्तित्व का विघटन करती है। विज्ञान मानव-अस्तित्व की सम्पूर्णता को मनुष्य की शक्ति का कारण मानता है। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के विघटन की प्रवृत्ति मनुष्य को शक्तिहीन और निष्क्रिय बनाने की योजना का अंग है। सामाजिक अन्तर्विरोधों के सन्दर्भ में देखने पर मालूम होगा कि मनुष्य का विघटन, उसकी शक्तिहीनता और निष्क्रियता का प्रतिपादन अन्ततः यथास्थितिवादी शक्तियों के हित में जाता है। रचनाकर्म की स्वतःस्फूर्तता और रचनाकार की दायित्वहीनता की मान्यताएँ यथास्थिति की विचारधारा से सम्बद्ध हैं।

मानव संज्ञान के अन्य रूपों—राजनीति, दर्शन, धर्म आदि की ही भाँति विज्ञान और कला के क्षेत्र में भी यथास्थितिवादी और भविष्य-विधायक विचारधाराओं का विरोध आसानी से देखा जा सकता है। यह विरोध कला के यथार्थ आधारित चरित्र और रचना-प्रक्रिया की वस्तुनिष्ठता एवं आन्तरिकता के सम्बन्ध में उठने वाले विवादों में ही परिलक्षित नहीं होता, वरन् कला में मानव-अस्तित्व की अभिव्यक्ति के प्रश्न पर भी साफ-साफ उभर कर आता है। 'सहज-वृत्तियों' के नाम पर कला को मनुष्य के सचेतन व्यक्तित्व से असम्बद्ध करके कला की विचारहीनता या असजगता का प्रतिपादन करने वाले तरह-तरह के मनोविज्ञानवादी-स्वप्नवादी सिद्धान्त अन्ततः कला और मनुष्य को असामाजिक वृत्तियों और काम-कुण्ठाओं का पुंज मात्र बना देते हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण की सबसे बड़ी अवधारणा यही है कि वे लिबिडो को काम-वृत्ति या

पर्याय मान कर मानव-चेतना के समस्त कार्यकलाप को कामतृप्ति का स्थानापन्न मात्र घोषित करते हैं। उनकी इस असंगति को चुनौती देते हुए उन्हीं के एक अनुयायी सी० एस० लेविस ने सृजन और काम सम्बन्धी प्रक्रियाओं के मौलिक अन्तर को स्पष्ट किया और इस आधार पर दोनों से प्राप्त होने वाले परितोष या तृप्ति के स्तरों को अलग-अलग सिद्ध किया। उन्होंने यह दो-टूक निष्कर्ष निकाला कि "कविता कामतृप्ति का स्थानापन्न नहीं है।"[१]

कला मनुष्य की सृजनात्मक अन्तर्वस्तु की अभिव्यक्ति का अभेद्य दुर्ग है। कला उन क्षेत्रों में से एक है जहाँ मनुष्य अपनी "सृजनशक्ति को बारम्बार और निस्सीम हद तक चरितार्थ कर सकता है।"[२] दूसरे शब्दों में, कला मनुष्य का ऐसा सृजनात्मक प्रयत्न है जिसे वह अपनी सृजनवृत्ति के परितोष के लिए सम्पन्न करता है। मनुष्य के इस सृजनात्मक प्रयत्न में यन्त्र आदि की भूमिका जितनी सीमित होती है, उसमें मिलने वाला कलात्मक परितोष उतना अधिक होता है। इस प्रयत्न के अभाव में उसे सृजनात्मक परितोष नहीं मिल सकता। कलाकर्म में मानवीय प्रयत्न की केन्द्रीय भूमिका को स्वप्न और कविता या कला के अन्तर में भी देखा जा सकता है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कला को "प्रयत्नसाध्य सिसृक्षा का परिणाम या फल" कह कर "प्रयत्न-निरपेक्ष सर्जनात्मक शक्ति की सूचना" देने वाले स्वप्न से उसका अन्तर स्पष्ट किया है।[३] यदि स्वप्न और कला में कोई फर्क न होता तो दोनों से मिलने वाले कलात्मक या सृजनात्मक परितोष में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए था। दूसरी ओर, स्वप्न मनुष्य की प्रयत्न-निरपेक्ष सृष्टि है इसलिए व्यक्ति उसके लिए उत्तरदायी नहीं होता, हालांकि स्वप्न मनुष्य चित्त को व्यक्त अवश्य करते हैं। कविता प्रयत्नसाध्य सृष्टि होने के नाते ही स्वप्न से भिन्न होती है। उसमें कवि का दायित्व और व्यक्तित्व समन्वित रहते हैं। प्रयत्नसाध्य सिसृक्षा का फल होने के कारण ही कला जीवन-जगत् और समाज के सभी पक्षों के प्रति कलाकार की "समग्र अवधारणा"[४] को व्यक्त करती है।

बहुधा यह देखने में आता है कि कला में व्यक्तित्व अथवा यथार्थ की अखण्डता और समग्रता से इन्कार किया जाता है। यह अस्वीकार किसी एक ह[illegible] किस्म का नहीं होता। किन्तु इन मान्यताओं का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि उनका

१. 'सेलेक्टेड लिटरेरी एसेज', पृ० २६५।
२. 'आर्ट एण्ड सोसाइटी' पृ० २०५।
३. 'आलोचना' (नयी दिल्ली, पूर्णाङ्क-४०, अक्टूबर-दिसम्बर, १९६७), पृ० ३३।
४. रेनेवेलेक, आस्टिन वारेन : 'साहित्य सिद्धान्त', पृ० १२५।

मूल उद्देश्य होता है कला में मनुष्य के सजग वैचारिक पक्ष का निषेध। फिनलैण्ड के बुद्धिजीवी पेन्टी होलपा ने विचारधारा को राजनीति और समाज से जोड़ कर साहित्य को राजनीति से बचाने का आह्वान किया है। उनकी समझ से मनोवैज्ञानिक साहित्य ही सच्चा साहित्य होता है। और राजनीति, विचारधारा या समाज से जुड़ा साहित्य सफल या असफल प्रचार से बढ़ कर कुछ नहीं होता।[1]

इसी पद्धति से विचार करने वाले राबर्ट ग्रेव्ज सोचते हैं कि "कलाकार के सामाजिक व्यवहार का कोई बना-बनाया नियम नहीं होता।" उसे किसी बने-बनाये नियम से बँधना भी नहीं चाहिए। राजनीतिक पार्टियाँ नियम-अनुशासन और विचारधारा पर आधारित होती हैं इसलिए "कलाकार उनका सदस्य नहीं बन सकता।"[2]

राजनीतिक पार्टियाँ निश्चित विचारधारा से जुड़ी होती हैं, यह सही है। विचारधाराएँ सदैव वर्ग-स्थिति से उत्पन्न दृष्टिकोण पर आधारित होने के नाते वर्गीय होती हैं, इसलिए राजनीतिक पार्टियाँ किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। हर पार्टी अपने वर्गीय अनुशासन से आबद्ध होती है, यह बात और भी सही है। लेकिन कलाकार वर्ग-स्थिति से स्वतंत्र और विचारधाराहीन होता है, यह नहीं कहा जा सकता। विचारधारा राजनीति का पर्याय नहीं होती। मानव-संज्ञान केवल राजनीति पर आधारित या उसी में केन्द्रित है, यह धारणा भ्रामक है। विचारधारा मानव-संज्ञान का पर्याय है इसलिए उसका सम्बन्ध "केवल बुद्धि से नहीं, मनुष्य के हृदय, अनुभूतियों और इच्छाओं"[3] से भी है। यही कारण है कि राजनीति के अलावा साहित्य, कला, धर्म, विज्ञान आदि विषयों पर भी राजनीतिक पार्टियों का अपना दृष्टिकोण होता है। यह दृष्टिकोण वर्ग-स्थिति से उत्पन्न होता है। यदि कलाकार राजनीति या राजनीतिक पार्टी से जुड़ता है तो वस्तुतः वह अपनी सजग सहभागिता और प्रतिबद्धता को ही साकार करता है। राजनीतिक प्रतिबद्धता से कला की क्षति नहीं होती, बल्कि उसमें निखार आता है। राजनीति या कला में मनुष्य के भावजगत् और सजग विचारात्मक व्यक्तित्व विभाजित होकर नहीं आते, बल्कि समग्र और संश्लिष्ट रूप में आते हैं। अन्तर इतना है कि राजनीति में विचारों की प्रमुखता होती है और कला में सौन्दर्य-बोध की।

किन्तु मनुष्य के सजग और सहज व्यक्तित्वों में द्वैत निरूपित करने वाले

---

१. उद्धृत : 'फाउण्डेशन्स ऑफ़ मार्क्सिस्ट एस्थेटिक्स', पृ० ६३।

२. पोएटिक कान्सेप्ट एण्ड रियलिज्म', पृ० १०८।

३. 'लेनिन एण्ड दि प्रॉब्लम्स ऑफ़ लिटरेचर', पृ० १२६।

क्रोचे[1] का अभिव्यंजनावाद भी उक्त चिन्तकों की भाँति कला और मनुष्य सम्बन्धी भ्रान्त धारणाओं से ग्रस्त है। क्रोचे मनुष्य के व्यक्तित्व को व्यावहारिक और आत्मिक पक्षों में और फिर आत्मिक व्यक्तित्व को सजग और सहज पक्षों में विभक्त करके देखते हैं। वह सौन्दर्य को व्यवहार-च्युत ज्ञानरूपता में स्थित मानते हैं। ज्ञान निश्चयात्मक बुद्धि से सर्वथा स्वतंत्र है। वह बौद्धिक न होकर अन्त:प्रेरणा पर आधारित प्रातिभ या सहज होता है। कला कल्पना के सहारे अन्त प्रेरणा की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार एक ओर तो क्रोचे स्वयस्फूर्ततावादी सृजन-सिद्धान्तों की पुष्टि करते हैं और दूसरी ओर सहज प्रज्ञा, अभिव्यजना, रूप और सौन्दर्य सब को एकीभूत कर देते हैं।

उनका यह एकीकरण अनुपयुक्त है।[2] किन्तु इससे भी अधिक अनुपयुक्त है उनका व्यक्तित्व-विभाजन। उनका सौन्दर्य-चिन्तन जिस भेदवाद पर आधारित है, शुक्ल जी ने उसे व्याधि कहा है। इस व्याधि की जड़ है व्यक्तिवाद।[3] व्यक्तिवाद पर आधारित यह भेदवाद कला को अत्यन्त सकीर्ण धरातल पर ला खड़ा करता है। कला व्यवहार और बुद्धि से स्वतंत्र शुद्ध अन्त:प्रेरणा है, यह मान्यता कला को कलाकार के व्यक्तित्व और इच्छाशक्ति से पृथक् करने की प्रवृत्ति को जन्म देती है। साथ ही, यह कला को निष्क्रिय, अबौद्धिक अन्त:प्रेरणा पर आधारित काल्पनिक सृष्टि कह कर उसकी गतिहीनता और दिशाहीनता का मार्ग प्रशस्त करती है।

कहने की आवश्यकता नही कि बुद्धि और कर्म से स्वतन्त्र यह सौन्दर्य-बोध मनुष्य को प्रवाह-पतित, कुण्ठित, क्षुद्र और पंगु बनाता है। रचनात्मक धरातल पर यह सौन्दर्य-बोध जिस धारा को प्रवाहित करता है उसका उदाहरण अज्ञेय जी का यह कथन है : "अपने प्यार के बदले अपनी भूख का दुखड़ा रोने से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, केवल श्रोता के लिए वह दुखड़ा और भी कम प्रीतिकर हो जाता है।"[4] निश्चित जीवन-यथार्थ से जुड़ कर चलने के परिणामस्वरूप कर्म और बुद्धि का बहिष्कार करने वाला सौन्दर्यशास्त्र अन्ततः 'नैसर्गिक वृत्तियों' के नाम पर उसी व्यावसायिकता का शिकार हो गया जिसकी तीखी आलोचना करते हुए स्वयं पूंजीवादी साहित्य-आलोचक रिचर्ड्स ने उसे व्यावसायिक पूंजीवाद का परिणाम बताया था। पूंजीवादी कला के इस बाजारोन्मुख चरित्र को रेखांकित करते हुए जार्ज थामसन

---

१. 'इस्थेटिक्स' : क्रोचे।
२. 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका', खण्ड—१, पृ० १५४।
३. 'रस-मीमांसा', पृ० २७१।
४. 'आत्मनेपद', पृ० २६।

ने कहा था कि पूँजीवादी उत्पादन में कलाकार के व्यक्तित्व को कोई मूल्य प्राप्त नहीं होता और "कविता पण्य बन जाती है, कवि खुले बाजार के लिए सृजन (उत्पादन) करता है, जिसकी माँग धीरे-धीरे घटती जा रही है।"[१] पाठक के प्रीतिकर विषयों पर लिखने की अतिरिक्त चिन्ता से इसी तथ्य की पुष्टि होती है। माँग और पूर्ति के नियमों पर रचा जाने वाला पूँजीवादी साहित्य लेखक की इच्छा का कम, उसकी विवशता का परिणाम अधिक होता है। इस प्रसंग में कला और पदार्थ के जटिल रिश्ते को व्यक्त करने वाली लेव तोलस्तोय की यह आत्मस्वीकृति महत्त्वपूर्ण है :

"अपने लेखन में मैंने ठीक वैसा ही किया जैसा मैं अपने जीवन में करता था। ख्याति और मुद्रा—जिसके लिए मैं लिखता था, यह जरूरी था कि अच्छाई (भलाई) को छिपाया जाय और बुराई को चित्रित किया जाय। और मैंने वैसा किया।"[२]

वास्तविक तथ्यों को विकृत करके प्रस्तुत करने की यह विवशता (या स्वेच्छा !) इसी पूँजीवादी उत्पादन का परिणाम है। कला को धर्म के रूप में स्वीकार करने वाले कलाकार वस्तुतः इस असंगति से मुक्ति पाने के लिए छटपटाते हैं। पूँजीवादी उत्पादन के अन्तर्विरोधों को और उसकी विसंगतियों के साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव को न समझ पाने के कारण बहुधा कलाकार अपने सृजनात्मक कार्य को विभाजित करके उससे छुटकारा पाना चाहता है। एक ओर तो वह अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण की अपनी आन्तरिक जरूरतों के लिए सृजन करता है, और दूसरी ओर बाह्य आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए—बाजार के लिए—रचना करता है। "इस प्रकार कलाकार पूँजीवादी समाज में वास्तविक जीवन के विघटित चरित्र का पुनर्सृजन करता है।"[३] अपने इस आन्तरिक विघटन और विभाजन के प्रति भी वह सजग नहीं होता। यानी, अपनी आन्तरिक और बाह्य स्थितियों और उनके अतस्सम्बन्धों के प्रति सजग न होने के कारण कलाकार-व्यक्ति और उसकी रचना, दोनों बाह्य अन्तर्विरोधों का शिकार हो जाते हैं।

इस प्रकार, यथास्थिति से सजग रूप में अपने हित जोड़ने वाले रचनाकारों के अलावा ऐसे रचनाकारों की भी कमी नहीं है जो वास्तविकता के अन्तर्विरोधों को समझ और पकड़ न सकने के कारण स्वयं उनके वाहक बन जाते हैं। कार्ल मार्क्स ने लिखा था कि सत्ताधारी वर्ग के विचार प्रत्येक युग में सत्ताधारी विचार होते हैं।

---

१. 'मार्क्सिज्म एण्ड पोएट्री', पृ० ५३।
२. 'ए कन्फेशन दि गास्पेल इन ब्रीफ एण्ड व्हाट आइ बिलीव', पृ० ८।
३. 'आर्ट एण्ड सोसायटी' पृ० २१३।

वे प्रभुतासम्पन्न भौतिक सम्बन्धों का आदर्श रूप प्रस्तुत करते हैं।[१] वास्तविक जीवन के प्रति उदासीन रहने वाला कलाकार युग की स्वीकृत विचारधारा से स्वय को अधिक समय तक मुक्त नही रख सकता। यह सही है कि कलाकार सत्ताधारी भौतिक सम्बन्धों और विचारों को प्रकट रूप मे स्वीकार नही करता। आज तक कोई भी ऐसा सच्चा कलाकार नही हुआ जिसे शोषक व्यवस्था का गुणगान करने की आन्तरिक आवश्यकता अनुभव हुई हो। इसीलिए लेनिन ने कहा था कि कला बहुमत पर अल्पमत के शासन को सबसे कम स्वीकार करती है। यहाँ तक कि अनेक कलाकारों का कलावाद भी पूँजीवाद की व्यावसायिक वृत्ति के निषेध का प्रयत्न है। उनका स्वर नकारात्मक है। वे कला को सामाजिक सन्दर्भों से नही जोडना चाहते क्योंकि स्थापित समाज का यथार्थ बेहद विकृत और कुरूप है। वे यथार्थ की उपेक्षा करके वर्तमान समाज की विकृतियो का अतिक्रमण करना चाहते है। इससे उनकी कला मे दिशाहीनता आती है।

पूँजीवाद के दुष्प्रभाव को, उसके अमानवीय व्यावसायिक चरित्र और सर्वांगीण विघटनकारी स्वरूप को रेखांकित करते हुए डॉ० धर्मवीर भारती कहते है कि स्वतन्त्रता, गौरव, करुणा और सौन्दर्य आदि मूल्य निरर्थक हो गये हैं। इन मूल्यो मे अर्थ की प्रतिष्ठा तभी की जा सकती है "जब समाज का वैषम्य दूर हो जाय और वर्ग-वर्ण या भेद मिट जाय।"[२] यह भेद और वैषम्य सामाजिक और आर्थिक है। उसका समाहार भी सामाजिक-आर्थिक धरातल पर सम्भव है। किन्तु वे इन प्रक्रियाओ को अस्वीकार करते हैं। व्यवस्थागत विकृतियो को दूर करने के लिए संगठित प्रयत्नो की आवश्यकता है, लेकिन वे इन प्रयत्नो को मानव-गरिमा की निरर्थकता का कारण मानते हैं। वह सार्थक "निजी विकल्प" के सहारे इस व्यवस्था का अतिक्रमण करना चाहते हैं। इससे वे इस नतीजे पर पहुँचे कि कोई भी विचारधारा या दर्शन इस दुर्भाग्य से मनुष्य को मुक्ति नही दिला सकता। इस प्रकार, अन्तरात्मा या पूर्ण विघटन अपरिहार्य है।[३] "मनुष्य को स्वतंत्र, सचेत, दायित्वयुक्त" और "अपनी नियति, अपने इतिहास का निर्माता"[४] मान कर प्रस्थान करने वाले डॉ० भारती सामाजिक सन्दर्भों से विच्छिन्नता का अतिरिक्त आग्रह करने के नाते उस मंजिल पर पहुँचे जहाँ असंगति ही जगत् का नियम लगने लगती है। विवेक और दायित्व,

---

१. 'ऑन लिटरेचर एण्ड आर्ट' : मार्क्स-एंगेल्स, पृ० ७०।
२. 'मानव-मूल्य और साहित्य' पृ० २८ और ४१।
३. उपर्युक्त, पृ० ३३।
४. उपर्युक्त, पृ० २१।

संगति और क्रमबद्धता से पूर्णतया मुक्त होने का आग्रह उठने लगता है। केवल एक शून्य शेष रह जाता है।[1]

इस प्रकार, वे पूँजीवाद से चलकर निषेधवाद, पराङ्मुखता और व्यक्तिवाद तक पहुँचते हैं। उनका यह बोध विसंगत और विकृत यथार्थ के रूपान्तरण की चेतना को नहीं, बल्कि विफलता-बोध और पराजय-बोध को जन्म देता है। मध्यवर्ग से आने वाले अनेक रचनाकार इसी विडम्बना के शिकार होते हैं। उनका पराजय-बोध सामाजिक अन्तर्विरोधों और अपने मित्र और शत्रु शक्तियों को ठीक-ठीक न पहचान पाने की उनकी वैचारिक असमर्थता की सूचना देता है। उनकी पीड़ा आकांक्षा और उपलब्धि के अन्तर्विरोध से उत्पन्न है। उनकी आर्थिक हैसियत और सांस्कृतिक स्वप्न के बीच जो खाई है उसे पाटने के लिए वे सजग और सक्रिय सहभागिता के बजाय, सकारात्मक पुरुषार्थ के बजाय निषेधवादी दृष्टि अपनाते हैं। फलस्वरूप वे न श्रमजीवी वर्ग का अंग बन पाते हैं, न सम्पत्तिशाली वर्ग का। अपने आगे-पीछे की कड़ी टूट जाने से उनमें सांस्कृतिक रिक्तता जन्म लेती है। यह सांस्कृतिक रिक्तता निराशा, कुण्ठा, पराजय-बोध और व्यक्तिवाद आदि का परिणाम और कारण दोनों है। यह संयोग की बात नहीं है कि आधुनिक व्यक्तिवाद का जन्म पूँजीवादी व्यवस्था के सुसम्बद्ध हो जाने के बाद, १६वीं सदी में हुआ।[2] इस भाव-बोध का साहित्य मूल्यों का नहीं, मूल्यों के विघटन से उत्पन्न दृष्टि ''' निराशा, शंका, त्रास, असुरक्षा आदि—का वाहक है।

अस्वीकार और निषेध सकारात्मक मूल्य नहीं हैं। इन मूल्यों को धारण करके चलने वाली साहित्य-दृष्टि मनुष्य के श्रम से अपना नाता तोड़ लेती है। समाज और संस्कृति मनुष्य के श्रम में निहित सृजन-क्षमता का परिणाम हैं। विश्व के श्रेष्ठतम साहित्य में समाज और संस्कृति की अवधारणाएँ समान अर्थ में प्रयुक्त हुई हैं।[3] यह साहित्य-दृष्टि सत्ता और संस्कृति को भिन्न पथानुगामी बताती है।[4] इतना ही नहीं, इस दृष्टि के अनुसार : "संस्कारों के सार्थक विस्तार में एस्थेटिक व्यापार समाप्त हो जाता है।[5]"

---

१. 'मानव-मूल्य और साहित्य', पृ० ३३-३४।
२. 'इण्ट्रोडक्शन टु मॉडर्न पोलिटिकल थियरी', पृ० २४।
३. ए० आर० वीवर और टेल्कॉट पार्सन्स : 'अमेरिकन सोश्योलॉजिकल रिव्यू', जिल्द २३, अंक ५, अक्टूबर, १९५८, पृ० ५८२।
४. 'आत्मनेपद', पृ० २५७।
५. नीलाधर गुप्त : 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त', पृ० १९०।

प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।[1]

इन मान्यताओं का आधार वह मूलभूत दृष्टि है जो कला और जीवन में अविच्छेद्य सम्बन्ध मानती है। जब शुक्ल जी कला को जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु कहते हैं तो वस्तुतः वे मानव-जीवन को कला के भी साध्य के रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने राम के कालाग्नि-सदृश क्रोध में भी सौन्दर्य के दर्शन किये हैं।[2] इसका कारण है राम का कर्म जिसका लक्ष्य है मानव-समाज को अत्याचार और उत्पीड़न से मुक्ति दिला कर सर्वजन-हिताय समाज की रचना करना। यह मानवीय करुणा और मानव-कल्याण की भावना संकट की चरम स्थितियों में प्राणोत्सर्ग तक में प्रतिफलित हुई है। क्रिस्टोफर कॉडवेल, राल्फ़ाक्स या निकोला वाप्तसरोव प्रभृति साहित्यकारों ने मनुष्यता की रक्षा के लिए अपने प्राणों तक की आहुति दे दी। इस प्रकार के निर्णयों को उपादेय बताते हुए मुनरो बीयर्ड्सले ने निष्कर्ष दिया है कि ऐसी स्थितियाँ आ सकती हैं जहाँ संकट में पड़े हुए मूल्य अधिक उच्च हों और उनकी रक्षा के लिए कलाकार को सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण त्यागना पड़े। दुर्घटना का उदाहरण देकर उन्होंने अपनी बात अधिक स्पष्ट की है। उन्होंने प्रश्न किया कि दुर्घटना के समय चित्रकार दर्द से छटपटाते व्यक्ति की मदद करे या उसका चित्र बनाये? चित्र बनाने पर उसका कलात्मक मूल्य निस्सन्देह बहुत उच्च होगा। किन्तु घायल व्यक्ति के प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। और यदि वह घायल व्यक्ति की मदद करता है तो उसे कला की बलि देनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में चुनाव की समस्या मूल्यों के प्रति हमारे दृष्टिकोण से जुड़ी है।[3] लेनिन ने ऐसी ही मर्मान्तक स्थितियों में अपने परमप्रिय संगीत की जगह क्रान्ति का पक्ष लेना मुनासिब समझा था।[4]

महान् उद्देश्य के लिए यह उत्सर्ग-भाव निराशावादी भावबोध का परिणाम नहीं है जो अनाप्राकृतिक प्रेम-प्रकरणों या कापुरुषोचित आत्महत्या में ही जीवन की सार्थकता अनुभव करता है। यह दृष्टिकोण मनुष्य मात्र में, उसके धर्म और भविष्य में आस्था का परिणाम है। यथास्थिति से जुड़ने पर कुण्ठा, निराशा और विफलता-बोध पैदा होता है। मरणासन्न मरण स्वस्थ और आशावादी भाव कैसे उत्पन्न करेगा? इस मरणासन्न वर्तमान के स्थान पर अनिरोधात्मक भविष्य में आस्था रखने के नाते

---

१. 'रस मीमांसा', पृ० १८।
२. उपर्युक्त, पृ० ५४।
३. 'प्रॉब्लेम्स इन एजूकेशन, रेलिजन एण्ड दि आर्ट्स', पृ० २१५।
४. उपर्युक्त, पृ० २२०।

प्रगतिशील साहित्य-दृष्टि कला को पूँजीवादी संस्कृति के खिलाफ संघर्ष में एक अस्त्र मान कर चलता है।[1]

सौन्दर्य और विचारधारा के बीच की द्वन्द्वात्मक संधि-रेखा (किसी भी युग में) युग-सन्दर्भ और कलाकार व्यक्ति के सामाजिक सन्दर्भ से अनुशासित-अनुप्राणित होती है। विधवा ब्राह्मणी का तिरस्कृत पुत्र कबीर अपने सामाजिक परिवेश की विषमताओं का भुक्तभोगी था। उसे काशी के पण्डितों की विडम्बना के घी-वार घूँट मिल चुके थे और वह उनके पाखण्ड से भली-भाँति परिचित था। इसलिए नायिकाभेद, नखशिख वर्णन या बारहमासे में उसे जीवन और साहित्य की सार्थकता नहीं महसूस हुई। उसका फक्कड़ाना अन्दाज, उसका मर्माहत करने वाला व्यंग्य, 'सत्-चित्-ज्ञान' रूपी प्रिय में सन्दर्भित हैं। यह कबीर की विचारधारा है। इसमें उसके युग और व्यक्तिगत वर्गीय जीवन की मिली-जुली छवि विद्यमान है।

तुलसीदास गँवई वायुमण्डल में पले और गरीब ब्राह्मण परिवार की सन्तान थे। संस्कारतः परम्परानुगामी होते हुए भी वे सामन्ती व्यवस्था की अमानवीयता से प्रताड़ित थे। इसलिए सामन्ती व्यवस्था की अनेक संस्थाओं और परम्पराओं को तद्वत् अंगीकार करते हुए भी उन्हें अपनी एक आदर्श-सृष्टि रचने की आवश्यकता अनुभव हुई। उनका यह वैचारिक आदर्श सामन्ती समाज के आदर्शीकरण से निर्मित है। इसी में उनकी सौन्दर्य-चेतना और विचारधारा का अभेदात्मक सम्बन्ध निहित है। राम उनकी विचारधारा के प्रतीक हैं। तत्कालीन राजाओं पर कविता न लिख कर वे राम के नाते से सारा सम्बन्ध निर्धारित करते हैं—नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं। यह सामाजिक विसंगतियों का अतिक्रमण करने की चेष्टा का परिणाम है।

इसके विपरीत बिहारी हैं जो रीति को काव्य में अंगीकार करते हैं। वे दरबार में पोषित होते हैं इसलिए उसी संस्कृति को तद्वत् अंगीकार कर लेते हैं। उन्हें नये आदर्शों की दुनिया रचने की जरूरत नहीं महसूस होती। भक्ति भी उनके लिए बहाना हो गयी—राधिका कन्हाई नाम सुमिरन का बहाना भर रह गये। इस विचारधाराहीनता ने शैलीबद्धता को प्रेरित किया। इसके विपरीत, नये आदर्शों के प्रति वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण तुलसीदास के काव्य में भाषा, शैली, अनुभूति और सामाजिक सम्बन्धों तथा सांस्कृतिक ऐश्वर्य की आदर्शीकृत सृष्टि के दर्शन होते हैं।

---

१ इल्या एहरेनबर्ग : 'दि राइटर एण्ड हिज क्राफ्ट', पृ० १४।

प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।[१]

इन मान्यताओं का आधार वह मूलभूत दृष्टि है जो कला और जीवन में अविच्छेद्य सम्बन्ध मानती है। जब शुक्ल जी कला को जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु कहते हैं तो वस्तुतः वे मानव-जीवन को कला के भी साध्य के रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने राम के कालाग्नि-सदृश क्रोध में भी सौन्दर्य के दर्शन किये हैं।[२] इसका कारण है राम का कर्म जिसका लक्ष्य है मानव-समाज को अत्याचार और उत्पीड़न से मुक्ति दिला कर सर्वजन-हिताय समाज की रचना करना। यह मानवीय करुणा और मानव-कल्याण की भावना संकट की चरम स्थितियों में प्राणोत्सर्ग तक में प्रतिफलित हुई है। क्रिस्टोफर कॉडवेल, राल्फफाक्स या निकोला वाप्सरोव प्रभृति साहित्यकारों ने मनुष्यता की रक्षा के लिए अपने प्राणों तक की आहुति दे दी। इस प्रकार के निर्णयों को उपादेय बताते हुए मुनरो बीयर्ड्सले ने निष्कर्ष दिया है कि ऐसी स्थितियाँ आ सकती हैं जहाँ संकट में पड़े हुए मूल्य अधिक उच्च हों और उनकी रक्षा के लिए कलाकार को सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण त्यागना पड़े। दुर्घटना का उदाहरण देकर उन्होंने अपनी बात अधिक स्पष्ट की है। उन्होंने प्रश्न किया कि दुर्घटना के समय चित्रकार दर्द से छटपटाते व्यक्ति की मदद करे या उसका चित्र बनाये? चित्र बनाने पर उसका कलात्मक मूल्य निस्सन्देह बहुत उच्च होगा। किन्तु घायल व्यक्ति के प्राण-पखेरू उड़ जायँगे। और यदि वह घायल व्यक्ति की मदद करता है तो उसे कला की बलि देनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में चुनाव की समस्या मूल्यों के प्रति हमारे दृष्टिकोण से जुड़ी है।[३] लेनिन ने ऐसी ही मर्मान्तक स्थितियों में अपने परमप्रिय संगीत की जगह क्रान्ति का पक्ष लेना मुनासिब समझा था।[४]

महान् उद्देश्य के लिए यह उत्सर्ग-भाव निराशावादी भावबोध का परिणाम नहीं है जो अवास्तविक प्रेम-प्रकरणों या एकान्तिक आत्महत्या में ही जीवन की सार्थकता अनुभव करता है। यह दृष्टिकोण मनुष्य मात्र में, उसके कर्म और भविष्य में आस्था का परिणाम है। यथास्थिति से जुड़ने पर कुण्ठा, निराशा और विफलता-बोध पैदा होता है। मरणासन्न व्यक्ति स्वस्थ और आशावादी भाव कैसे उत्पन्न करेगा? इस मरणासन्न वर्तमान के स्थान पर अविरोधात्मक भविष्य में आस्था रखने के नाते

---

१. 'रस मीमांसा', पृ० १८।

२. उपर्युक्त, पृ० ५४।

३. 'पर्सपेक्टिव्स इन एजूकेशन, रेलिजन एण्ड दि आर्ट्स', पृ० २३२।

४. उपर्युक्त, पृ० २३०।

प्रगतिशील साहित्य-दृष्टि कला को पूँजीवादी संस्कृति के खिलाफ संघर्ष में एक अस्त्र मान कर चलता है।[1]

सौन्दर्य और विचारधारा के बीच की द्वन्द्वात्मक संधि-रेखा (किसी भी युग में) युग-सन्दर्भ और कलाकार व्यक्ति के सामाजिक सन्दर्भ से अनुशासित-अनुप्राणित होती है। विधवा ब्राह्मणी का तिरस्कृत पुत्र कबीर अपने सामाजिक परिवेश की विषमताओं का भुक्तभोगी था। उसे काशी के पण्डितों की विदग्धता के दो-चार घूँट मिल चुके थे और वह उनके पाखण्ड से भली-भाँति परिचित था। इसलिए नायिकाभेद, नखशिख वर्णन या बारहमासे में उसे जीवन और साहित्य की सार्थकता नहीं महसूस हुई। उसका फक्कड़ाना अन्दाज, उसका मर्माहत करने वाला व्यंग, 'सत्-चित्-ज्ञान' रूपी प्रिय में सन्दर्भित है। यह कबीर की विचारधारा है। जिसमें उसके युग और व्यक्तिगत वर्गीय जीवन की मिली-जुली छवि विद्यमान है।

तुलसीदास गँवई वायुमण्डल में पले और गरीब ब्राह्मण परिवार की सन्तान थे। संस्कारतः परम्परानुगामी होते हुए भी वे सामन्ती व्यवस्था की अमानवीयता से प्रताड़ित थे। इसलिए सामन्ती व्यवस्था की अनेक संस्थाओं और परम्पराओं को तद्वत् अंगीकार करते हुए भी उन्हें अपनी एक आदर्श-सृष्टि रचने की आवश्यकता अनुभव हुई। उनका यह वैचारिक आदर्श सामन्ती समाज के आदर्शीकरण से निर्मित है। इसी में उनकी सौन्दर्य-चेतना और विचारधारा का अभेदात्मक सम्बन्ध निहित है। राम उनकी विचारधारा के प्रतीक हैं। तत्कालीन राजाओं पर कविता न लिख कर वे राम के नाते से सारा सम्बन्ध निर्धारित करते हैं—नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं। यह सामाजिक विसंगतियों का अतिक्रमण करने की चेष्टा का परिणाम है।

इसके विपरीत बिहारी हैं जो रीति को काव्य में अंगीकार करते हैं। वे दरबार में पोषित होते हैं इसलिए उसी संस्कृति को तद्वत् अंगीकार कर लेते हैं। उन्हें नये आदर्शों की दुनिया रचने की जरूरत नहीं महसूस होती। भक्ति भी उनके लिए बहाना हो गयी—राधिका कन्हाई नाम सुमिरन का बहाना भर रह गये। इस विचारधाराहीनता ने शैलीबद्धता को प्रेरित किया। इसके विपरीत, नये आदर्शों के प्रति वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण तुलसीदास के काव्य में भाषा, शैली, अनुभूति और सामाजिक सम्बन्धों तथा सांस्कृतिक ऐश्वर्य की आदर्शीकृत समृद्धि के दर्शन होते हैं।

---

[1] इल्या इहरेनबर्ग : 'दि राइटर एण्ड हिज क्राफ्ट', पृ० १५।

प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।[१]

इन मान्यताओं का आधार वह मूलभूत दृष्टि है जो कला और जीवन में अविच्छेद्य सम्बन्ध मानती है। जब शुक्ल जी कला को जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु कहते हैं तो वस्तुत: वे मानव-जीवन को कला के भी साध्य के रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने राम के कालाग्नि-सदृश क्रोध में भी सौन्दर्य के दर्शन किये हैं।[२] इसका कारण है राम का कर्म जिसका लक्ष्य है मानव-समाज को अत्याचार और उत्पीड़न से मुक्ति दिला कर सर्वजन-हिताय समाज की रचना करना। यह मानवीय करुणा और मानव-कल्याण की भावना संकट की चरम स्थितियों में प्राणोत्सर्ग तक में प्रतिफलित हुई है। क्रिस्तोफर कॉडवेल, राल्फ़ाक्स या निकोला वाप्त्सरोव प्रभृति साहित्यकारों ने मनुष्यता की रक्षा के लिए अपने प्राणों तक की आहुति दे दी। इस प्रकार के निर्णयों को उपादेय बताते हुए मुनरो बीयर्ड्सले ने निष्कर्ष दिया है कि ऐसी स्थितियाँ आ सकती हैं जहाँ संकट में पड़े हुए मूल्य अधिक उच्च हों और उनकी रक्षा के लिए कलाकार को सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण त्यागना पड़े। दुर्घटना का उदाहरण देकर उन्होंने अपनी बात अधिक स्पष्ट की है। उन्होंने प्रश्न किया कि दुर्घटना के समय चित्रकार दर्द से छटपटाते व्यक्ति की मदद करे या उसका चित्र बनाये? चित्र बनाने पर उसका कलात्मक मूल्य निस्सन्देह बहुत उच्च होगा। किन्तु घायल व्यक्ति के प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। और यदि वह घायल व्यक्ति की मदद करता है तो उसे कला की बलि देनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में चुनाव की समस्या मूल्यों के प्रति हमारे दृष्टिकोण से जुड़ी है।[३] लेनिन ने ऐसी ही मर्मान्तिक स्थितियों में अपने परमप्रिय गोर्की का जगह क्रान्ति का पथ लेना मुनासिब समझा था।[४]

महान् उद्देश्य के लिए 'यह उत्सर्ग-मात्र निराशावादी भावबोध का परिणाम नहीं है जो धनात्मक प्रेम-प्रकरणों या काल्पनिक आत्महत्या में ही जीवन की सार्थकता अनुभव करता है। यह दृष्टिकोण मनुष्य मात्र में, उसके कर्म और भविष्य में आस्था का परिणाम है। यथास्थिति से जुड़ने पर कुण्ठा, निराशा और विफलता-बोध पैदा होता है। मरणासन्न मरत स्वस्थ और आशावादी भाव कैसे उत्पन्न करेगा? इस मरणासन्न वर्तमान के स्थान पर अविरोधात्मक भविष्य में आस्था रखने के नाते

---

१. 'रस मीमांसा', पृ० १८।

२. उपर्युक्त, पृ० ५४।

३. 'एस्थेटिक्स एज एजुकेशन, रेलिजन एण्ड दि आर्ट्स', पृ० २३५।

४. उपर्युक्त, पृ० २२०।

प्रगतिशील साहित्य-दृष्टि कला को पूँजीवादी संस्कृति के खिलाफ संघर्ष में एक अस्त्र मान कर चलता है।[1]

सौन्दर्य और विचारधारा के बीच की द्वन्द्वात्मक संधि-रेखा (किसी भी युग में) युग-सन्दर्भ और कलाकार व्यक्ति के सामाजिक सन्दर्भ से अनुशासित-अनुप्राणित होती है। विधवा ब्राह्मणी का निरस्कृत पुत्र कबीर अपने सामाजिक परिवेश की विषमताओं का भुक्तभोगी था। उसे काशी के पण्डितों की विदग्धता के दो-चार घूंट मिल चुके थे और वह उनके पाखण्ड से भली-भाँति परिचित था। इसलिए नायिकाभेद, नखशिख वर्णन या बारहमासे में उसे जीवन और साहित्य की सार्थकता नहीं महसूस हुई। उसका फक्कड़ाना अन्दाज, उसका मर्माहत करने वाला व्यंग्य, 'सत्-चित्-आन' रूपी प्रिय से सन्दर्भित हैं। यह कबीर की विचारधारा है। इसमें उसके युग और व्यक्तिगत वर्गीय जीवन की मिली-जुली छवि विद्यमान है।

तुलसीदास गँवई वायुमण्डल में पले और गरीब ब्राह्मण परिवार की सन्तान थे। संस्कारतः परम्परानुगामी होते हुए भी वे सामन्ती व्यवस्था की अमानवीयता से प्रताड़ित थे। इसलिए सामन्ती व्यवस्था की अनेक संस्थाओं और परम्पराओं को तद्वत् अंगीकार करते हुए भी उन्हें अपनी एक आदर्श-सृष्टि रचने की आवश्यकता अनुभव हुई। उनका यह वैचारिक आदर्श सामन्ती समाज के आदर्शीकरण से निर्मित है। इसी में उनकी सौन्दर्य-चेतना और विचारधारा का अभेदात्मक सम्बन्ध निहित है। राम उनकी विचारधारा के प्रतीक हैं। तत्कालीन राजाओं पर कविता न लिख कर वे राम के नाते से सारा सम्बन्ध निर्धारित करते हैं—नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं। यह सामाजिक विसंगतियों का अतिक्रमण करने की चेष्टा का परिणाम है।

इसके विपरीत बिहारी हैं जो रीति को काव्य में अंगीकार करते हैं। वे दरबार में पोषित होते हैं इसलिए उसी संस्कृति को तद्वत् अंगीकार कर लेते हैं। उन्हें नये आदर्शों की दुनिया रचने की जरूरत नहीं महसूस होती। भक्ति भी उनके लिए अवान्तर हो गयी—राधिका कन्हाई नाम सुमिरन का बहाना भर रह गये। इस विचारधाराहीनता ने शैलीचमत्कार को प्रेरित किया। इसके विपरीत, नये आदर्शों के प्रति वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण तुलसीदास के काव्य में भाषा, शैली, अनुभूति और सामाजिक सम्बन्धों तथा सांस्कृतिक ऐश्वर्य की आदर्शोन्मुख दृष्टि के दर्शन होते हैं।

---

१. [illegible] : 'दि मास्टर [illegible]', पृ० १५।

प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।[१]

इन मान्यताओं का आधार वह मूलभूत दृष्टि है जो कला और जीवन में अविच्छेद्य सम्बन्ध मानती है। जब शुक्ल जी कला को जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु कहते हैं तो वस्तुतः वे मानव-जीवन को कला के भी साध्य के रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने राम के कालाग्नि-सदृश क्रोध में भी सौन्दर्य के दर्शन किये हैं।[२] इसका कारण है राम का कर्म जिसका लक्ष्य है मानव-समाज को अत्याचार और उत्पीड़न से मुक्ति दिला कर सर्वजन-हिताय समाज की रचना करना। यह मानवीय करुणा और मानव-कल्याण की भावना संकट की चरम स्थितियों में प्राणोत्सर्ग तक में प्रतिफलित हुई है। क्रिस्तोफर कॉडवेल, राल्फ़ फ़ाक्स या निकोला वाप्तसरोव प्रभृति साहित्यकारों ने मनुष्यता की रक्षा के लिए अपने प्राणों तक की आहुति दे दी। इस प्रकार के निर्णयों को उपादेय बतलाते हुए मुनरो बीयर्ड्सले ने निष्कर्ष दिया है कि ऐसी स्थितियाँ आ सकती हैं जहाँ संकट में पड़े हुए मूल्य अधिक उच्च हों और उनकी रक्षा के लिए कलाकार को सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण त्यागना पड़े। दुर्घटना का उदाहरण देकर उन्होंने अपनी बात अधिक स्पष्ट की है। उन्होंने प्रश्न किया कि दुर्घटना के समय चित्रकार दर्द से छटपटाते व्यक्ति की मदद करे या उसका चित्र बनाये? चित्र बनाने पर उसका कलात्मक मूल्य निस्सन्देह बहुत उच्च होगा। किन्तु घायल व्यक्ति के प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। और यदि वह घायल व्यक्ति की मदद करता है तो उसे कला की बलि देनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में चुनाव की समस्या मूल्यों के प्रति हमारे दृष्टिकोण से जुड़ी है।[३] लेनिन ने ऐसी ही मर्मान्तक स्थितियों में अपने परमप्रिय संगीत की जगह क्रान्ति का पक्ष लेना मुनासिब समझा था।[४]

महान् उद्देश्य के लिए यह उत्सर्ग-भाव निराशावादी भावबोध का परिणाम नहीं है जो अनानुभूतिक प्रेम-प्रकरणों या काल्पनिक आत्महत्या में ही जीवन की सार्थकता अनुभव करता है। यह दृष्टिकोण मनुष्य मात्र में, उसके कर्म और भविष्य में आस्था का परिणाम है। यथास्थिति से जुड़ने पर कुण्ठा, निराशा और विफलता-बोध पैदा होता है। मरणासन्न सत्य स्वस्थ और आशावादी भाव कैसे उत्पन्न करेगा? इस मरणासन्न वर्तमान के स्थान पर अविरोधात्मक भविष्य में आस्था रखने के नाते

---

१. 'रस मीमांसा', पृ० १८।

२. उपर्युक्त, पृ० ५४।

३. 'एस्थेटिक्स इन एजूकेशन, रेलिजन एण्ड दि आर्ट्स', पृ० २३५।

४. उपर्युक्त, पृ० २२०।

प्रगतिशील साहित्य-दृष्टि कला को पूँजीवादी संस्कृति के खिलाफ संघर्ष में एक अस्त्र मान कर चलता है।[1]

सौन्दर्य और विचारधारा के बीच की द्वन्द्वात्मक संधि-रेखा (किसी भी युग में) युग-सन्दर्भ और कलाकार व्यक्ति के सामाजिक सन्दर्भ से अनुशासित-अनुप्राणित होती है। विधवा ब्राह्मणी का तिरस्कृत पुत्र कबीर अपने सामाजिक परिवेश की विषमताओं का भुक्तभोगी था। उसे काशी के पण्डितों की विदग्धता के दो-चार घूँट मिल चुके थे और वह उनके पाखण्ड से भली-भाँति परिचित था। इसलिए नायिकाभेद, नखशिख वर्णन या बारहमासे में उसे जीवन और साहित्य की सार्थकता नहीं महसूस हुई। उसका फक्कड़ाना अन्दाज, उसका मर्माहत करने वाला व्यंग्य, 'सत्-चित्-ज्ञान' रूपी प्रिय में सन्दर्भित हैं। यह कबीर की विचारधारा है। इसमें उसके युग और व्यक्तिगत वर्गीय जीवन की मिली-जुली छवि विद्यमान है।

तुलसीदास गँवई वायुमण्डल में पले और गरीब ब्राह्मण परिवार की सन्तान थे। संस्कारतः परम्परानुगामी होते हुए भी वे सामन्ती व्यवस्था की अमानवीयता से प्रताड़ित थे। इसलिए सामन्ती व्यवस्था की अनेक संस्थाओं और परम्पराओं को तद्वत् अंगीकार करते हुए भी उन्हें अपनी एक आदर्श-सृष्टि रचने की आवश्यकता अनुभव हुई। उनका यह वैचारिक आदर्श सामन्ती समाज के आदर्शीकरण से निर्मित है। इसी में उनकी सौन्दर्य-चेतना और विचारधारा का अभेदात्मक सम्बन्ध निहित है। राम उनकी विचारधारा के प्रतीक हैं। तत्कालीन राजाओं पर कविता न लिख कर वे राम के नाते से सारा सम्बन्ध निर्धारित करते हैं—नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं। यह सामाजिक विसंगतियों का अतिक्रमण करने की चेष्टा का परिणाम है।

इसके विपरीत बिहारी हैं जो रीति को काव्य में अंगीकार करते हैं। वे दरबार में पोषित होते हैं इसलिए उसी संस्कृति को तद्वत् अंगीकार कर लेते हैं। उन्हें नये आदर्शों की दुनिया रचने की जरूरत नहीं महसूस होती। भक्ति भी उनके लिए अवान्तर हो गयी—राधिका कन्हाई नाम सुमिरन का बहाना भर रह गये। इस विचारधाराहीनता ने शैलीबद्धता को प्रेरित किया। इसके विपरीत, नये आदर्शों के प्रति वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण तुलसीदास के काव्य में भाषा, शैली, अनुभूति और सामाजिक सम्बन्धों तथा सांस्कृतिक ऐश्वर्य की आदर्शोन्मुख समृद्धि के दर्शन होते हैं।

---

१. हन्ना हर्नेनबर्ग : 'दि राइटर एण्ड हिज क्राफ्ट', पृ० १५।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार अपने जाने-अनजाने सामाजिक और वैचारिक संस्कारों से सम्पृक्त रहता है। कला उसके व्यक्तित्व की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति होती है। उसके संस्कार उसकी कला में व्यक्त होते हैं। दूसरी तरफ, उसकी कला उसके वैचारिक आधार से इतने गहरे स्तर पर जुड़ी होती है कि कलागत मूल्यों का स्वरूप उसकी विचारधारा द्वारा निर्धारित होता है। यथास्थितिवादी विचारधारा साहित्य में असांस्कृतिक और पराङ्मुख मूल्यों की प्रेरणा देती है। प्रगतिशील विचारधारा साहित्य को सांस्कृतिक ऐश्वर्य की ऋद्धि प्रदान करती है। इन दोनों प्रकार की कलाओं का यह मुख्य अन्तर है कि यथास्थिति से जुड़ी कला सामाजिक अन्तर्विरोधों और अपने उद्देश्यों को छिपाती है, जबकि प्रगतिशील कला अपने लक्ष्यों और आदर्शों को छिपाना अपनी शान के खिलाफ समझती है। वर्तमान युग सामन्ती असमर्थता का युग नहीं है। इसलिए यथास्थितिवादी कला जहाँ अपने अन्तर्विरोधों का शिकार होकर पूँजीवादजन्य संकट, त्रास, मृत्यु-बोध आदि के भावों को व्यक्त करने लगती है वहाँ प्रगतिशील कला स्वस्थ, जीवनोन्मुख मूल्यों के विकास में सहायक बनती है। पहली कला श्रम से घृणा करने वाली पूँजीवादी नैतिकता की कला है जो श्रमजीवियों की "सेवा के बल पर विशुद्ध चिन्तन द्वारा निष्क्रिय 'हीरो' की रचना" करती है।[1] दूसरी कला उस जागरूक और कर्मण्य जनता में आस्था रखकर चलती है "जो इतिहास का निर्माण करती है तथा दुनिया का और अपना रद्दोबदल करती है।"[2] इतिहास और भविष्य का निर्माण करने वाली जनता के प्रयत्नों, उसकी बढ़ती हुई सामाजिक और आत्मिक सहभागिता के साथ आवयविक रूप में स्वयं को जोड़ लेने के नाते प्रगतिशील कला मनुष्यता के सर्वोच्च गुणों का प्रतिनिधित्व करती है। इस भावभूमि को समझकर ही डॉ॰ श्यामसुन्दरदास ने कहा था कि "मार्क्सवादी साहित्य समीक्षा कलाकार को युग का उपभोक्ता और निर्माणकर्ता दोनों ही मानती है।"[3]

अन्त में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जिस प्रकार इन्द्रिय-बोध, भाव-बोध और विचारों के स्तरों पर वर्ग हितों और विचारधारा की समान रूप से अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार सभी कला-रूपों, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, कविता, उपन्यास आदि में उनकी भूमिका समान नहीं होती। साहित्य का कार्य है भाषा के जरिये

---

1. डॉ॰ रामविलास शर्मा : 'आस्था और सौन्दर्य', पृ० ८।
2. 'मार्क्सिज्म ऐण्ड लिटरेचर', आर्नोल्ड केटल, पृ० ४२१।
3. 'साहित्यालोचन', पृ० २२६।

विम्ब-रचना। वह अन्य कला-रूपों से इसी अर्थ में विशिष्ट है। भाषा विम्बों को जागृत करने का बाह्यजगत् के समानान्तर एक सम्पूर्ण तंत्र है। वह कला का भी सबसे विकसित माध्यम है। भाषा को माध्यम बना कर आत्माभिव्यक्ति करते समय कलाकार की भूमिका, उसके सामाजिक दायित्व और विचारधारा का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है।

---

# प्रगतिशील हिन्दी कविता : एक संक्षिप्त पृष्ठभूमि

यह संयोग की बात नहीं है कि प्रगतिवाद अपने समग्र भावबोध, अपनी समग्र चेतना और काव्य-संरचना में बिलकुल नयी भंगिमाओं, नये स्वरों और नये तेवर के साथ हिन्दी साहित्य में प्रकट हुआ। मनुष्य के समस्त सांस्कृतिक कार्य-कलाप पूर्ववर्ती युगों की सांस्कृतिक निधियों के संचित परिणाम होते हैं इसलिए किसी भी साहित्य में पूर्ववर्ती युगों की सांस्कृतिक ऊष्मा अनुभव की जा सकती है। प्रगतिवाद जिन नये मूल्यों के साथ एक ऐतिहासिक आन्दोलन के रूप में सामने आया उनमें से अधिकांश मूल्यों को हम पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में आसानी से देख सकते हैं। संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन और मध्ययुगीन कवियों के मूल्य जिस मानववादी अन्तर्वस्तु को धारण करते रहे हैं, प्रगतिशील काव्य ने उसे आधुनिक युग की वैज्ञानिक पीठिका पर आसीन किया है। साथ ही, उसने भारतेन्दु युग और छायावाद के दौर की साम्राज्यवाद-विरोधी मानवतावादी परम्परा को सुसंगत वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि प्रदान की है। संक्षेप में, प्रगतिशील साहित्य भारतीय साहित्य की समस्त मानवतावादी परम्पराओं से विकसित सुसंगत, वैज्ञानिक चेतना का साहित्य है।

मनुष्य की भौतिक और आत्मिक सीमाओं को तोड़ कर विज्ञान ने कर्म और सृजन की जिन सम्भावनाओं को उद्घाटित किया है वे न केवल मनुष्य के भौतिक, वरन् आत्मिक कार्य-कलापों में भी प्रतिबिम्बित हुई हैं। आधुनिक युग में भौतिक और आत्मिक कार्य-कलापों के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों ने एक नयी यथार्थवादी चेतना को जन्म दिया है। इस द्वन्द्वात्मक चेतना ने प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्धों का नया धरातल उद्घाटित किया है। साथ ही, इस नयी वैज्ञानिक चेतना ने मनुष्य को भूत, वर्तमान और भविष्य के सन्दर्भों को पहचानने की अत्यन्त समर्थ और वस्तुगत अन्तर्दृष्टि भी दी है। मनुष्य काल के सहज प्रवाह में संक्रमण करने वाला असमर्थ प्राणी नहीं है। वह अपने सजग हस्तक्षेप द्वारा प्रकृति और समाज की शक्तियों को वशीभूत और रूपान्तरित कर सकने में समर्थ है।

मानवीय कर्म की यह समर्थ अन्तर्दृष्टि जिस विचारधारा के रूप में प्रकट हुई उसने अन्धविश्वास और धर्म की विचारधाराओं के स्थान पर वैज्ञानिक मानववाद को प्रतिष्ठित किया। मार्क्सवाद व्यवहार और सिद्धान्त के द्वन्द्व से उत्पन्न तथा विज्ञान की समर्थ अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न विचारधारा है। प्रगतिवाद का जन्म मानव-मुक्ति के स्वप्न के साथ हुआ। अतः उसने मनुष्य को अपना साध्य बनाया और वैज्ञानिक विश्वदृष्टि पर आधारित चिन्तन-विधि—मार्क्सवाद—का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा।

मार्क्सवाद और प्रगतिवाद के सम्बन्ध को रेखांकित करते हुए शिवबालक राय ने गौरवपूर्ण शब्दों में लिखा है : "प्रगतिवाद मार्क्सवाद का सहोदर भाई है। संसार में कार्ल मार्क्स ही प्रथम व्यक्ति हैं जिसने समाज के कोढ़ पूंजीवाद के प्रति, बुद्धि को अपील करने वाली वैज्ञानिक आवाज उठायी।...पूंजीवादी गरीब जन-समुदाय को जोंक की तरह चूसता रहता है, सभी खून गायब, लेकिन घाव का नाम नहीं।... पूंजीवाद का मल समाजवाद की अग्नि में ही भस्मसात् हो सकता है।...राजनीति क्षेत्र का समाजवाद साहित्य क्षेत्र में प्रगतिवाद के रूप में अवतरित हुआ है।"[1]

मार्क्सवाद वैज्ञानिक विचारधारा है और प्रगतिवाद मानववादी साहित्य-धारा। मार्क्सवादी-दर्शन से व्यापक रूप में प्रभावित होने के नाते प्रगतिशील साहित्य का मानववाद मुख्यतः वैज्ञानिक और समाजवादी मानववाद है। प्रगतिवाद की पुष्ट मानववादी परम्पराओं का उल्लेख करते हुए डॉ॰ कृष्णलाल 'हंस' ने लिखा है कि भारत या विश्व के किसी देश में प्रगतिवाद का जन्म "कोई आकस्मिक घटना नहीं है'।'[2] भारत की विशिष्ट परिस्थितियों में प्रगतिशील काव्य की मानववादी, यथार्थवादी आधारभूमि स्पष्ट करते हुए डॉ॰ 'हंस' लिखते हैं :

> "यथार्थवादी कवियों ने मानवतावाद का सम्बल लेकर जो रचनाएँ प्रस्तुत कीं, वे ही समाजवादी यथार्थवाद की निधियाँ बनीं। इसी मानवतावादी यथार्थवाद का विकास तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर प्रगतिवाद के रूप में व्यक्त हुआ।"[3]

स्पष्ट है कि प्रगतिवाद भारत की मानवतावादी परम्पराओं से पुष्ट तथा समकालीन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों से प्रभावित है। वह बाहर कहीं से आयातित विजातीय न होकर भारतीय जमीन से उत्पन्न हुआ है, भारतीय

---

१. 'साहित्यिक निबन्ध', पृ० १८७।
२. 'प्रगतिवादी काव्य साहित्य', पृ० १।
३. वही, पृ० ७८।

जन-मानस की आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब है। यदि ऐसा न होता तो साध चाहने पर भी प्रगतिवाद की साहित्यिक प्रतिष्ठा सम्भव न थी।

इस तथ्य को नजरंदाज करके विद्वान् लोग उस पर विदेशी होने का आरोप लगाते हैं। एक विद्वान् डॉ० धर्मवीर भारतीय के शब्दों में "यहाँ प्रगतिवाद का प्रवेश तब हुआ जब विदेशों में उसका दिवाला पिट चुका था। विदेशों की इस उतरन को हमने बड़े चाव से दौड़ कर पहना, जबकि हमारे अपने साहित्य में किसी भी प्रगतिवाद से सौगुनी शक्तिशाली प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं।"[१] प्रगतिवाद के 'विदेशों की उतरन' होने का प्रमाण है उसका मार्क्सवादी दृष्टिकोण। डॉ० भारती 'रूढ़ अर्थों में' उस धारा विशेष को प्रगतिवाद कहते हैं, "जो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन के अनुसार साहित्य के लिए निर्देशित की गयी है।"[२]

इस तर्क-पद्धति का अन्तर्विरोध उस समय उजागर होता है जब प्रगतिशील साहित्य की व्याख्या उसकी यथार्थवादी आधारभूमि के सन्दर्भ में की जाती है। यथार्थवाद और प्रगतिवाद की "हिन्दी साहित्य कोश" की व्याख्या से इस अन्तर्विरोध को आसानी से समझा जा सकता है।

कोश में यथार्थवाद की व्याख्या पर इस प्रकार है "यथार्थवाद जीवन की समग्र परिस्थितियों के प्रति ईमानदारी का दावा करते हुए भी प्रायः सदैव मनुष्य की हीनताओं तथा कुरूपताओं का चित्रण करता है।" यथार्थवाद की कथनी और करनी का अन्तर दिखाने के बाद लिखा है, "यथार्थवाद सुधारक साहित्य का प्रथम अस्त्र है। किसी भी सामाजिक स्थिति के प्रति विद्रोह करते समय साहित्यकार उसका यथार्थवादी चित्र उपस्थित करता है।" और "यथार्थवाद का हिन्दी साहित्य में प्रथम विकास प्रगतिवाद के माध्यम से हुआ।"[३]

यदि इसी व्याख्या को प्रामाणिक मान लिया जाय तो भी हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद अर्थात् प्रगतिवाद अगर पूरे हिन्दुस्तान में नहीं तो कम-से-कम हिन्दी प्रदेश में सुधार के ध्येय से प्रेरित होकर उसकी हीनताओं, कुरूपताओं को उद्घाटित करने वाला साहित्य हुआ। वह एकांगी भले हो, विदेशी नहीं है। आश्चर्य तब होता है जब इसी कोश में 'प्रगतिवाद' की जानकारी हम इन शब्दों में पाते हैं "भारतीय जीवन में प्रगतिवाद अनुभूतियों के स्तर पर देश-काल और सम-सामयिक यथार्थ की अवहेलना करता रहा है।"[४] अतएव इस बात का खण्डन करते हुए कि प्रगतिवाद में

१. 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा', पृ० १४।
२. वही, पृ० ७।
३. 'हिन्दी साहित्य कोश', पृ० ६६१।
४. वही, पृ० ४११।

यथार्थवाद का विकास है, वहीं स्पष्ट कर दिया गया है कि "प्रगतिवाद केवल एक अयथार्थवादी भावधारामात्र है।"[1]

कहने की जरूरत नहीं कि इस प्रकार की पूर्वाग्रह प्रेरित आलोचनाओं से न किसी साहित्य को समझने में मदद मिलती है और न साहित्यालोचन के विकास में। बल्कि ऐसी आलोचनाएँ अपनी आन्तरिक असंगतियों और परस्पर-विरोधी स्थापनाओं के कारण स्वयं अपनी वस्तुनिष्ठता के प्रति गहरा सन्देह उत्पन्न करती हैं।

यथार्थवादी कला हीनताओं और कुरूपताओं का चित्रण करती है, लेकिन वह केवल इतना ही नहीं करती। उसकी मुख्य शक्ति इस बात में निहित है कि वह मनुष्य को देश-कालगत दृश्यफलक पर रख कर सामाजिक अन्तर्विरोधों की व्याख्या की अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। यथार्थवादी आधारभूमि पर अधिष्ठित प्रगतिवाद के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक है कि वह सामाजिक विश्लेषण, अर्थात् सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मनुष्य के अध्ययन और चित्रण पर बल दे।

यदि हम प्रगतिशील साहित्य के जन्म से पूर्व की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर एक दृष्टि डालें तो स्पष्ट होगा कि सामाजिक यथार्थ को कला में व्यापक स्तर पर अभिव्यक्ति मिलने लगी थी। छायावादी कल्पना और भावुकता अपनी उड़ान में जमीन से इतनी दूर जा पहुँची थी कि उसे जीवन का स्पन्दन मिलना बन्द हो गया था। दूसरी ओर समाज में उभरती हुई श्रमजीवी जनता की नयी वास्तविकताएँ साहित्य में व्यक्त होने लगी थीं। भारतेन्दु-युग में साम्राज्यवाद-विरोधी यथार्थवादी परम्परा गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रामेश्वर 'करुण', छैलबिहारी दीक्षित 'कण्टक', श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल', जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' आदि कवियों में विकसित होकर समाजवादी रुझान ग्रहण कर रही थी। इनकी कविताओं में साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और सामन्तवाद के तिहरे शोषण का विरोध और श्रमिक वर्ग की आस्था से दीप्त सर्वहारा क्रान्ति का स्वप्न विद्यमान है। जो छायावादी कवि जमीन त्याग कर कल्पना-लोक में नहीं जा बसे थे उन्होंने जीवन की ज्वलन्त वास्तविकताओं को वाणी दी। जिन कवियों ने कल्पना के आकाश से उतरकर धरती के खुरदुरे यथार्थ को देखा उन्होंने 'युगान्त' की घोषणा की।

भारत में प्रगतिवाद के जन्म के समय अंग्रेजों का उपनिवेशवादी शासन था। कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रव्यापी स्वाधीनता संघर्ष अधिकाधिक निर्णायक रूप लेता जा रहा था। सभी के सामने मुख्य प्रश्न था ब्रिटिश साम्राज्यवाद से भारत की मुक्ति। कांग्रेस इन सभी स्वाधीनता प्रेमी शक्तियों का प्रमुख संगठन थी। लेकिन उसके

---

1. 'हिन्दी साहित्य कोश', पृ० ५११।

पीछे सामन्त सभी शक्तियाँ क्रान्ति की पक्षधर नहीं थी। कांग्रेस के पीछे बड़े पैमाने पर मजदूर-किसान अवश्य थे, लेकिन उसका नेतृत्व क्रान्तिकारियों के हाथ मे न होकर पूँजीवादियों के हाथ में था। भारतीय पूँजीपति वर्ग मुख्यतः उत्पादन करने वाला पूँजीपति वर्ग है। उत्पादक प्रकृति के पूँजीपति वर्ग को अपना माल बेचने के लिए बाजार की जरूरत होती है। इसलिए भारत को अपनी मण्डी बना कर रखने वाले अंग्रेजो से उसके हितों का टकराव स्वाभाविक था। किन्तु श्रम और सम्पत्ति के जन्मजात विरोध के कारण उसके हित मजदूर-किसान से भी टकराते थे। फलतः कांग्रेसी स्वाधीनता की बहुत बड़ी सीमाएँ थीं। वह अंग्रेजों से उसी हद तक टकराना चाहती थी जिस हद तक मजदूर-किसानों के वर्ग-संघर्ष को काबू में रखने के लिए समझौते की गुन्जाइश बनी रहे। यही कारण था कि सन्' ४७ की आजादी ने जहाँ एक तरफ पूँजीपतियो-जमींदारों के हाथ मे शासन-सत्ता सौंप दी वहीं दूसरी ओर जनता के जागरूक वर्ग-संघर्ष को नियन्त्रण मे रखने के ध्येय से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कामनवेल्थ मे रहने का "समझौता" भी किया।

कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस के इस दुर्मुंहे चरित्र को समझती थी। उसने जिस आजादी की रूपरेखा प्रस्तुत की उसमें अंग्रेजी साम्राज्यवाद के साथ-साथ पूँजीवादी और सामन्ती शोषकों से भी जनता की मुक्ति निहित थी। अंग्रेज इस बात को बखूबी समझते थे कि मजदूर वर्ग और उनकी विचारधारा—मार्क्सवाद—ही साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष को निर्णायक रूप दे सकते हैं। वे यह देख रहे थे कि भारतीय जीवन में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव तेजी से बढ़ रहा है। कम्युनिस्ट पार्टी ही नहीं, कांग्रेस सामाजवादी पार्टी भी यह स्वीकार करने लगी थी कि "मार्क्सवाद ही साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों को उनके अन्तिम ध्येय तक पहुँचा सकता है।"[1] इसके अतिरिक्त 'हंस', 'जागरण', 'विश्वमित्र', 'आज' आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं में असंख्य लेखक अपने-अपने तरीके से समाजवाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद आदि के महत्त्व पर प्रकाश डाल रहे थे।

मार्क्सवादी विचारधारा के इस व्यापक प्रभाव से जनता की साम्राज्यवाद-विरोधी भावना के साथ-साथ इस बात का भी पता चलता है कि लोग मार्क्सवाद को ही सुसंगत साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा के रूप में ग्रहण कर रहे थे। फलतः अंग्रेजों ने बन्दिशों का दौर शुरू कर दिया। कम्युनिस्ट-विरोधी अभियान मे तेजी आयी और सन्' ३४ मे कम्युनिस्ट पार्टी पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। 'हंस', 'जागरण' आदि से १६३२ में जमानत माँगी गयी और 'आज' बन्द कर दिया गया।

---

१. 'कांग्रेस समाजवादी पार्टी की नीति', पृ० १।

१६१० से '३४ के चार-पाँच वर्षों में ३४८ पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन पर पाबन्दी लगायी गयी।[1] इन सब बन्दिशों का कारण बताया गया—राजद्रोह। कम्युनिस्टों का ही नहीं, इन पत्र-पत्रिकाओं का भी 'राजद्रोह' यह था कि वे स्वराज का पक्ष लेती थी, राष्ट्रीय स्वाधीनता के अलावा इनमें से अनेक अखबार किसानों की मुक्ति, नव-जागरण, समाजवाद आदि विषयों की चर्चा करते थे।

इन तथ्यों से प्रगतिशील साहित्य की साम्राज्यवाद-विरोधी अन्तर्वस्तु का पता चलता है। साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे के रूप में जिस तरह राजनीति के मंच पर कांग्रेस के इर्द-गिर्द विभिन्न विचारों और प्रवृत्तियों के लोग एकजुट हुए, उसी तरह साहित्य के मंच पर प्रगतिशील लेखक संघ के इर्द-गिर्द व्यापक मोर्चा तैयार हुआ। दोनों में मूलभूत अंतर यह था कि प्रगतिशील लेखक संघ की विचारधारा सुधारवादी या पूँजीवादी कांग्रेसी नेतृत्व की विचारधारा से भिन्न थी।

प्रगतिशील सौन्दर्य-चिन्तन में साहित्य को 'जीवन की समीक्षा' और 'जीवन का पुनः सृजन' माना गया है। समसामयिक भारतीय जीवन की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के प्रति प्रगतिशील साहित्य उदासीन रहता, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रगतिशील लेखक संघ में जो राष्ट्रवादी, जनवादी और मार्क्सवादी लेखक आये उनकी रचनाओं में साम्राज्यवाद-विरोधी राजनीतिक चेतना अत्यन्त प्रखरता से विद्यमान है। प्रगतिवाद के इस राजनीतिक स्वर से चौंक कर कुछ 'अहं अन्तर्गुहा-वासी' लेखक उसे एक राजनीतिक बिल्ला घोषित करते हैं।[2] लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि प्रगतिवाद के राजनीतिक स्वर का सबसे बड़ा कारण था समकालीन राजनीतिक पुनर्जागरण। डॉ० नामवर सिंह के शब्दों में, "सामान्य लोगों के जीवन में राजनीति का तथा राजनीति में सामान्य लोगों का ऐसा प्रवेश पहली बार हुआ था।"[3] इस राष्ट्रव्यापी राजनीतिक पुनर्जागरण के समय विकसित प्रगतिवाद के काव्य-मूल्यों पर राजनीति का गहरा असर पड़ना स्वाभाविक था।

कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी की आजादी की परिकल्पनाओं में जो मौलिक अन्तर था वह आजादी के बाद और तीव्र होकर उभरा। आजादी से पहले तरह-तरह की समाजोन्मुख प्रवृत्तियों के रचनाकार प्रगतिशील साहित्य के मंच पर एक[illegible] थे। विभिन्न समाजोन्मुख प्रवृत्तियों का संगम होने के नाते प्रगतिवाद में " की विविधता और वर्ग-चेतना के अनेक रूपों और स्तरों का होना

१. 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास', खण्ड २, पृ० १६७।
२. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृ० १५३।
३. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ', पृ० ७३।

उसके विभिन्न तत्त्वों में सहयोग और संघर्ष का होना भी स्वाभाविक था।"[1] किन्तु इन सब अन्तर्विरोधों के बावजूद उनमें सहमति का एक मुद्दा था—ब्रिटिश शासन से संघर्ष। जब भारतीय नेता गद्दी पर आ बैठे तब ब्रिटिश शासक चले गये और राष्ट्र के अपने अन्तर्विरोध उजागर होने लगे। रामराज का स्वप्न दिखाने वाली कांग्रेस ने जनता के संघर्षों का दमन आरम्भ कर दिया। आकांक्षाओं और उपलब्धियों के इस भयंकर अन्तर्विरोध ने जनता में व्यापक असन्तोष और मोहभंग पैदा किया।

प्रगतिशीलों में जो मार्क्सवादी थे उन्होंने आजादी के दमनकारी चरित्र को उद्घाटित किया। जो अन्य प्रेरणाओं से प्रगतिवाद के नजदीक आये थे वे उससे अलग होने लगे। उन दिनों को याद करते हुए अज्ञेय ने लिखा—

> "आरम्भ में प्रगतिशील लेखक संघ में विभिन्न प्रवृत्तियों के लोग थे जिन्हें आपस में मिलाने वाली भावना वस्तुस्थिति के प्रति एक सन्देह की भावना थी।...किन्तु क्रमशः प्रगतिशील अन्दोलन में 'शील' का स्थान 'वाद' ने ले लिया। जिनके नाम और प्रतिष्ठा के आधार पर प्रगतिशील लेखक संघ संगठित हुआ और पनपता रहा, वे एक-एक कर उससे अलग हो गये या अलग कर दिये गये।"[2]

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की नजर में प्रगतिवाद के सर्वव्यापी प्रभाव का कारण दूसरा है।

> "हिन्दी साहित्य में कम्युनिस्ट पार्टी के साहित्यिक दल प्रगतिशील लेखक संघ ने दस वर्षों तक ऐसा आन्दोलन चलाया था जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी के अनेक साहित्यकारों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह अपने को प्रमाणित करने के लिए किसी-न-किसी रूप में प्रगतिशील-लेखक संघ से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लें। इस भाग-दौड़ में छोटे-बड़े सभी शामिल थे। यहाँ तक कि पंत, निराला, महादेवी वर्मा भी इससे नहीं बच सके। प्रगतिशील लेखक संघ के पास 'हंस', 'नया साहित्य', 'जनयुग', 'वीणा', 'वसुधा' आदि अनेक पत्रिकाएँ थीं जिनके माध्यम से लेखकों का प्रचार-प्रसार तो होता ही था, साथ ही, उनको साहित्यिक प्रतिष्ठा भी मिलती थी।"[3]

---

१. चन्द्रबली सिंह : 'प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन और नयी दिशा' शीर्षक लेख (स्वाधीनता, कलकत्ता, नवम्बर, १९५६)।
२. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृ० १२।
३. 'हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्ष', 'कल्पना', जून, १९६७।

ये छोटे-बड़े लेखक प्रगतिवाद से वस्तुस्थिति के प्रति सन्देह की भावना से जुड़े या प्रचार-स्तर और साहित्यिक प्रतिष्ठा की लालसा से, यह अलग बात है। उसके इस जुड़ाव का मुख्य कारण था प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा चलाया गया आन्दोलन जिसने गैर-मार्क्सवादियों को भी उससे जुड़ने पर विवश कर दिया। जो लेखक बाद में प्रगतिवाद से अलग हो गये और साहित्य की दूसरी धाराएँ प्रवाहित करने लगे वे भी एक समय समाजवाद के साथ थे। जब तक भारतीय जनता का मुख्य संघर्ष अंग्रेज से था, भारतीय पूँजीपतियों से नहीं, तब तक तो ये लेखक उग्र समाजवादी थे। लेकिन "सन्'४७ के बाद जब समाजवाद के लिए संघर्ष करने का समय आया, तब वे सरकार या पूँजीपतियों के संस्थानों से चिपक गये।"[1] प्रगतिशील मूल्य भारतीय जीवन में गहराई तक रसे-बसे थे इसलिए ये लेखक भी अपनी-अपनी विचारधाराओं को सच्ची प्रगतिशीलता बता कर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करते थे।

इस स्थिति में यह निर्दिष्ट करना आवश्यक हो गया कि प्रगतिशील मूल्यों की कसौटी क्या है? ऐतिहासिक सन्दर्भों में 'रूढ़ि' और 'प्रगति' का विवेचन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध" रखने और "मनुष्यता की अग्रगति में सहायक" बनने को प्रगतिशीलता का आधार माना।[2] जीवन का चरित्र विकासशील है, इसलिए पुरानी व्यवस्थाएँ जब अपनी सृजनात्मक सम्भावनाएँ खो बैठती हैं तो उनसे जुड़े मूल्य भी रूढ़ि में बदल जाते हैं।

अपनी बात स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी ने दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम का उदाहरण दिया। दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम वैयक्तिक है। किन्तु उसका दूसरा धरातल सामाजिक विधान से टकराता है। दुष्यन्त क्षत्रिय है शकुन्तला ब्राह्मण। सामाजिक विधान उनके प्रेम को अनुमति नहीं देता। स्त्री-पुरुष का अनुराग सनातन है, जाति-धर्म की सीमाएँ और इस कारण स्त्री-पुरुष का मिल न पाना समाज-स्थिति से जुड़ा है। ऐसा सदैव नहीं रहेगा।

संक्षेप में, व्यक्ति और व्यक्ति के सम्बन्ध के दो धरातल हैं। पहला वैयक्तिक जो काफी हद तक देश-काल का अतिक्रमण करता है। दूसरा सामाजिक जो सामाजिक विधान से जुड़ा है। पहला धरातल आसानी से नहीं बदलता। दूसरा धरातल समाज के साथ बदलता रहता है। प्रगतिशील सौन्दर्य-मूल्यों में इन दोनों धरातलों को, इनके बीच होनेवाले गतिशील द्वन्द्व को स्वीकार किया जाता है। द्विवेदी जी जड़ीभूत वास्तविकता को 'रूढ़ि' मानते हैं और उनके स्थान पर गतिशील जीवन यथार्थ का पक्ष

---

१. 'निराला की साहित्य साधना', भाग १, पृ० ४६३।

२. 'संघर्ष', २५ अप्रैल, १९३८, पृ० ७।

उसके विभिन्न तत्वों में सहयोग और संघर्ष का होना भी स्वाभाविक था।"[१] किन्तु इन सब अन्तर्विरोधों के बावजूद उनमें सहमति का एक मुद्दा था—ब्रिटिश शासन से संघर्ष। जब भारतीय नेता गद्दी पर आ बैठे तब ब्रिटिश शासक चले गये और राष्ट्र के अपने अन्तर्विरोध उजागर होने लगे। रामराज का स्वप्न दिखाने वाली कांग्रेस ने जनता के संघर्षों का दमन आरम्भ कर दिया। आकांक्षाओं और उपलब्धियों के इस भयंकर अन्तर्विरोध ने जनता में व्यापक असन्तोष और मोहभंग पैदा किया।

प्रगतिशीलों में जो मार्क्सवादी थे उन्होंने आजादी के दमनकारी चरित्र को उद्घाटित किया। जो अन्य प्रेरणाओं से प्रगतिवाद के नजदीक आये थे वे उससे अलग होने लगे। उन दिनों को याद करते हुए अज्ञेय ने लिखा—

> "आरम्भ में प्रगतिशील लेखक संघ में विभिन्न प्रवृत्तियों के लोग थे जिन्हें आपस में मिलाने वाली भावना वस्तुस्थिति के प्रति एक सन्देह की भावना थी।...किन्तु क्रमशः प्रगतिशील आन्दोलन में 'शील' का स्थान 'वाद' ने ले लिया। जिसके नाम और प्रतिष्ठा के आधार पर प्रगतिशील लेखक संघ संगठित हुआ और पनपता रहा, वे एक-एक कर उससे अलग हो गये या अलग कर दिये गये।"[२]

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की नजर में प्रगतिवाद के सर्वव्यापी प्रभाव का कारण दूसरा है।

> "हिन्दी साहित्य में कम्युनिस्ट पार्टी के साहित्यिक दल प्रगतिशील लेखक संघ ने दस वर्षों तक ऐसा आन्दोलन चलाया था जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी के अनेक साहित्यकारों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह अपने को प्रमाणित करने के लिए किसी-न-किसी रूप में प्रगतिशील-लेखक संघ से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लें। इस भाग-दौड़ में छोटे-बड़े सभी शामिल थे। यहाँ तक कि पंत, निराला, महादेवी वर्मा भी इससे नहीं बच सके। प्रगतिशील लेखक संघ के पास 'हंस', 'नया साहित्य', 'जनयुग', 'वीणा', 'वसुधा' आदि अनेक पत्रिकाएँ थीं जिनके माध्यम से लेखकों का प्रचार-प्रसार तो होता ही था, साथ ही, उनको साहित्यिक प्रतिष्ठा भी मिलती थी।"[३]

---

१. चन्द्रबली सिंह : 'प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन और नयी दिशा' शीर्षक लेख (स्वाधीनता, कलकत्ता, नवम्बर, १९७६)।

२. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृ० ३२।

३. 'हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्ष', 'कल्पना', जून, १९६७।

ये छोटे-बड़े लेखक प्रगतिवाद से वस्तुस्थिति के प्रति सन्देह की भावना से जुड़े या प्रचार-स्तर और साहित्यिक प्रतिष्ठा की लालसा से, यह अलग बात है। उसके इस जुड़ाव का मुख्य कारण था प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा चलाया गया आन्दोलन जिसने गैर-मार्क्सवादियों को भी उससे जुड़ने पर विवश कर दिया। जो लेखक बाद में प्रगतिवाद से अलग हो गये और साहित्य की दूसरी धाराएँ प्रवाहित करने लगे वे भी एक समय समाजवाद के साथ थे। जब तक भारतीय जनता का मुख्य संघर्ष अंग्रेज से था, भारतीय पूँजीपतियों से नहीं, तब तक तो ये लेखक उग्र समाजवादी थे। लेकिन "सन्'४७ के बाद जब समाजवाद के लिए संघर्ष करने का समय आया, तब वे सरकार या पूँजीपतियों के संस्थानों से चिपक गये।"[१] प्रगतिशील मूल्य भारतीय जीवन में गहराई तक रमे-बसे थे इसलिए ये लेखक भी अपनी-अपनी विचारधाराओं को सच्ची प्रगतिशीलता बता कर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करते थे।

इस स्थिति में यह निर्दिष्ट करना आवश्यक हो गया कि प्रगतिशील मूल्यों की कसौटी क्या है? ऐतिहासिक सन्दर्भों में 'रूढ़ि' और 'प्रगति' का विवेचन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध" रखने और "मनुष्यता की अग्रगति में सहायक" बनने को प्रगतिशीलता का आधार माना।[२] जीवन का चरित्र विकासशील है, इसलिए पुरानी व्यवस्थाएँ जब अपनी सृजनात्मक सम्भावनाएँ खो बैठती हैं तो उनसे जुड़े मूल्य भी रूढ़ि में बदल जाते हैं।

अपनी बात स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी ने दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम का उदाहरण दिया। दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम वैयक्तिक है। किन्तु उसका दूसरा धरातल सामाजिक विधान से टकराता है। दुष्यन्त क्षत्रिय है शकुन्तला ब्राह्मण। सामाजिक विधान उनके प्रेम को अनुमति नहीं देता। स्त्री-पुरुष का अनुराग सनातन है, जाति-धर्म की सीमाएँ और इस कारण स्त्री-पुरुष का मिल न पाना समाज-स्थिति से जुड़ा है। ऐसा सदैव नहीं रहेगा।

संक्षेप में, व्यक्ति और व्यक्ति के सम्बन्ध के दो धरातल हैं। पहला वैयक्तिक जो काफी हद तक देश-काल का अतिक्रमण करता है। दूसरा सामाजिक जो सामाजिक विधान से जुड़ा है। पहला धरातल आसानी से नहीं बदलता। दूसरा धरातल समाज के साथ बदलता रहता है। प्रगतिशील सौन्दर्य-मूल्यों में इन दोनों धरातलों को, इनके बीच होनेवाले गतिशील द्वन्द्व को स्वीकार किया जाता है। द्विवेदी जी जड़ीभूत वास्तविकता को 'रूढ़ि' मानते हैं और उनके स्थान पर गतिशील जीवन यथार्थ का पक्ष

१. 'निराला की साहित्य साधना', भाग १, पृ० ५६१।

२. 'संघर्ष', २५ अप्रैल, १९३८, पृ० ७।

इसके विभिन्न तत्त्वों में सहयोग और संघर्ष का होना भी स्वाभाविक था।"[1] किन्तु इन सब अन्तर्विरोधों के बावजूद उनमें सहमति का एक मुद्दा था—ब्रिटिश शासन से संघर्ष। जब भारतीय नेता गद्दी पर आ बैठे तब ब्रिटिश शासक चले गये और राष्ट्र के अपने अन्तर्विरोध उजागर होने लगे। रामराज का स्वप्न दिखाने वाली कांग्रेस ने जनता के संघर्षों का दमन आरम्भ कर दिया। आकांक्षाओं और उपलब्धियों के इस भयंकर अन्तर्विरोध ने जनता में व्यापक असन्तोष और मोहभंग पैदा किया।

प्रगतिशीलों में जो मार्क्सवादी थे उन्होंने आजादी के दमनकारी चरित्र को उद्घाटित किया। जो अन्य प्रेरणाओं से प्रगतिवाद के नजदीक आये थे वे उससे अलग होने लगे। उन दिनों को याद करते हुए अज्ञेय ने लिखा—

> "आरम्भ में प्रगतिशील लेखक संघ में विभिन्न प्रवृत्तियों के लोग थे जिन्हें आपस में मिलाने वाली भावना वस्तुस्थिति के प्रति एक सन्देह की भावना थी। "किन्तु क्रमशः प्रगतिशील अन्दोलन में 'शील' का स्थान 'वाद' ने ले लिया। जिसके नाम और प्रतिष्ठा के आधार पर प्रगतिशील लेखक संघ संगठित हुआ और पनपता रहा, वे एक-एक कर उससे अलग हो गये या अलग कर दिये गये।"[2]

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की नजर में प्रगतिवाद के सर्वव्यापी प्रभाव का कारण दूसरा है।

> "हिन्दी साहित्य में कम्युनिस्ट पार्टी के साहित्यिक दल प्रगतिशील लेखक संघ ने दस वर्षों तक ऐसा आन्दोलन चलाया था जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी के अनेक साहित्यकारों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह अपने को प्रमाणित करने के लिए किसी-न-किसी रूप में प्रगतिशील-लेखक संघ से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लें। इस भाग-दौड़ में छोटे-बड़े सभी शामिल थे। यहाँ तक कि पन्त, निराला, महादेवी वर्मा भी इससे नहीं बच सके। प्रगतिशील लेखक संघ के पास 'हंस', 'नया साहित्य', 'जनयुग', 'वीणा', 'वसुधा' आदि अनेक पत्रिकाएँ थीं जिनके माध्यम से लेखकों का प्रचार-प्रसार तो होता ही था, साथ ही, उनको साहित्यिक प्रतिष्ठा भी मिलती थी।"[3]

---

1. चन्द्रबली सिंह : 'प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन और नयी दिशा' शीर्षक लेख (स्वाधीनता, कलकत्ता, नवम्बर, १९७६)।
2. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृ० १२।
3. 'हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्ष', 'कल्पना', जून, १९६७।

ये छोटे-बड़े लेखक प्रगतिवाद से वस्तुस्थिति के प्रति सन्देह की भावना से जुड़े या प्रचार-स्तर और साहित्यिक प्रतिष्ठा की लालसा से, यह अलग बात है। उसके इस जुड़ाव का मुख्य कारण था प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा चलाया गया आन्दोलन जिसने गैर-मार्क्सवादियों को भी उससे जुड़ने पर विवश कर दिया। जो लेखक बाद में प्रगतिवाद से अलग हो गये और साहित्य की दूसरी धाराएँ प्रवाहित करने लगे वे भी एक समय समाजवाद के साथ थे। जब तक भारतीय जनता का मुख्य संघर्ष अंग्रेज से था, भारतीय पूँजीपतियों से नहीं, तब तक तो ये लेखक उग्र समाजवादी थे। लेकिन "सन् '४७ के बाद जब समाजवाद के लिए संघर्ष करने का समय आया, तब वे सरकार या पूँजीपतियों के संस्थानों से चिपक गये।"[१] प्रगतिशील मूल्य भारतीय जीवन में गहराई तक रमे-बसे थे इसलिए ये लेखक भी अपनी-अपनी विचारधाराओं को सच्ची प्रगतिशीलता बता कर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करते थे।

इस स्थिति में यह निर्दिष्ट करना आवश्यक हो गया कि प्रगतिशील मूल्यों की कसौटी क्या है? ऐतिहासिक सन्दर्भों में 'रूढ़ि' और 'प्रगति' का विवेचन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध" रखने और "मनुष्यता की अग्रगति में सहायक" बनने को प्रगतिशीलता का आधार माना।[२] जीवन का चरित्र विकासशील है, इसलिए पुरानी व्यवस्थाएँ जब अपनी सृजनात्मक सम्भावनाएँ खो बैठती हैं तो उनसे जुड़े मूल्य भी रूढ़ि में बदल जाते हैं।

अपनी बात स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी ने दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम का उदाहरण दिया। दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम वैयक्तिक है। किन्तु उसका दूसरा धरातल सामाजिक विधान से टकराता है। दुष्यन्त क्षत्रिय है शकुन्तला ब्राह्मण। सामाजिक विधान उनके प्रेम को अनुमति नहीं देता। स्त्री-पुरुष का अनुराग सनातन है, जाति-धर्म की सीमाएँ और इस कारण स्त्री-पुरुष का मिल न पाना समाज-स्थिति से जुड़ा है। ऐसा सदैव नहीं रहेगा।

संक्षेप में, व्यक्ति और व्यक्ति के सम्बन्ध के दो धरातल हैं। पहला वैयक्तिक जो काफी हद तक देश-काल का अतिक्रमण करता है। दूसरा सामाजिक जो सामाजिक विधान से जुड़ा है। पहला धरातल आसानी से नहीं बदलता। दूसरा धरातल समाज के साथ बदलता रहता है। प्रगतिशील सौन्दर्य-मूल्यों में इन दोनों धरातलों को, इनके बीच होनेवाले गतिशील द्वन्द्व को स्वीकार किया जाता है। द्विवेदी जी जड़ीभूत वास्तविकता को 'रूढ़ि' मानते हैं और उनके स्थान पर गतिशील जीवन यथार्थ का पक्ष

१. 'निराला की साहित्य साधना', भाग १, पृ० २६३।
२. 'संघर्ष', २५ अप्रैल, १९१८, पृ० ७।

लेने की 'प्रगति'। जीवन के प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा न केवल 'प्रतिगमन' को रोकना बल्कि अग्रगति में सहायक होना प्रगतिशीलता की कसौटी है।

जो कला इस अग्रगति में, नयी वास्तविकताओं से उत्पन्न नये मूल्यों की प्रतिष्ठा में सक्रिय सहायता नहीं करती वह 'प्रतिगामी' होती है। यह 'प्रतिगमन' अतीत प्रेम में भी व्यक्त हो सकता है और यथास्थितिवाद में भी।

अतीत प्रेम के दो कारण हैं। पहला, वर्तमान की-सी अनुभूति-सघनता न होने से अतीत की जटिलताओं की ओर ध्यान नहीं जाता। और दूसरा, अतीत के वर्णन से आनन्द तो मिलता है लेकिन उसके प्रति कोई जवाबदेही नहीं रहती। अतः अतीत प्रेम दायित्वहीन पलायन-वृत्ति का ही एक रूप है।

इससे भिन्न, यथास्थितिवादी विचारधाराएँ अतीतपंथी रूढ़िवाद का विरोध करती हैं, लेकिन जीवन की अग्रगति में सहायक होने को भी अनुचित ठहराती हैं। वर्तमान की स्वीकृति को ही मानववादी मूल्य बताते हुए डॉ० धर्मवीर भारती कहते हैं :

> "यदि हम''' भविष्य के किसी अदृश्य वर्गहीन समाज की स्थापना के नाम पर मानववादी मूल्यों का तिरस्कार करते हैं तो हम प्रगति की आस्था को आन्तरिक रूप से पराजित करके एक प्रकार के नये भाग्यवाद को प्रश्रय देते हैं।"[1]

तात्पर्य यह है कि वर्गहीन समाज की कल्पना भविष्य के गर्भ में है। कल किसने देखा है ? कल की बात सोचना प्रगति को पराजित करना और भाग्यवाद को बढ़ाना है। सच्चा मानववादी मूल्य भविष्य के बारे में नहीं सोचता। शुद्ध वर्तमान में लिप्त रहने वाली प्रगति' की यह 'आन्तरिक आस्था' जिस यथास्थितिवाद और व्यक्तिवाद को जन्म देती है उसका मूल कर्तव्य है मार्क्सवाद-विरोध। इसीलिये लक्ष्मीकान्त वर्मा "मार्क्सवाद के विरोध में व्यक्तिनिष्ठा पर जोर" देते हैं।[2]

मार्क्सवाद व्यक्ति-निष्ठा और यथास्थिति की स्वीकृति मात्र को प्रगति, मानव-मूल्य और दायित्व-बोध मानने से इनकार करता है। सभी अतीतपंथी अथवा यथास्थितिवादी विचारधाराएँ मनुष्य के दायित्व, पुरुषार्थ और सामर्थ्य में सन्देह उत्पन्न करती हैं। मार्क्सवाद से उनका यह बुनियादी विरोध है। मार्क्सवाद मनुष्य को काल-प्रवाह में पतित, पंगु, विवश, अभिशप्त मानने के बजाय सजग,

१. 'साहित्य की नयी मर्यादा', 'आलोचना', अप्रैल, १९५४।

२. 'नयी कविता के प्रतिमान', पृ० २०।

दायित्व-बोध से युक्त और अपनी नियति में दखल दे सकने वाला प्राणी मानता है। वह भविष्य के प्रति अनास्था उत्पन्न नहीं करता। प्रगतिशील काव्य-मूल्यों की दीप्ति का कारण है जनता में, भविष्य के महान् ध्येय से प्रेरित उसके कर्म में, उसकी संगठित शक्ति में गहरे विश्वास से उसका अनुप्राणित होना।

प्रगति विरोधियों की भांति प्रगति के साथ 'वाद' में संकीर्णता और 'शील' में व्यापकता के दर्शन करने वाले प्रगतिवादियों ने भी प्रगतिशीलता का व्यापकतम निकष प्रस्तुत करने के लिए निरपेक्षता की शरण ली। श्री शिवदान सिंह चौहान ने प्रगतिवाद को मात्र तुकबन्दी और नारेबाजी का साहित्य कहा। उन्होंने जिस निरपेक्ष युग-सत्य और जीवन-यथार्थ को प्रगति का आधार कहा वह समसामयिक युग और जीवन से अलग था।[1] ऐसा कौन-सा जीवन-यथार्थ सम्भव है इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया। प्रगतिशीलों की इस तरह की निरपेक्षता-वादी धारणाओं का खण्डन करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने सर्वथा उचित कहा है कि "युग जीवन की वास्तविकता अखण्ड इकाई नहीं है। कोई युग भी सत्य-द्वन्द्व से परे नहीं होता। आज के युग का सत्य है, एक तरफ जनता साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिए संघर्ष कर रही है, दूसरी तरफ साम्राज्यवादी ताकतें और उनके हिमायती उसे दबाने और गुलाम बनाये रखने की कोशिश कर रही हैं। इस द्वन्द्व में कलाकार किसी अद्वैत युग-सत्य का सहारा न लेकर जनता या उसके विरोधियों का पक्ष लेता है। इसलिए स्वभावतः प्रगतिशील न होकर उसे युग-विशेष और समाज-विशेष के संघर्ष में जनता का पक्ष लेने पर ही प्रगतिशील कहा जा सकता है।"[2]

अर्थात्, मुक्ति के लिए संघर्षरत जनता का पक्ष लेने पर ही कला प्रगतिशील होती है। यह मुक्ति सभी प्रकार के शोषण से मुक्ति का पर्याय है। प्रगतिशील अर्थों में जनता "अपने शरीर या दिमाग से मेहनत"[3] करने वाली श्रमजीवी जनता है। सारी दुनिया में मेहनतकश जनता की एक बिरादरी है। जो मुट्ठी भर महाजन अपनी दौलत और शक्ति के बल पर बेमुरव्वती से मेहनत करने वालों का खून चूसते हैं, उनकी भी अखिल विश्व में एक बिरादरी है। भाई-चारे के सम्बन्ध का कारण हितों की समानता है। प्रगतिशील काव्य में इस विभाजन और भाई-चारे के अतिरिक्त जाति, धर्म, रंग आदि के आधार पर किये गये दूसरे विभाजनों को कृत्रिम और भ्रामक माना गया है। सामाजिक विभाजन के बीच आत्मीयता अकल्पनीय

१. दे० 'साहित्य की समस्याएँ', पृ० ५३, ५४, ५२, ६३
२. 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', पृ० ६१
३. प्रेमचन्द : 'महाजनी सभ्यता', ('हंस', सितम्बर, १९३६), पृ० ५१

है। प्रगतिशील कविता में तटस्थता को अस्पष्ट और विभाजित सहानुभूति को विभाजित जीवन की उपज माना गया है।

अपनी परिभाषित पक्षधरता के कारण प्रगतिशील रचनाकार जीवन की गतिशील वास्तविकताओं में सजग और सक्रिय रूप से भागीदार बनने में ही कला की सार्थकता मानता है। मनुष्य के पुरुषार्थ—उसके कर्म और श्रम—में बुनियादी आस्था प्रगतिशील सौन्दर्य-मूल्यों का सारतत्त्व है।

प्रगतिशील कविता में जनता की तरफदारी महाजनी समाज के ध्वंस की सक्रिय चेतना में व्यक्त होती है। प्रगतिशील कवियों के संगठित कार्य का यह सर्वोच्च मूल्य है। प्रगतिशील कविता में कर्मशील मनुष्य का यह मूल्य तीन स्तरों पर व्यक्त हुआ है।

एक — सामाजिक और ऐतिहासिक सन्दर्भों में व्यक्ति का विश्लेषण एवं व्यक्ति और समाज के द्वन्द्वात्मक धरातल की पहचान।

दो — मनुष्य की नयी प्रतिभा का निर्माण। मनुष्य वर्तमान विसंगतियों को झेलने और उन्हें ही मूल्य के रूप में स्वीकार करने को विवश (अभिशप्त) प्राणी नहीं है। वह इतिहास के सहज प्रवाह में अपनी सजग और सक्रिय भूमिका द्वारा अपनी नियति में दखल दे सकता है और अपने भविष्य की सुदृ रचना कर सकता है।

तीन — गहन यथार्थ-बोध, इतिहास-बोध और इनसे उत्पन्न दायित्व-बोध। यह दायित्व-बोध मनुष्य को अन्तर्मुखता से निकाल कर समय की चुनौतियों का सामना करने की प्रेरणा देता है और मनुष्य को व्यक्ति नहीं, समाज और संगठन बनाता है।

———

# इतिहास-बोध : सांस्कृतिक चेतना

सन् १९२० के आसपास एक तरफ छायावाद का उद्‌गम हो रहा था, दूसरी तरफ गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और उनके मण्डल के अन्य कवियों के काव्य में समाजवादी विचारधारा को प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति मिल रही थी। दोनों धाराएँ साथ-साथ विकसित हो रही थीं। दोनों काव्यधाराओं में कोई मूलभूत विरोध न था। दोनों की चेतना यथार्थपरक थी। यही दोनों के सह-अस्तित्व और जीवन्तता का कारण था। समाजवादी विचारधारा से प्रेरित सनेही-मण्डल के कवियों में सामाजिक विषमताओं और शोषण के तिहरे—साम्राज्यवादी, पूँजीवादी, सामन्तवादी—रूपों के विरुद्ध संघर्ष की व्यवस्थित चेतना मौजूद थी। छायावाद की प्रासंगिकता का कारण भी उसकी साम्राज्य-विरोधी, सामन्त-विरोधी चेतना थी।

एक-दूसरे की संगति में विकसित होती हुई उपर्युक्त दोनों काव्य-धाराओं की चेतना में अन्तर भी था। छायावाद औद्योगिक संस्कृति के आरम्भ-काल में उत्पन्न व्यक्तिवादी रोमाण्टिक चेतना का वाहक था। उसकी सामन्त-विरोधी अन्तर्वस्तु का आधार था उसका रोमाण्टिक व्यक्तिवाद। सनेही-मण्डल के कवियों की सामन्त-विरोधी चेतना परीक्षा और प्रतिक्रियाजन्य न होकर वैचारिक प्रतिबद्धता से उत्पन्न थी। साम्राज्य-विरोधी भावना दोनों को अपने पूर्ववर्ती साहित्य से विरासत में मिली थी।

पूँजीवाद विकास की आरम्भिक अवस्था में था। छायावादी कवियों का विशेष ध्यान उसके अन्तर्विरोधों की ओर नहीं गया। औद्योगिक क्रान्ति ने प्रकृति की विराट् शक्तियों का जो उद्‌घाटन किया उसके कारण छायावादी काव्य में रहस्यपूर्ण विमुग्धता का भाव ही अधिक रहा। इससे भिन्न, मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित होने के नाते सनेही-मण्डल के कवियों में आरम्भ से पूँजीवाद-विरोधी भावना विद्यमान थी।

प्रगतिशील साहित्य इन दोनों धाराओं के माध्यम से विकसित हुआ। सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद जब संगत रूप से प्रगतिशील साहित्य-सृजन आरम्भ हुआ तब मार्क्सवादियों के अतिरिक्त राष्ट्रवादी, जनवादी धाराओं के अनेक कवि उससे जुड़ गये। इस प्रकार, प्रगतिशील काव्य आरम्भ से ही व्यापक जनवादी चेतना का प्रतिनिधित्व करता रहा है।

प्रगतिशील लेखक संघ ही प्रगतिशील साहित्य का प्रमुख मंच था। उसकी स्थापना में तरुण मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों (सज्जाद जहीर, मुल्कराज आनन्द आदि) और कम्युनिस्ट पार्टी ने केन्द्रीय भूमिका अदा की। प्रेमचन्द, निराला, पन्त आदि जिन गैर-मार्क्सवादी लेखकों ने '३५-'३६ से ही प्रगतिशील लेखक संघ के साथ खुद को जोड़ा वे अपनी-अपनी सीमाओं के बावजूद मार्क्सवाद के निकट थे। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रगतिशील साहित्य मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव लेकर आगे बढ़ा। उसने साहित्य और संस्कृति को जिस दृष्टि से देखा, वह या तो मार्क्सवादी थी या मार्क्सवाद के नजदीक थी। दोनों का मूल दृष्टिकोण समाज की वर्गीय अन्तःप्रकृति को उद्घाटित करता था।

जनवरी, १९३५ में ही, अपने प्रखर विवेक के कारण प्रेमचन्द ने "सुन्दरता की कसौटी बदलने" की आवश्यकता पर बल दिया था। उन्होंने लिखा था कि "अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी।" कलाकार झोपड़े और खण्डहर को "मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था, कभी इनकी चर्चा करता भी था तो मजाक उड़ाने के लिए।" वह "जीवन संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष" देख सकने वाली व्यापक दृष्टि नहीं रखता था, उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है—उस बच्चों वाली गरीब रूपरहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है।" सौन्दर्य सम्बन्धी इस दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए उन्होंने असुन्दर को नहीं, कुरूप को सौन्दर्य का विलोम बताया और समाज से कुरूप का मूलोच्छेद करने वाले कर्म को सर्वोच्च मूल्य। उन्होंने सौन्दर्य का जो नया मान बताया "वह किसी श्रेणी-विशेष तक सीमित न था।" उसकी परिधि बाग की चारदीवारी से निकलकर सारे भू-मण्डल को घेरे वायुमण्डल तक विस्तारित थी। जब यह नया निकष स्वीकृत होगा "तब कुरुचि हमारे लिये सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायेंगे।" हजारों मनुष्यों को गुलाम बना रखने वाली अत्याचारी व्यवस्था के विरुद्ध "केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके सन्तुष्ट न हो जायेंगे किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे जो सौन्दर्य, सुरुचि आत्म-सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।"[1]

---

१. 'हंस', जनवरी, १९३५।

सुमित्रानन्दन पन्त ने मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होकर 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में इतिहास और संस्कृति के वर्गीय स्वरूप को अंकित किया। निराला ने घोषित तौर पर मार्क्सवाद को अपनाये बिना ही यह कार्य किया।

'चर्खा चला' और 'राजे ने अपनी रखवाली की', इन दो कविताओं के माध्यम से निराला की भौतिकवादी इतिहास-दृष्टि को बखूबी समझा जा सकता है। 'चर्खा चला' मनुष्य की ऐतिहासिक विकास-यात्रा की गाथा है। गुफाओं से जङ्गल और जङ्गल से उपवन की ओर यात्रा करता हुआ मनुष्य धरती से बँधा, अन्धविश्वास से मानवीय यथार्थ तक आया। वाल्मीकि ने 'वेदों की लीक'—मंत्र छोड़कर 'छन्दों' में गीत रचे, मानव को मान दिया, धरती की प्यारी लड़की सीता के गाने गाये, इत्यादि।

सौन्दर्य-बोध और सांस्कृतिक मूल्यों का जीवन की उपयोगपरक वास्तविकताओं से कितना गहरा सम्बन्ध है इसे भी इस कविता में देखा जा सकता है। मनुष्य ने कृषि की तकनीक विकसित कर ली है। बलदेव हल को हथियार बनाते हैं और

> "कृष्ण ने भी जमीं पकड़ी,
> इन्द्र की पूजा की जगह, गोवर्धन को पुजाया,
> मानवों को, गायों और बैलों को मान दिया।"[1]

इतिहास के भौतिकवादी व्याख्या का दूसरा पहलू 'राजे ने अपनी रखवाली की' कविता मे द्रष्टव्य है। राजा किला बनाकर रहता है। फौजें रखता है। चापलूस सामन्त, पोथी पत्री वाले पण्डित, कवि, इतिहासकार सब उसके दरबार की शोभा हैं। इस समाज का जादू ऐसा है कि "लोकनारियों के लिए रानियाँ आदर्श" हो गयी हैं। धर्म का धोखा है। साम्राज्य-विस्तार के लिए युद्ध होते हैं। मरता कौन है? किसके खून की नदियाँ बहती हैं? आज जब आँख खुली तो मालूम हुआ कि जनता को हर तरह की तबाही और जुल्म का शिकार बनाकर 'राजे ने अपनी रखवाली की।'[2]

निराला जिस दृष्टिकोण से इतिहास के अन्तर्विरोध को सामने रखते हैं उसके मूल मार्क्सवाद में निहित हैं, "वास्तविक इतिहास की रचना व्यक्ति नहीं बल्कि मनुष्यों का जनसमूह किया करता है।"[3] किन्तु दरबारी इतिहास-दृष्टि ने

---

१. 'नये पत्ते' पृ० ३७-३८।
२. वही, पृ० ३१-३२।
३. 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' पृ० १७०।

प्रगतिशील साहित्य इन दोनों धाराओं के माध्यम से विकसित हुआ। सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद जब संगत रूप से प्रगतिशील साहित्य-सृजन आरम्भ हुआ तब मार्क्सवादियों के अतिरिक्त राष्ट्रवादी, जनवादी धाराओं के अनेक कवि उससे जुड़ गये। इस प्रकार, प्रगतिशील काव्य आरम्भ से ही व्यापक जनवादी चेतना का प्रतिनिधित्व करता रहा है।

प्रगतिशील लेखक संघ ही प्रगतिशील साहित्य का प्रमुख मंच था। उसकी स्थापना में तरुण मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों (सज्जाद जहीर, मुल्कराज आनन्द आदि) और कम्युनिस्ट पार्टी ने केन्द्रीय भूमिका अदा की। प्रेमचन्द, निराला, पन्त आदि जिन गैर-मार्क्सवादी लेखकों ने '३५-'३६ से ही प्रगतिशील लेखक संघ के साथ खुद को जोड़ा वे अपनी-अपनी सीमाओं के बावजूद मार्क्सवाद के निकट थे। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रगतिशील साहित्य मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव लेकर आगे बढ़ा। उसने साहित्य और संस्कृति को जिस दृष्टि से देखा, वह या तो मार्क्सवादी थी या मार्क्सवाद के नजदीक थी। दोनों का मूल दृष्टिकोण समाज की वर्गीय अन्त:प्रकृति को उद्घाटित करता था।

जनवरी, १९३५ में ही, अपने प्रखर विवेक के कारण प्रेमचन्द ने "सुन्दरता की कसौटी बदलने" की आवश्यकता पर बल दिया था। उन्होंने लिखा था कि "अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी।" कलाकार झोपड़े और खण्डहर को "मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था, कभी इनकी चर्चा करता भी था तो मजाक उड़ाने के लिए।" वह "जीवन संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष" देख सकने वाली व्यापक दृष्टि नहीं रखता था, उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है—उस बच्चों वाली गरीब रूपरहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है।" सौन्दर्य सम्बन्धी इस दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए उन्होंने असुन्दर को नहीं, कुरूप को सौन्दर्य का विलोम बताया और समाज से कुरूप का मूलोच्छेद करने वाले कर्म को सर्वोच्च मूल्य। उन्होंने सौन्दर्य का जो नया मान बताया "वह किसी श्रेणी विशेष तक सीमित न था।" उसकी परिधि बाग की चारदीवारी से निकलकर सारे भू-मण्डल को घेरे वायुमण्डल तक विस्तारित थी। जब यह नया विवेक स्वीकृत होगा "तब कुरुचि हमारे लिये सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायेंगे।" हजारों मनुष्यों को गुलाम बना रखने वाली अत्याचारी व्यवस्था के विरुद्ध "केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके सन्तुष्ट न हो जायेंगे किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे जो सौन्दर्य, सुरुचि आत्म-सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।"[1]

---

1. 'हंस', जनवरी, १९३५।

सुमित्रानन्दन पन्त ने मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होकर 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में इतिहास और संस्कृति के वर्गीय स्वरूप को अंकित किया। निराला ने घोषित तौर पर मार्क्सवाद को अपनाये बिना ही यह कार्य किया।

'चर्खा चला' और 'राजे ने अपनी रखवाली की', इन दो कविताओं के माध्यम से निराला की भौतिकवादी इतिहास-दृष्टि को बखूबी समझा जा सकता है। 'चर्खा चला' मनुष्य की ऐतिहासिक विकास-यात्रा की गाथा है। गुफाओं से मङ्गल और जङ्गल से उपवन की ओर यात्रा करता हुआ मनुष्य धरती से बँधा, अन्धविश्वास से मानवीय यथार्थ तक आया। वाल्मीकि ने 'वेदों की लीक'—मंत्र छोड़कर 'छन्दों' में गीत रचे, मानव को मान दिया, धरती की प्यारी लड़की सीता के गाने गाये, इत्यादि।

सौन्दर्य-बोध और सांस्कृतिक मूल्यों का जीवन की उपयोगपरक वास्तविकताओं से कितना गहरा सम्बन्ध है इसे भी इस कविता में देखा जा सकता है। मनुष्य ने कृषि की तकनीक विकसित कर ली है। बलदेव हल को हथियार बनाते हैं और

> ''कृष्ण ने भी जमी पकड़ी,
> इन्द्र की पूजा की जगह, गोवर्धन को पुजाया,
> मानवों को, गायों और बैलों को मान दिया।''[१]

इतिहास के भौतिकवादी व्याख्या का दूसरा पहलू 'राजे ने अपनी रखवाली की' कविता में द्रष्टव्य है। राजा किला बनाकर रहता है। फौजें रखता है। चापलूस सामन्त, पोथी पत्री वाले पण्डित, कवि, इतिहासकार सब उसके दरबार की शोभा हैं। इस समाज का जादू ऐसा है कि ''लोकनारियों के लिए रानियाँ आदर्श'' हो गयी हैं। धर्म का धोखा है। साम्राज्य-विस्तार के लिए युद्ध होते हैं। मरता कौन है? किसके खून की नदियाँ बहती हैं? आज जब आँख खुली तो मालूम हुआ कि जनता को हर तरह की तबाही और जुल्म का शिकार बनाकर 'राजे ने अपनी रखवाली की।'[२]

निराला जिस दृष्टिकोण से इतिहास के अन्तर्विरोध को सामने रखते हैं उसके मूल मार्क्सवाद में निहित हैं, ''वास्तविक इतिहास की रचना व्यक्ति नहीं बल्कि मनुष्यों का जनसमूह किया करता है।''[३] किन्तु दरबारी इतिहास-दृष्टि ने

---

१. 'नये पत्ते' पृ० ३७-३८।
२. वही, पृ० ३१-३२।
३. 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' पृ० १७०।

सदैव इतिहास-निर्माण में जनता की भूमिका की उपेक्षा की है और व्यक्तियों के शौर्य वर्णन को प्रश्रय दिया है। इस इतिहास-दृष्टि के विरुद्ध निराला के विक्षोभ और विद्रोह का मूल्य आज मालूम होता है। निराला के इस जनवादी दृष्टिकोण का आधार उनकी मानवीय करुणा थी।

दरबारी दृष्टि चारदीवारी में सीमित रहती है और व्यापक भूमण्डल में फैली हुई जनता और उसकी संस्कृति की उपेक्षा करती है। प्रगतिशील दृष्टि इस विडम्बना का उद्घाटन करती है और जनता का पक्ष लेती है। दरबार और जनता से बीच जो फासला है उसे वह वर्ग-संस्कृति के रूप में देखती है। संस्कृति के वर्गीय चरित्र के नाते ही एक दृष्टि दरबार की शोभा बनती है और दूसरी बलदेव के हल की ताकत।

वर्तमान युग मे यह अन्तर्विरोध अधिक उग्र और निर्मम हो गया है। इस-लिए मानवीय पक्षधरता का प्रश्न भी अधिक ज्वलन्त हो उठा है। जिस तरह 'राजे ने रखवाली की' मे निराला ने सामन्त युग के विराट् शोषण तन्त्र को बेनकाब किया उसी तरह आधुनिक युग के तामझाम को उद्घाटित करने वाली नरेन्द्र शर्मा की ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं :

"इस दुनिया मे दो दुनिया हैं, जिनके नाम गरीब अमीर।
पर सोने के नगर बने हैं, मिट्टी ही का सोना चोर।
× × ×
मन्दिर उनके, मस्जिद उनकी, गिरजे उनकी बाजू में,
पैगम्बर, अवतार, मसीहा, जैसे बाट तराजू में।
दीन भी उनका, दुनिया उनकी, उनके तोप और तलवार
उनके अफसर और गवर्नर, उनके ही साहब सरकार।"... इत्यादि।[1]

पूँजीवादी समाज के उदय के साथ शासन के विधान का जो नया तंत्र उभरा वह पूरी तरह, अमीरों की दुनिया से जुड़ा रहा। अमीर तोप और तलवार के बूते पर अपनी हुकूमत चलाते हैं। धर्म और पैगम्बर सब उनके न्याय की तराजू के बाट हैं। इस सामाजिक विधान का न्याय ऐसा है कि :

"घाट, धर्मशाले, अदालतें, विद्यालय, वेश्यालय सारे
होटल, दफ्तर, बूचड़खाने, मन्दिर, मस्जिद, हाट, सिनेमा
श्रमजीवी की उस हड्डी से टिके हुए हैं—जिस हड्डी को
सभ्य आदमी के समाज ने टेढ़ी करके मोड़ दिया है।"[2]

---

७ 'हंस', मार्च, १६४२।
८ 'फूल नही रंग बोलते हैं', पृ० ७२।

श्रमजीवी का यह चित्र अधिक वास्तविक और यथार्थवादी है क्योंकि इसमें उसकी अतुलनीय सृजनक्षमता और वर्तमान उत्पीड़न का अन्तर्विरोध पूरी वस्तु-निष्ठता के साथ मूर्त हुआ है। यह एक तरफ सनेही-मण्डल के कवियों के भावोद्गार से मुक्त है तो दूसरी तरफ इसमें 'धर डगमग डग' आने वाले पंत के श्रमजीवियों की-सी ऋजुता नहीं है। इस चित्र की सघन भावात्मक अन्तर्वेदना का कारण खुद इसकी यथार्थवादी संवेदना है। यह गम्भीर यथार्थवाद ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्थितियों की सही, अतिरंजनाहीन समझ का परिणाम है।

अमीरी और गरीबी का फर्क दिनोंदिन बढ़ रहा है। पंत अपनी सरल दृष्टि से इस फर्क को अनुभव के स्तर पर उतारने का प्रयत्न करते हैं। धनपतियों को वे इस प्रकार स्मरण करते हैं :

"वे नृशंस हैं : वे जन के श्रमबल से पोषित,
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित।
नहीं जिन्हें करनी श्रम से जीविका उपार्जित,
नैतिकता से भी जो रहते अतः अपरिचित।
जनजीवन का दुरुपयोग है उनका जीवन,
अब न प्रयोजन उनका अन्तिम हैं उनके क्षण।"[१]

ये धनपति जोंक की तरह श्रम को आखिरी बूंद तक चूसते जाते हैं। पन्त जी मनुष्य के इतिहास और संस्कृति को श्रम और सम्पदा के मर्मान्तक टकराव के बीच परिभाषित करते हैं इसलिए नैतिकता का सम्बन्ध श्रम से जोड़ते हैं और घोषित करते हैं कि धनपतियों के अन्तिम क्षण निकट हैं। अपनी ऋजुता के बावजूद पन्त जी की काव्य-दृष्टि में यथार्थ की विसंगति के प्रति क्षोभ, उसके कारणों के प्रति व्यंग्य और उससे पीड़ित जन के प्रति करुणा एक साथ विद्यमान है। यह परिभाषित सहानुभूति-प्रेम और घृणा — प्रगतिशील कविता की सुस्पष्ट ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अन्तर्दृष्टि से उत्पन्न मूल्य है। नफरत और प्रेम के इस परिभाषित स्वरूप के कारण प्रगतिशील कविता संशयहीन स्वर में घोषित करती है :

"वे व्यापारी, वे जमींदार, वे हैं लक्ष्मी के परमभक्त।
वे निपट निरामिष सूदखोर, पीते मनुष्य का उष्ण रक्त।।"[२]

'भैंसागाड़ी' पर ही घूमते हुए भगवतीचरण वर्मा देखते हैं कि पीड़ित ग्रामों के अविरल क्रन्दन का कारण बड़े नगरों का रागरंग है। इस तरह, भारतीय समाज

१. 'सुमित्रानन्दन पन्त ग्रन्थावली, खण्ड-२ ( युगवाणी ) पृ० ६४।
२. 'मानव', पृ० ६७।

की वास्तविकताओं को उनके जटिल अन्योन्याश्रय में न समझ कर भी उन्हें समग्र रूप में देखने का प्रयत्न है। 'भैंसागाड़ी' शीर्षक से ही स्पष्ट है कि कवि ने कितनी ऋजु दृष्टि से समाज को देखा है। इसीलिए यथार्थ के विभिन्न पहलू स्वतंत्र (और प्रायः असम्बद्ध) रूप से ही समाविष्ट हो सके हैं। सूदखोर, व्यापारी और जमींदार मनुष्य का रक्त पीते हैं। वे गाँव और शहर दोनों जगह हैं। फिर शहरों का रागरंग गाँवों के क्रन्दन का कारण कैसे हुआ? क्या गाँवों में रागरंग नहीं है?

औद्योगिक केन्द्रीकरण एक तरफ तथा बिखरी हुई आबादियों, उत्पादन के साधनों और सम्पत्ति का केन्द्रीकरण दूसरी तरफ—यह पूँजीवादी विकास का सारभूत गुण है। औद्योगिक विकास के साथ बड़े नगर अर्थ-व्यवस्था का केन्द्र बन जाते हैं। इससे कृषि की उद्योग पर और गाँव की शहरों पर निर्भरता बढ़ती है। शहरी मजदूरों का शोषण प्रत्यक्ष और निर्मम होती है। ग्रामांचलों का, किसानों का काफी कुछ परोक्ष। किन्तु यह तथ्य है कि पूँजीवादी विकास का सबसे विनाशकारी प्रभाव ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर पड़ता है। जिस तरह विदेशी पूँजीपति और उनके प्रतिनिधि भारत को अपनी मण्डी बनाये हुए थे और यहाँ से कच्चा माल ले जाकर अपने देश को औद्योगिक दृष्टि से और भी सुदृढ़ बना रहे थे, उसी तरह यहाँ के पूँजीपति ग्रामांचलों को कच्चे माल की सप्लाई और पक्के माल की बिक्री के लिए मण्डी के रूप में बरतते रहे हैं। यह पूँजीवादी उत्पादन का अन्तर्निहित चरित्र है। अतः ग्रामीण गरीबों पर पूँजीवादी उत्पादन और ग्रामीण सामन्तों-जागीरदारों की दोहरी चोट पड़ती है।

कृषि-प्रधान देश होने से भारतीय जीवन में ग्रामांचलों का विशेष महत्त्व रहा है। यहाँ की वास्तविकताओं से अधिक गहराई तक जुड़ने के लिए कवियों का ग्राम-संस्कृति में रसना-बसना अनिवार्य था। प्रगतिशील कवियों ने अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं से जुड़ कर अपनी काव्यशक्ति का विकास किया और ग्रामीण जन-जीवन को अपनी संवेदना का मुख्य आधार बनाया। ग्रामीण जीवन की दारुण वास्तविकताओं में भी सौन्दर्य के दर्शन कर प्रगतिशील कविता अपनी निष्कुण्ठ सहजता और पक्षधरता का उदाहरण प्रस्तुत करती है। भवानीप्रसाद मिश्र की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं :

> "गाँव, इसमें झोपड़ी है, घर नहीं है झोपड़ी में,
> फटकियाँ हैं, दर नहीं है, धूल उड़ती है धुएँ से।
> दम घुटा है, मानवों के हाथ से मानव लुटा है,
> रो रहे हैं शिशु कि माँ चक्की लिए है, पेट पानी,
> के लिए पक्की किये है। फट रही छाती।[१]

---

१. 'गीत फरोश', पृ० ३६।

इस यथार्थ-बोध में संस्कृति के वर्गीय चरित्र की पहचान निहित है और बदले में वह वर्ग-दृष्टिकोण को मजबूत करता है। इसीलिए एक तरफ वह वर्गातीत इतिहास-दृष्टियों की असंगति पर व्यंग्य करता है[1] और दूसरी तरफ सांस्कृतिक जीवन के अन्तर्विरोध की अत्यन्त संयत और कलात्मक समीक्षा प्रस्तुत करता है :

"वह समाज के त्रस्त क्षेत्र का मस्त महाजन,
गौरव के गोबर-गणेश-सा मारे आसन,
नारिकेल के सिर पर बाँधे धर्म मुरैठा,
ग्राम-वधूटी की गोरी गोदी में बैठा,
नागमुखी पैतृक सम्पत्ति की थैली खोले,
जीभ निकाले, बात बनाता करुणा घोले,
व्याज-स्तुति से बाँट रहा है रुपया पैसा।
सदियों पहले से होता आया है ऐसा।[2]

महाजन की 'करुणा' और व्याज-स्तुति से रुपया-पैसा बाँटने की सदियों पुरानी परम्परा आज भी जारी है। सम्पत्ति नागमुखी है जो हिंसक को गोबर-गणेश की तरह पुजाती है और मेहनत को डँसती है। महाजन प्रगतिशील कविता में सम्पत्तिधारी वर्गों का प्रतीक है। 'महाजनी सभ्यता' में प्रेमचन्द शोषक सम्पत्तिधारी वर्गों को 'महाजन' कह कर ही व्याख्यायित करते हैं। केदार की कविता में यह महाजन उस गोबर-गणेश की तरह है जो किसी काम का न होकर भी पूजा जाता है। उसके नागपाश से मेहनत करने वाले "ग्रामीणों को मुक्ति अभी तक नहीं मिली है।"[3] उनकी गुलामी का मूल महाजनी सभ्यता के उस विधान में निहित है जो गरीब श्रमजीवियों को कर्ज के सूँड़ से लपेट कर धीरे-धीरे तोड़ता, पीसता और निगलता रहता है। कर्ज सम्बन्धी केदार की दो छोटी कविताएँ इस प्रकार हैं :

१. "मौत को पड़ रही है जिन्दगी / जो भर गयी है,
अमेरिकी अनाज पा कर / कर्ज का जोंज बजा कर।

२. कर्ज का पहाड़, बड़े-से बड़े मर्ज से बड़ा है,
न मरा आदमी, पहाड़ से मरा पड़ा है।"[4]

---

१. 'नये पत्ते, झींगुर डट कर बोला', पृ० ६३-६४।
२. 'फूल नहीं, रङ्ग बोलते हैं', पृ० ८२।
३. उपर्युक्त, पृ० ८२।
४. 'आग का आईना', पृ० ४५।

कर्ज हमारे समाज का भयंकर मर्ज है। यह कर्ज चाहे एक देश का हो या एक व्यक्ति का। देश का कर्ज देश को मारता है और व्यक्ति का कर्ज व्यक्ति को। दोनों में मात्रा-भेद है, गुण-भेद नहीं। गुण एक है—कर्ज मौत है। सामन्ती समाज के इस अस्त्र को पूंजीवाद ने यथावत् अंगीकार कर लिया है। सांस्कृतिक जीवन के विघटन और विनाश का यही मुख्य कारण है।

सामाजिक विषमताएँ मानव-जीवन और संस्कृति के मानवीय चरित्र का हनन करती हैं। अतः महाजनी समाज को प्रगतिशील कवि घृणा की नजरों से देखता है। महाजनी चक्के में पिसता श्रमिक उसकी संवेदना का अधिकारी है, वह संस्कृति और इतिहास का निर्माता है इसलिए वही उसका काव्य-पुरुष है। यह श्रमजीवी काव्य-नायक जाति-धर्म में भी विभक्त नहीं है—"धरती के पुत्र की/होगी कौन जाति-कौन मत, कौन धर्म ?/धूलि भरा धरती का पुत्र है/जोतता है बोता जो किसान इस धरती को।"[१]

सामाजिक अन्तर्विरोध किन सांस्कृतिक सम्बन्धों को जन्म देते हैं, इसका उदाहरण श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' का यह रूपक बड़ी खूबी से प्रस्तुत करता है :

"हम पद्मनाल से छिपे विश्व-जीवन में,
अपने ऊपर वैभव का कमल खिलाते;
शोभा, सौरभ, मधु सब बाहर बँटते हैं,
हम पंक-गर्त में भीतर गलते जाते।"[२]

संक्षेप में, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अन्तर्विरोधों को मानवीय आधारभूमि से देखने के नाते प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य-मूल्यों में बेलौस खरापन, निर्भीक पक्षधरता और बेबाक इतिहास-दृष्टि मौजूद है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रगतिशील काव्य में श्रमजीवी वर्ग के प्रति सहानुभूति है, करुणा है, कहीं-कहीं भावुकता और अतिरिक्त उत्साह है; किन्तु उसमें अधिकांशतः उसका यथार्थ चित्र ही उभर कर आया है। श्रमजीवी न दूध का धुला वर्ग है और न चौबीस घण्टे युद्ध का डंका पीटने वाला यांत्रिक शूरवीर। उसमें 'गन्दा यश'[३] भी है; 'निश्चेतन निद्रा' की मूर्च्छा[४] भी है। यदि यह निश्चेतन निद्रा टूटे, सांस्कृतिक चेतना आये तो ये लोग क्या नहीं कर सकते ?

---

१. 'रूप तरंग', पृ०१६।
२. 'संघर्ष' (२६ दिसम्बर, १९३७, प्रथमांक), 'शोषितों का गान', पृ० ६।
३. 'फूल नहीं, रंग बोलते हैं', पृ० ७३।
४. 'रूप-तरंग', पृ० २४।

प्रगतिशील कवियों ने जनता की गरीबी और जहालत तथा इनका फायदा उठा कर उन्हें सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ेपन का शिकार बनाने वाली साजिशों को बखूबी समझा है। इसलिए उन्होंने एक ओर सांस्कृतिक शून्य से ग्रस्त श्रमजीवियों को गन्दे यश और निश्चेतन निद्रा के लिए फटकारा है तो दूसरी ओर दायित्व-सजग होकर कर्म-क्षेत्र में उतरने के लिए प्रेरित किया है। ऐसा इसलिए किया है क्योंकि वह गहरी वेदना से भरा हुआ है। मानव-जीवन की पीड़ाएँ उसे व्यथित करती हैं :

"दिन के बुखार/रात्रि की मृत्यु/के बाद हृदय पुंसत्वहीन/
अन्तर्मनुष्य/रिक्त-सा गेह/दो लालटेन-से नयन दीन;/
निष्प्राण स्तब्ध/दो धड़े पाँव/लकड़ी का घोड़ा वस रिक्त।"[1]

असम्पृक्त (तटस्थ) भाव से जिन्दगी की कटुताओं और विद्रूपताओं को अंकित कर देना ही प्रगतिशील साहित्य की विशेषता नहीं है। जीवन-यथार्थ को अनुभव-प्रक्रिया के माध्यम से प्रगतिशील कविता जितने विश्वसनीय तरीके से प्रस्तुत करती है उससे जिन्दगी में उसकी सहभागिता का सबूत मिलता है।

उदाहरण के लिए वंशीधर शुक्ल की कविता 'किसान की अर्जी'[2] को लें। यह कविता विवरणात्मक शैली में है; किन्तु यह शैली जीवन से उत्पन्न है इसलिए उसमें अतिरिक्त निलसन है और बनावटी क्रोध न होकर सांस्कृतिक समग्रता है। पत्नी खुद भूखी रह लेती है, लेकिन पति को पहले खिलाती है। खेती की दशा यह है कि पेट भर अन्न नहीं जुट पाता। एक साल जब खेत में खूब हरियाली आती है तो मन फूला नहीं समाता कि 'अबकी सबु दारिद हरिगा।' लेकिन जब गेहूँ फूलने लगा तब उसमें गंधी का आक्रमण हो गया। जो थोड़ा-बहुत अनाज हुआ उसमें भी उसके हिस्से बहुत कम आया। कारण यह कि कर्ज और लगान वगैरह 'भुगतायन'। बचे-खुचे अनाज के तीन रुपये मिले। उधर तोनाई, चन्दा, चुगी वगैरह के चौदह रुपये दो आने हुए।

इस तरह समस्याएँ ज्यों-की-त्यों बनी रहीं, बल्कि और विकराल हो गयीं। लगान वगैरह अदा न हो सका तो जिलेदार आया, उसके चपरासी ने जूतों से मारा; मुर्गा बनाया। पण्डित जी ने इस दुर्दशा पर रोते देखा तो 'उनकेउ कुछु आँसु आये।' लेकिन कर वह भी क्या सकते थे?

---

१. ग० मा० मुक्तिबोध : 'नई धारा', नवम्बर, १९५१, पृ० १६८।
२. 'संघर्ष', १४ मार्च, १९३८।

मोहलत पाकर घर आये तो बच्चो की 'दुइ पैसा' की मामूली फरमाइश भी पूरी करने लायक नही रहे। असमर्थ पिता की पीठ पर हाथ फेरते हुए बच्चो ने पूछा, "बप्पा ये कैसी बतें/हम बोलेनि, ये है बिटिया, खेती की जिन्दा शर्तें।" ४२ वर्ष बाद आज भी क्या खेती की यही 'जिन्दा शर्तें' नही हैं? समकालीन जीवन से जुड़कर ही यह कविता सदियों के यथार्थ को व्यक्त करने वाला स्थायी मूल्य दे सकी है।

अपने तन पर 'खेती की जिन्दा शर्तें' झेलने वाला यह किसान कर्त्तव्यमुक्त बुद्धिजीवी की भाँति नही है। उसे बच्चो के फटे कपड़ो, अपनी फटी लँगोटी, घर मे उधार बैठी पत्नी, नाते-रिश्तेदारों की फरमाइशो और उनके प्रति अपने कर्त्तव्य-भाव—सबकी चिन्ताएँ सताती हैं। कर्ज मे एक पाई भी नही मिलती। दिया जलना भी कठिन है।

उसे आत्महत्या का विचार आता है। किन्तु वह सामाजिक दायित्व से निरपेक्ष व्यक्ति नहीं है। बदनामी और थानेदारों की अमानुषिक नवाबी का ख्याल आता है—

> "लरिकी का बेंतन मरिहैं, मेहरी की इज्जत हरिहैं,
> भैंसनि की कुरकी करिहैं, लरिकन की पसरी तोरिहैं।"

वह यह विचार त्याग कर मन को समझाता है। 'कबहूँ नीके दिन अइहैं/ कबहूँ इन आँखिनि देखिबा, बेटऊ-पेटऊ भरि खैहैं।' बच्चे पेट भर खा सकें यही उसके लिए 'नीके दिन' की पहचान है। इस अमानवीय व्यवस्था ने उसके स्वप्नो को भी कितना संकुचित कर दिया है।

प्रगतिशील कविता इस अमानुषिक स्थिति की जिम्मेदारी व्यक्ति पर न डाल कर व्यवस्था पर डालती है। व्यवस्था मानव-समाज की देन है इसलिए मनुष्य उसे बदल सकता है, उसकी जगह नयी व्यवस्था की रचना कर सकता है। कवि इस वर्ग-भेद वाले समाज की शाश्वतता का गुणगान करने वाली मनोवृत्तियों को ललकार कर कहता है कि 'परिवर्तन ही एक नियम है बस शाश्वत; स्थायी रह सकता नही नीर, स्थायी है बस उसका बहाव।'[1]

इस प्रकार, प्रगतिशील कविता इतिहास की गतिमयता को रेखांकित करती है और इस गतिमयता में मनुष्य की निर्णायक भूमिका की उद्घोषणा करती है। सोवियत संघ की समाजवादी क्रान्ति से पहले कौन कह सकता था—

---

१. भारतभूषण अग्रवाल, 'हंस', दिसम्बर, १९४१।

"दो हड्डी पिचके गालों के गर्जन में यह घनघोर छिपा।
किसने जाना मुझे मन, मुझे तन में इतना जोर छिपा?"[1]

इतिहास को वहन करने वाली इन शक्तियों को जब 'धीरे-धीरे कलियों के खिलने के समान' ही 'अपनी क्षमता का पूर्ण बोध' हो गया और 'चिर दिन से बंदी आकुल-सा कोई प्रवाह/पा गया अचानक अपनी ही अवरुद्ध राह', भला 'उसके आगे तब ठहर सका है कौन कूल?'[2] वह बंधन की शृंखलाएँ चूर-चूर करके सुदूर उगती हुई समता की स्वर्ण-रेखाओं को जीवन में उतारेगा और नये युग का समारम्भ करेगा। उसे पूर्ण विश्वास है कि 'युग की गंगा, पाषाणों पर दौड़ेगी ही', 'नव संसार बसायेगी ही', 'गुहा-गर्त से आगे जाकर सूर्योदय से खेलेगी ही', 'सूखी खेती सींचेगी ही'।[3]

उसके विश्वास के दो कारण हैं। पहला, उसे मनुष्य की रचनात्मक शक्ति और अपने न्यायसंगत ध्येय पर पूर्ण विश्वास है। और दूसरा, प्रकृति और समाज के बारे में वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि होने के नाते वह इतिहास की द्वन्द्वात्मक गति को समझता है।

जो प्रगतिशील कवि मार्क्सवाद की वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न न थे, उनमें भी सामाजिक पीड़ाएँ विद्रोह की भावना उत्पन्न करती हैं। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविता 'जूठे पत्ते' इसका उदाहरण है। कवि कहता है कि आदमी आदमी के आगे हाथ पसारे और आदमी की आँखों में दुःख के फौव्वारे देख कर भी अगर 'कहते हो कि तुम नहीं हो विप्लवकारी/तब तो तुम पत्थर हो, या हो महाभयंकर अत्याचारी।'[4]

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जिन कवियों में सुसंगत मार्क्सवादी अन्तर्दृष्टि नहीं है उनकी विप्लवकारिता का रूप सर्वनाशकारी ही अधिक है। दिनकर की 'रेणुका' और 'नवीन' की 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ' अपने ओज गुण के बावजूद क्रान्ति का विध्वंसक स्वरूप ही प्रस्तुत करती हैं। इसके विपरीत मार्क्सवादी कवि वास्तविक सामंजस्य-विधान पर आधारित क्रान्ति का जो स्वप्न प्रस्तुत करते हैं

१. '[illegible]', शिवमंगल सिंह 'सुमन', २६ जनवरी, १९३९।
२. एकान्त, पृ० २०।
३. 'युगदेहली', पृ० १९।
४. 'हंस', अक्टूबर, १९४१।

उसमें शोषण की सत्ता को चुनौती है, शोषण अपना सर्वनाश देखता है, सारा समाज और समूचा वर्तमान जगत् नहीं। कारण यह कि जिस 'नवीन जीवन के दर्शन, नवप्रकाश' से वह आलोकित है वह है मार्क्सवाद।[1]

वर्ग-संघर्ष के नग्नतम रूप को झेलते हुए[2] प्रगतिशील कवि जिस भविष्य का स्वप्न देखता है उसमें "सेठों और जमींदारों को नहीं मिलेगा एक छदाम ;/खेत, खान, दूकान, मिलें सरकार करेगी दखल तमाम। /खेत-मजूरों और किसानों में जमीन बँट जायेगी / नहीं किसी कमकर के सिर पर बेकारी मँडरायेगी।"[3]

प्रगतिशील साहित्य की इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी इस दृष्टि के सन्दर्भ में दो और पहलुओं पर ध्यान देना जरूरी है। विद्वानों ने कविता को जीवन का पुनःसृजन और कुछ ने तो सर्वथा नये यथार्थ का सृजन माना है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कला यथार्थ का कलात्मक और कवि के इच्छित यथार्थ के रूप में रूपान्तरण है। इस आधार पर डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा उठाये गये इन दोनों प्रश्नों का आत्यन्तिक महत्त्व है कि "कवि अपनी रुचि के अनुसार जब विश्व को परिवर्तित करता है तो यह भी बताता है कि विश्व से उसे असन्तोष क्यों है"; और "वह यह भी बताता है कि विश्व में उसे क्या रुचता है जिसे वह फलता-फूलता देखना चाहता है।"[4]

प्रगतिशील साहित्य का यथार्थवाद इसीलिए अधिक गहरा और विश्वसनीय है कि वह अपने असन्तोष का कारण और अपनी रुचि के मूल्यों-आदर्शों की रूपरेखा, दोनों प्रस्तुत करता है। वह सन्दर्भच्युत यथार्थ की भाँति यथास्थितिवाद में नहीं फँसाता। कलाकर्म के वैयक्तिक सन्दर्भ के आधार पर अज्ञेय जहाँ जन-संस्कृति से उठ कर यथास्थितिवाद के मंच पर जा बैठते हैं, वहीं ऐतिहासिक तर्क के प्रति सकारात्मक जीवन-दृष्टि अपनाने के नाते सर्वेश्वर दयाल सक्सेना व्यक्तिवादी, यथास्थितिवादी घेरे को तोड़ कर भविष्योन्मुख, समाजोन्मुख सत्य तक पहुँचते हैं। अज्ञेय अपनी कविता 'बाँगर और खादर' में राजाजी और उनके पुरवे के बीच के दारुण अन्तर्विरोध को

---

१. भारतभूषण अग्रवाल : 'हंस', मई १९४२।

२. के० नाथ अग्रवाल : 'कैसे जियें कठिन है चक्कर/निर्बल हम बलीन है मक्कर
तिलक्षन तावड़तोड़ कटाकट/हड्डी की लोहे से टक्कर।'
—'फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ० १४६।

३. नागार्जुन : 'हंस', अप्रैल, १९४८।

४. 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य', पृ० ७६ ;

व्यक्त करने के बाद यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "बांगर का कुआँ/राजाजी का अपना है ;/लोक जन के लिए एक/कहानी है, सपना है।/खादर की नदी नहीं/किसी की बपौती की/पुरवे के हर परवे की गंगा है अपनी कठौती की।"[१] इस तरह अपनी-अपनी स्थिति को सहर्ष स्वीकार करने वाले आत्मसन्तोष का यह प्रचार यथास्थितिवादी मंतव्य जाहिर करता है।

इसके विपरीत सर्वेश्वर आरम्भ करते हैं क्रान्तिकारी विचारों की आलोचना से :

"आज के विश्वकर्मा तो सभी हैं युगधर्मा/नया रचते हैं, मरम्मत नहीं करते/ मैं जानता हूँ--/ गड़बड़ी ज्यादा नहीं है/बस यह रास्ता बन्द करना है/जहाँ से चूहे पैंठते हैं।"[२]

लेकिन बाद में वह इस 'गड़बड़ी' का सही रूप समझते हैं। इस 'गड़बड़ी' की व्यवस्था में निहित जड़ों को जान लेने के बाद वह कहते हैं कि एक कुत्ते की या सभी कुत्तों की दुम काट दो, लेकिन "दुम हिलाने का भाव/नहीं जायेगा / क्योंकि कुत्ता/आदत से टुकड़खोर है/तुम्हें टुकड़खोरी के रास्ते बन्द करने होंगे।"[३] सांस्कृतिक स्तर पर उनकी चेतना चेहरे पर कहीं खो गये चुम्बन[४] की चिन्ता छोड़कर व्यापक भावभूमि पर व्यक्त होती है :

> "एक हमारी धड़कन
> जो इस जंगल की धड़कन में इस कदर लय हो गयी है
> कि उसे अलग से पहचानना बेसुरा होना है।"[५]

यही भावभूमि प्रगतिशील कविता को बेसुरा होने से बचाती है। इसका यह आत्मविस्तार—आत्मसमाजीकरण—तब पूर्ण होता है जब—"विश्व की मूर्ति में आत्मा ही ढल गयी" हो।[६] मध्यवर्गीय जीवन में आकर अपने आदर्शों विश्व की मूर्ति में ढालना सरकारों का संघर्ष है। विचार अपेक्षाकृत अधिक आसानी से अपनाये और

---

१. 'अरी ओ करुणा प्रभामय', पृ० ४४।
२. 'गर्म हवाएँ', पृ० १४।
३. 'जंगल का दर्द', पृ० ४६।
४. 'गर्म हवाएँ', पृ० ७०।
५. 'जंगल का दर्द', पृ० ८०।
६. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० १०४।

छोड़े जा सकते हैं ; संस्कारों को बदलना वास्तविक चुनौती है। प्रगतिशील कविता जिस वर्गीय मूल्यवत्ता पर आधारित है उसमें मध्यवर्ग को श्रमजीवी वर्ग का ही अंग माना गया है। किन्तु आर्थिक हैसियत में श्रमजीवी होकर भी मध्यवर्ग संस्कारों (सांस्कृतिक अभिलाषाओं) के स्तर पर सर्वहारा नहीं हो पाता। अतः आत्मगत संघर्ष स्वभावतः उसके जीवन में आता है। वह अनुभव करता है कि दुनिया की गन्दगी साफ करने के लिए मेहतर चाहिए, मगर खुद वह मेहतर नहीं बन पाता। प्रगतिशील कविता ने सृजनात्मक धरातल पर यह आत्मसंघर्ष झेला है और वर्गान्तरण की प्रक्रिया पूरी करके खुद को विश्व की मूर्ति में ढाला है। यह अनुभव किया है कि—

"हमारा अधिकार सम्मिलित श्रम और
छीनने का दम है।"[1]

इसलिए संघर्ष की सक्रियता में कला को हथियार के तौर पर इस्तेमाल किया है। मुक्तिबोध के यहाँ 'पोस्टर ही कविता' थी, लेकिन आगे चल कर डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी के यहाँ, भीड़ ने महल पर जो पत्थर फेंके, वह कवि के हाथों में कविता की पंक्ति बन गये। कवि इस सत्य को रेखांकित करता है कि 'कविता की सार्थकता पत्थर का टुकड़ा बनने में और पत्थर की सार्थकता कविता की पंक्ति बनने में' है।[2] संघर्ष के समय कला की यह भूमिका ही प्रगतिशील कविता को सर्वथा भिन्न धरातल पर ला खड़ा करती है।

मानव कर्म को निष्फल बनाने वाले यथास्थितिवाद से तो प्रगतिशील सौन्दर्य-चेतना टक्कर लेती ही है, वह अतीतपंथी रूढ़िवाद का भी खण्डन करती है। 'ताज' कविता में अतीत और वर्तमान के बीच की असंगत स्थितियों को रेखांकित करते हुए पंत कहते हैं :

"हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन।
'''शव को दें हम रूप-रंग-आदर मानव का
मानव को हम कुत्सित रूप बना दें शव का ?
गत युग के मृत आदर्शों के ताज मनोहर
मानव के मोहान्ध हृदय में किये हुए घर।"[3]

---

१. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० ४८।
२. 'आलोचना', जुलाई-सितम्बर, १९६८, पृ० ११४।
३. 'सुमित्रानन्दन पंत ग्रन्थावली-२' (युगपथ), पृ० २१।

इस दृष्टिकोण का आधार कवि की यह मान्यता है कि "सत्य नहीं वह जनता से जो/ नहीं प्राण सम्बन्धित।"[1] जनता से अलग-थलग पड़ा यह 'असत्य' अपनी हिफाजत के लिए तंत्र-मंत्र का सहारा लेता है और प्रगतिशील कवि अपने विवेक से इस पाखण्ड को चुनौती देता है। वह ज्ञान-विज्ञान का महत्त्व और उसकी सार्थकता रेखांकित करता है। उसे यह विश्वास है कि थोड़े-से लोगों को सुविधा और ज्यादातर लोगों को पीड़ा पहुँचाने वाली यह दुनिया बदलेगी, इतिहास और संस्कृति अखण्ड, अविभाजित मानवता के लक्ष्य तक पहुँचेंगे। यही विवेक उसके कर्मशील सौन्दर्य-मूल्यों का आधार है। इसे कवि सच्ची 'जन संस्कृति' की संज्ञा देता है।[2]

प्रगतिशील कविता वर्तमान समाज की विसंगतियों और विद्रूपताओं को उद्घाटित करती है। वह मनुष्य को एक न्यायसंगत व्यवस्था की रचना के लिए प्रेरित करती है। उसके इस दायित्व-बोध का मजाक बनाते हुए प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने उसके सौन्दर्य-मूल्यों को 'कुरूप' का पर्याय कहा।[3] उनके उपहास का उत्तर देते हुए अमृत राय ने 'हंस' के सम्पादकीय में ठीक लिखा था कि "....अपने वातावरण को बदलने के लिए जरूरी है कि उसे समझ लिया जाय। इसी हेतु प्रगतिवादी साहित्य समाज में चारों ओर फैली हुई गन्दगी, सड़ते हुए धनाचार से मुँह नहीं चुराता। स्वतः गन्दगी से उसे कोई प्रीति नहीं होती।"[4] लेकिन वह गन्दगी को नजरंदाज करके निरपेक्ष सौन्दर्यवादी दृष्टि से भविष्य का स्वप्न नहीं देखता। वह गन्दगी के वास्तविक कारणों को उजागर करता है और इन कारणों के वास्तविक समाधान की खोज करता है। वर्ग-शोषणरहित जिस भावी संस्कृति की कल्पना करता है वह जनता के जीवन से अन्तरंग रूप में सम्बद्ध है। इसीलिए वह जनता के सांस्कृतिक मूल्यों के द्वारा ही भावी विधान को प्रतिबिम्बित करता है। डॉ० रामविलास शर्मा की कविता 'हलमऊ में गंगा' की ये पंक्तियाँ इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी प्रगतिशील कविता के दृष्टिकोण को अत्यन्त स्पष्टता से व्यक्त कर देती हैं—

> "हाँ, जन-संस्कृति का पर्व क्रान्तिदी आयेगा,
> ये विद्यावान उद्यान नये जीवन से फिर मधुम होंगे।

---

१. 'सुमित्रानन्दन पन्त ग्रन्थावली-२' (युगवाणी), पृ० ८१।
२. उपर्युक्त, पृ० ८२।
३. 'वीणा', नवम्बर, १९५२।
४. हंस', दिसम्बर, १९५२।

उदाहरण के लिए भवानी प्रसाद मिश्र की कविता 'जाहिल वाने'[1] को लें। 'मैं असभ्य हूँ' और 'आप सभ्य हैं' सम्बोधनों से लिखे दो खण्डों में कवि उग्रतम सामाजिक विरोधों को सामने लाता है। इस अन्तविरोध का कटुतम पक्ष यह है कि जिसे असभ्य समझा जाता है वह बेहद निरीह है और जिसे सभ्य समझा जाता है उसके "जबड़े खून सने हैं।" इस खूँख्वार संस्कृति के मुकाबले कवि निरीह 'असभ्य' जन को अपने 'जाहिल वाने' पहने रहने की सलाह देता है।

यह कविता तथाकथित 'सभ्य' समाज के आगे 'प्रोटेस्ट' अवश्य है। लेकिन इसकी वैचारिक भावभूमि में अनेक मूलभूत असंगतियाँ हैं। पहली असंगति यह है कि इसमें दोनों विपर्यस्त स्थितियाँ एक-दूसरे से स्वतन्त्र, निरपेक्ष इकाइयों के रूप में देखी गयी हैं। इन दो परस्पर-विरोधी वास्तविकताओं के बीच किसी अन्तःसम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया गया है। दूसरी यह कि जनता के प्रति निरीह भाव प्रदर्शित करके उसमें अन्तर्निहित सम्भावनाओं को नजरंदाज किया गया है। और तीसरी यह कि इस दारुण, विरोधपूर्ण स्थिति में मुक्ति भी सम्भव है, इसकी ओर कवि का ध्यान नहीं गया है। इन्हीं कारणों से अपने 'जाहिल वाने' पहने रहने में ही मानव-मूल्य और कर्म की इति मानी गयी है। मानवीय दायित्व का यह स्वरूप यथास्थिति-वाद का पक्ष पुष्ट करता है। ऐसे कला-मूल्यों की प्रगतिशील भूमिका अत्यन्त सीमित होती है।

अपनी स्थिति को और मजबूती में पकड़ कर जीने का ऐसा संकल्प स्वयं एक अहंवाद को जन्म देता है। अहंवादी आधारभूमि पर खड़े होने पर भी इस 'प्रोटेस्ट' का रूप समाजोन्मुख है। इसलिए अत्यन्त सीमित मात्रा में ही सही, इसकी निश्चित प्रगतिशील भूमिका है।

प्रगतिशील सौन्दर्य-मूल्य मानवीय-यथार्थ को निरपेक्ष सन्दर्भों में नहीं आँकता। विरोधी चरित्र की वास्तविकताओं में कार्य-कारण सम्बन्ध रेखांकित करते हुए श्री सुमित्रानन्दन पंत ने श्रमजीवी मनुष्य को इस रूप में देखा :

> "वह पवित्र है : वह जग के कर्दम से पोषित,
> वह निर्माता, श्रेणि, वर्ग, धन, बल से शोषित।
> मूढ़, अशिक्षित, सभ्य, शिक्षितों में वह शिक्षित
> विश्व-उपेक्षित—शिष्ट संस्कृतों से मनुजोचित।"[2]

---

१. 'नयी कविता', अंक १, पृ० ४२।
२. 'सुमित्रानन्दन पंत, ग्रन्थावली–२,' (युगवाणी), पृ० ६५।

मनुष्य की अमानवीय स्थिति के कारणों को स्वीकार करने के नाते ही पंत जी उसमें निहित 'मनुजोचित' सम्भावनाओं को पहचान सके।

गिरिजाकुमार माथुर के अनुसार ये अमानवीय स्थितियाँ ऐसी हैं कि आदमी का कोई सम्मान नहीं रह गया है। इन स्थितियों का कारण यह है कि 'स्वार्थ, लालच, युद्ध' ही देवता बन गये हैं। माथुर इसे इन्सान की सभ्यता नहीं मानते क्योंकि इस सभ्यता में—

> "मूल धन हिंसा, गुलामी सूद है
> आदमी बन्दूक की बारूद है।"[1]

सूदखोर व्यवस्था ने आदमी का सम्मान छीन कर उसे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए बन्दूक की बारूद बना दिया है। इसलिए मनुजता का परिमा-मान भी शेष नहीं रह गया है।

प्रगतिशील कविता जीवन की विभिन्न वास्तविकताओं में निहित गम्भीर कार्य-कारण सम्बन्ध को पहचानती और व्यक्त करती है इसलिए उसकी मानवता तटस्थ न होकर पक्षधर है, व्यक्तिगामी न होकर समाजगामी है तथा उसकी आस्था ह्रासोन्मुख न होकर जीवनोन्मुख है, भोगपरक न होकर दायित्वपरक है। निराला की अधिकांश कविताएँ यथार्थ को बहुत गहराई से प्रतिबिम्बित करती हैं। 'विधवा', 'भिक्षुक', 'ये किसान की नयी बहू की आँखें' आदि कविताओं में जिस करुणा और सहानुभूति के दर्शन होते हैं वही विकसित होकर 'तोड़ती पत्थर' में रागात्मक एकीकरण का रूप धारण कर लेती है :

> "देख कर कोई नहीं,/देखा मुझे उस दृष्टि से
> जो मार खा रोयी नहीं।
> सजा सहज सितार,
> सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।"[2]

श्रमरत मजदूरनी की दृष्टि से उसके अन्तर की चोट पढ़ लेने और अपने जीवन के संघर्षों को उससे जोड़ देने पर निराला को सहज सितार की मधुर झंकृति की अनुभूति हुई। जो व्यक्ति 'मधुकर अंधे आदिम पथ पर' हारता रहा, रहा हो स्वार्थ-समर[3]

---

1. 'धूप के धान', पृ० ८६।
2. 'अनामिका', पृष्ठ ८१।
3. उपर्युक्त, पृ० १६२।

उसके लिए साहित्य कर्म भी पत्थर तोड़ने जैसी मजदूरी है। दोनों के जीवन में आर्थिक अनर्थ है और दोनो स्वार्थ-समर में हारते हैं। यही उनकी अविच्छिन्नता का कारण है और यही उस मजदूरनी से निराला की सहानुभूति का आधार भी है।

पंत जी की अनेक कविताओं में ग्रामीण और शहरी जीवन के चित्र देखने को मिलते हैं। 'वह बुड्ढा' पंत के मन मे जो 'काली नारकीय छाया निज' छोड़ गया है वही करुणा के स्वर से गर्भित होकर इन शब्दों मे व्यक्त हुआ है :

> "उसका लम्बा डील-डौल है/हट्टी-कट्टी काठी चौडी,
> इस खँडहर मे बिजली-सी/उन्मत्त जवानी होगी दौडी।
> बैठी छाती की हड्डी अब/झुकी रीढ़ कमठा-सी टेढी।
> पिचका पेट, गढे कन्धों पर/फटी बिवाई से है एँड़ी।"[1]

एक ही व्यक्ति जीवन की भिन्न अवस्थाओं में इतना बदल गया है कि व्यक्तित्व के खण्डहर में झाँक कर पता लगाना पड़ रहा है कि कभी इसमे यौवन की बिजलियाँ दौड़ी होंगी। व्यक्तित्व खण्डहर बन गया है। किसने मानव-व्यक्तित्व को इतना तोड़ दिया है? 'आज की जिन्दगी' शीर्षक कविता में महेन्द्र भटनागर ने समाज मे व्याप्त कुरीतियो, अन्तर्विरोधों को जिम्मेदार ठहराते हुए लिखा—"आदमी की सब बहारें छिन गयी हैं" और "फट गया मन लहलहाते खेत का / बेरहम तूफान आया रेत का।"[2]

मानव-जीवन को खण्डित और रंग-गंध हीन बना देने वाला समाज जीवन-विरोधी है। जीवन-विरोधी सत्य मरणोन्मुख है। प्रगतिशील कविता भविष्य-विधायक जनता से जुड कर विकसित होती है इसलिए वह जीवन और उसकी गतिशीलता को अनिवार्य और सर्वोपरि मूल्य मानती है। केवल पंत ही यह नही अनुभव करते कि "जन्मशील है मरण : अमर मर-मर कर जीवन/झरता नित प्राचीन पल्लवित होता नूतन।' वरन् डॉ० रांगेय राघव भी 'देख जीवन के पगों पर मृत्यु झुकती'[3] हर्षोल्लास से भर जाते हैं और [illegible] करते हैं, "जीवन में

---

१. 'सुमित्रानन्दन पंत ग्रन्था
२. 'जिजीविषा', [illegible]
३. 'हंस' [illegible]

जीने का वन है/मनु की धरती अजर-अमर है/जयति मृत्यु-मरते भविष्य की/जय हो जीवन के भविष्य की।"[1]

जीवन में इतने गहरे विश्वास का आधार ही जीवन के विकासशील चरित्र की परिकल्पना है। सृष्टि गतिमान, विकासमान है। मनुष्य इस सृष्टि का केन्द्र है। गति प्राकृतिक ही नहीं मानवीय सत्य भी है। 'समय देवता' में नरेश कुमार मेहता ने लयात्मक प्रवाह के साथ इस सत्य को अत्यन्त प्रखरता से व्यक्त किया है :

> "उसके चलने में लोहा है / कौन रोक सकता है मानव को चलने से
> जिसके संग-संग आदि काल से इन्द्र चल रहा।/मनुज चल सके इसीलिए
> तो अन्धकार में सूर्य चल रहा।/जहाँ गया मनु पुत्र नदी ने जल
> पहुँचाया। / रत्नभरा धरा ने मानव को शत-शत हीरों से लादा।/
> मनुज चला तो सृष्टि चली, अन्यथा मात्र थी पूर्व प्रकृति।"[2]—इत्यादि।

इतना समर्थ है मनुष्य। तब भला उसे भावी विकास से कौन रोक सकता है? वह सृष्टि को अर्थवान् बना रहा है; उससे पहले सृष्टि नहीं थी, मात्र प्रकृति थी। यह नया मानववादी मूल्य मनुष्य के श्रम की देन है।

उल्लेखनीय है कि मनुष्य की इस विराट् शक्ति और निर्णायक भूमिका का अंकन नरेश मेहता ने अपनी कविता में तब किया है जब 'समय देवता' वोल्गा की धरती, 'यौवन की भूमि सोवियत' पहुँचते हैं, 'जहाँ मनुज की, उसके श्रम की होती पूजा।'[3] वर्गाधारित समाज में श्रम शोषण काम होता है। उसमें सौन्दर्य की कल्पना नहीं की जाती। समाजवाद सृष्टि के केन्द्रबिन्दु मनुष्य और उसके भी निर्माता श्रम को सर्वोच्च सौन्दर्य-मूल्य के रूप में स्वीकृत और स्थापित करता है। प्रगतिशील कविता समाजवाद को मानव-मुक्ति की सच्ची व्यवस्था के रूप में स्वीकार करती है इसलिए वह श्रमजीवी जनता को मानवता की धुरी और उसके मूल्यों को साहित्य के श्रेष्ठ मूल्यों के रूप में अभिव्यक्त करती है। उसका श्रम-सौन्दर्य श्रमजीवी किसान-मजदूरों के जीवन के दुःसह कष्टों के प्रति हाय-तोबा में ही नहीं, बल्कि उसकी हीनता में छिपी महानता को पहचानने, उसे उभारने और प्रतिमूर्तित करने में व्यक्त होता है। रोते-बिलखते और अमानवीय—पशुवत्—बिलबिलाते हुए जनता के जीवन के

---

१. 'धूप के धान', पृ० ६२।
२. 'दूसरा सप्तक', पृ० १२२।
३. उपर्युक्त, पृ० १२१।

प्रति सनेही-मण्डल के कवियों के अलावा भी बहुतों ने सहानुभूति का शिष्टाचार दिखाया है; लेकिन उनकी सम्भावनाओं और क्षमताओं में गहन आस्था से दीप्त जीवन्त और मूर्त चित्र जिस स्तर पर प्रगतिशील काव्य में अंकित किये गये, उस स्तर पर अन्यत्र दुर्लभ हैं। अकेले नागार्जुन ने मल्लाहों ('देना ओ गंगा मैया'), रिक्शा-चालकों ('खुरदुरे पैर'), मजदूरों-किसानों ('घिन तो नहीं आती है'), खानाबदोशों ('आदम का तबेला') आदि के जितने चित्र अंकित किये हैं वे प्रगतिशील कविता की मानवीय अन्तर्धारा को बलपूर्वक रेखांकित करने के लिए पर्याप्त हैं। रिक्शाचालक के 'खुरदुरे पैर' जिस तरह 'त्रिविक्रम वामन के पुराने पैरों को' मात कर देते हैं उससे नागार्जुन की और प्रगतिशील कविता की करुणा और सहानुभूति का ही पता चलता है। नागार्जुन अनुभव करते हैं :

> "घँस गये/कुसुम कोमल मन में गुट्ठल घट्ठों वाले कुलिश
> कठोर पैर दे रही गति/रबड़ विहीन ठूँठ पैडलों को/
> चला रहे थे/एक नहीं, दो नहीं, तीन-तीन चक्र/कर रहे
> थे मात त्रिविक्रम वामन के पुराने पैरों को/नाप रहे हैं
> धरती का अनहद फासला/घण्टों के हिसाब से ढोये जा रहे थे।"[1]

रिक्शाचालक धरती का अनहद फासला नापता है श्रम के बूते पर। इस श्रमजीवी के पैरों की ताकत से खिंचते रिक्शे के तीन चक्र त्रिविक्रम वामन को भी मात करते हैं। लेकिन हमारे समाज की विडम्बना देखिये, यह श्रमजीवी कितना सम्मानित है कि घण्टे के हिसाब से ढोते जाने को विवश है। यह दृश्य कवि की आँखों से देर तक टकराता रहा और उसकी कुसुम कोमल आत्मा में ये गुट्ठल घट्ठों वाले खुरदुरे पैर खुद कर अंकित हो जाते हैं। मानो पूरी जिन्दगी की हकीकतें उसकी बिवाइयों की तरह दरक गयी हैं। कवि के मन को जीवन का यह खण्डित और विकृत रूप आहत करता है। निराला से लेकर नागार्जुन तक में जिन्दगी की वास्तविकताएँ और मन पर पड़ने वाला उनका प्रभाव कितनी गहराई और सघनता से अंकित हुआ है, इसे सहज ही देखा जा सकता है। तुलसीदास से लेकर आज तक प्रगतिशील साहित्य-धारा के अलावा कितने कवियों ने चन्द्रबदन मृगलोचनियों से दृष्टि हटा कर इन बिवाई-फटे पैरों को देखा है ?

प्रगतिशील साहित्य की इस व्यापक सहानुभूति का आधार है वैज्ञानिक निष्कर्षों के प्रकाश में विकसित विश्व और मानव सम्बन्धी उसका नया बोध।

---

१. 'सतरंगे पंखों वाली', पृ० २१।

इसीलिए प्रगतिशील कविता में हम खेत में झुक कर पानी लगाती हुई युवती[1] और भूख से लड़ने के संकल्प के साथ अडिग खड़े मनुष्य[2] दोनों में समभाव सौन्दर्य के दर्शन करते हैं। फिर यह चाहे 'शक्ति प्रदाता, राष्ट्र-विधाता'[3] श्रम हो या 'भूख अन्तर में छिपाये' हुए 'मजदूर',[4] चारों ओर से प्रश्नों से घिरा, वास्तविकताओं से जूझता साधारण भारतीय युवक[5] हो या हमारे सांस्कृतिक-पारिवारिक पूर्वज और अग्रज हों, सभी उसके सौन्दर्य-बोध की परिधि में आते हैं। इसीलिए छोटे-से बच्चे की मामूली-सी हरकत से ध्वनित होता यह बहुत बड़ा अर्थ उसकी दृष्टि से छिपा नहीं रहता कि : "ताल को कँपा दिया / कंकड़ से बालक ने,/ताल को कँपा दिया/ताल को नहीं/अनंत काल को कँपा दिया।"[6]

औद्योगिक सभ्यता के उदय के साथ सरकारी-गैरसरकारी संस्थानों-कार्यालयों में काम करने वाले मध्यवर्ग का भी जन्म होता है। दो विरोधी शत्रु-वर्गों की दुरभि-सन्धि पर अवस्थित मध्यवर्ग की दशा विचित्र है। आर्थिक आधार में वह श्रमजीवी है। किन्तु सांस्कृतिक स्तर पर वह खुद को सम्पत्तिधारी वर्गों के साथ जोड़ता और उन्हीं की दुनिया का अंग बनने के स्वप्न देखता है। इसलिए प्रगतिशील काव्य में जहाँ उससे सहानुभूति का स्वर मिलता है वहीं उसकी तीखी आलोचना भी मिलती है। मुक्तिबोध और नागार्जुन दो भिन्न पद्धतियों से यह कार्य करते हैं। मुक्तिबोध 'अपने ही वर्ग' को अपनी तरफदारी तय करने की समुचित सलाह देते हैं और नागार्जुन वस्तुस्थिति के चित्रण के जरिये उस पर व्यंग्य करते हैं। लक्ष्य दोनों का एक है—मध्यवर्ग को वस्तुस्थिति और स्वयं अपनी स्थिति के प्रति सजग करना। लेकिन कुछ अधकचरे प्रगतिशील वर्गान्तरण के कठिन आन्तरिक संघर्ष को अनुभव किये बिना ही जब स्वयं को सर्वहारा कल्पित कर लेते हैं तब उनका स्वर रचनात्मक, आत्मसजग बनाने वाला न होकर भर्त्सना का होता है। प्रकटतः क्रान्तिकारी लगने वाला यह स्वर कितना दम्भपूर्ण और अयथार्थ है, इसकी एक मिसाल काफी है। श्री प्रभाकर माचवे ने 'निम्न मध्यवर्ग' को इन शब्दों में स्मरण किया है :

---

१. 'रूप तरंग', पृ० ६१, 'कुहरे के बादल'।
२. 'आंगन का दर्द', पृ० ३२।
३. 'गुलमेंहदी', पृ० १२६।
४. शील : 'धारा और फूल'।
५. राजेन्द्र किशोर, 'नयी कविता', अंक–३, १९५९, पृ० ७९-८०।
६. 'धूप नहीं, रंग होते हैं', पृ० ४१।

यात्रा करने निकलते हैं लेकिन प्रकाश में प्रकट होने से डरते हैं। प्रकाश मानव-विवेक को आलोकित करने वाली वैज्ञानिक चेतना है और अन्धकार मानवीय विवशता को प्रतिबिम्बित करने वाली धर्मबुद्धि-चेतना। उपनिषद्-विवेक प्राणी के लिए देवताओं का अस्तित्व नहीं है। संक्षेप में, मानव-जीवन और कर्म को प्रगतिशील काव्य ने मूल्य के रूप में स्वीकार किया इससे उनके लिए जरूरी हो गया कि वह ईश्वर की सत्ता को चुनौती दे, मनुष्य में भाग्यवाद के विरुद्ध करने कर्म के प्रति विश्वास उत्पन्न करे। और शोषण, मानव-सम्बन्धों में अन्तर्विरोध उत्पन्न करने वाली स्थितियों, प्रवृत्तियों, धारणाओं आदि के विरुद्ध संगठित संघर्ष की चेतना। वर्तमान सामाजिक विधान मानव-व्यक्तित्व को कुण्ठित और खण्डित करता है। इसलिए प्रगतिशील कविता जीवन में गहरी आस्था से अनुप्राणित होकर वर्तमान विधान का निषेध और संगत मूल्य-बोध की स्थापना का प्रयत्न करती है।

प्रगतिशील कविता की गहरी मानवीय संवेदना मानव-व्यक्तित्व की पूर्णता की परिकल्पना में प्रतिबिम्बित होती है। वह एक ओर 'मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते' की वास्तविकता से परिचित है तो दूसरी ओर व्यक्ति को भीड़ में खोकर चेहरा-मोहराहीन बनाने की पूँजीवादी साजिशों से भी सतर्क है। प्रगतिशील कविता में व्यक्ति को, उसकी रचनात्मक भूमिका को, उसके सम्पूर्ण निजीपन के साथ स्वीकार किया जाता है। वह ऐसा 'व्यक्ति' नहीं है जो अपने अलावा सब कुछ के प्रति असहिष्णुता प्रदर्शित करे। उसकी चिन्ता घर-परिवार के बीच अपने निजीपन के साथ अपना स्थान बनाने की मानवीय चिन्ता है : "छोटे-से आँगन में / माँ ने लगाये हैं / तुलसी के बिरवे दो / पिता ने उगाया है / बरगद छतनार / मैं अपना नन्हा गुलाब / कहाँ रोप दूँ ?"[1] इस प्रश्न में कवि की लाचारी इसी अर्थ में है कि वह सामाजिक जीवन में अपनी सार्थक, रचनात्मक भूमिका की तलाश कर रहा है। केदारनाथ सिंह का उद्देश्य सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन दिखाना नहीं है अन्यथा वे भी 'अन्धायुग' अवतरित कराते, प्रश्न की छटपटाहट न झेलते। दूसरी तरफ, वे 'फूल को हक दो' जैसी कविता कदापि न लिखते। मानव-जीवन में आस्था दृढ़ करने वाली यह कविता 'फूल को हक दो, वह हवा को प्यार करे, / ओस, धूप रंगों से जितना भर सके, भरे' से आरम्भ होती है और [illegible] होती है [illegible] को भीजने, सरसने, फूटने, अँखुआने का हक दो [illegible] हुई

1. 'अभी, बिल्कुल अभी', पृ० २६।

'इन मेड़ों से उन मेड़ों तक छाये' और यदि हारे तो दूब की पताका और उठे—नये मानव के लिए।'[1]

जीवन की पूर्णता और स्वाभाविकता में यह अभेद्य आस्था प्रगतिशील साहित्य का अन्यतम मूल्य है। इसीलिए नागार्जुन 'नयी-नयी सृष्टि रचने को तत्पर/कोटि-कोटि कर चरण' के 'अहरह स्निग्ध इंगित' पाकर 'अलस-अकर्मा' पड़े रहने को असम्भव बताते हैं और निर्बन्ध, अमर्यादित व्यक्ति-स्वातंत्र्य के बारे में कहते हैं :

> "सलिल को सुधा बनायें तटबन्ध/धरा को मुदित करें नियन्त्रित नदियाँ /
> तो फिर मैं ही रहूँ निर्बन्ध,/मैं ही रहूँ अनियन्त्रित/यह कैसे होगा ?/
> यह क्यों कर होगा ?"[2]

व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों को भूल कर जो कवि व्यक्ति के महत्त्व पर अमर्यादित बल देते हैं वे सामूहिक गति को मानव-मूल्यों की निरर्थकता का मूल कारण मानते हैं। उनकी दृष्टि में खण्डित 'व्यक्ति' भी मौके पर 'सामूहिक गति' से अधिक सार्थक होता है क्योंकि सामूहिक गति का मिथ्यापन अधिक छिप नहीं सकता। वे अपने टूटे हुए होने को ही सुरक्षित रखने की हिदायत देते हैं कि "इतिहास की सामूहिक गति/सहसा झूठी पड़ जाने पर/क्या जाने सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले।"[3] सामूहिक गति अकारण, तर्कहीन ढंग से 'सहसा' झूठी पड़ जायेगी, यही स्वप्न सँजोये टूटे पहिये अपनी गरिमा के गुरूर में चूर बिखरे पड़े हैं।

यह नहीं कि प्रगतिशील कविता ने मनुष्य के गरिमामण्डित रूप की परिकल्पना में वास्तविकता से आँखें चुरायी हैं। श्रमजीवी किसान-मजदूर-मध्यवर्ग के प्रति करुणा और संवेदना का भाव यदि उसकी तलस्पर्शी; मर्मभेदी यथार्थ-दृष्टि का परिचय देता है तो व्यक्तियों या वर्गों के सामान्य चित्रों और आलोचनाओं में हम उसकी भविष्यगामी चिन्ता की झलक पा सकते हैं। 'शहर के छोकड़े' सामाजिक विडम्बना के शिकार होकर यदि संस्कृति-संस्कारहीन हो गये हैं और "गन्दा धुआँ छोड़ते हैं समाज में"[4] तो कवि की संवेदना उनकी मार्मिक आलोचना से भी नहीं चूकती। इसी तरह धना-धवंना पाकर 'धरम की धिमम' से "तेज आगु का धुआँ उड़ाता"

---

1. 'नयी कविता', अंक-२, १९५५; पृ० ६९-७१।
2. 'सतरंगे पंखों वाली', पृ० १२-३।
3. 'ताप पीत वर्ण', पृ० ७९-८०।
4. 'गुलमेंहदी', पृ० ४५।

यात्रा करने निकलते हैं लेकिन प्रकाश में प्रकट होने से डरते है। प्रकाश मानव-विवेक को जागरित करने वाली वैज्ञानिक चेतना है और अन्धकार मानवीय विवशता को प्रतिबिम्बित करने वाली मध्ययुगीन-चेतना। जागरित-विवेक प्राणी के लिए देवताओं का अस्तित्व नही है। संक्षेप में, मानव-जीवन और कर्म को प्रगतिशील काव्य ने मूल्य के रूप में अंगीकार किया इससे उसके लिए जरूरी हो गया कि वह ईश्वर की सत्ता को चुनौती दे, मनुष्य में भाग्यवाद के विरुद्ध अपने कर्म के प्रति विश्वास उत्पन्न करे। और तीसरा, मानव-सम्बन्धों में असगति उत्पन्न करने वाली स्थितियों, प्रवृत्तियो, शक्तियों आदि के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष की चेतना। असंगत सामाजिक विधान मानव-व्यक्तित्व को कुण्ठित और खण्डित करता है। इसलिए प्रगतिशील कविता जीवन में गहरी आस्था से अनुप्राणित होकर असंगत विधान का निषेध और संगत मूल्य-बोध की स्थापना का प्रयत्न करती है।

प्रगतिशील कविता की गहरी मानवीय सवेदना मानव-व्यक्तित्व की पूर्णता की परिकल्पना में प्रतिबिम्बित होती है। वह एक ओर 'मुक्ति के रास्ते अकेले में नही मिलते' की वास्तविकता से परिचित है तो दूसरी ओर व्यक्ति को भीड़ मे खोकर चेहरा-मोहराहीन बनाने की पूँजीवादी साजिशों से भी सतर्क है। प्रगतिशील कविता मे व्यक्ति को, उसकी रचनात्मक भूमिका को, उसके सम्पूर्ण निजीपन के साथ स्वीकार किया जाता है। वह ऐसा 'व्यक्ति' नही है जो अपने अलावा सब कुछ के प्रति असहिष्णुता प्रदर्शित करे। उसकी चिन्ता घर-परिवार के बीच अपने निजीपन के साथ अपना स्थान बनाने की मानवीय चिन्ता है : "छोटे-से आँगन मे / माँ ने लगाये हैं / तुलसी के बिरवे दो / पिता ने उगाया है / बरगद छतनार / मैं अपना नन्हा गुलाब / कहाँ रोप दूँ ?"[१] इस प्रश्न में कवि की लाचारी इसी अर्थ में है कि वह सामाजिक जीवन मे अपनी सार्थक, रचनात्मक भूमिका की तलाश कर रहा है। केदारनाथ सिंह का उद्देश्य सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन दिखाना नहीं है अन्यथा वे भी 'अन्धायुग' अवतरित कराते, प्रश्न की छटपटाहट न झेलते। दूसरी तरफ, वे 'फूल को हक दो' जैसी कविता कदापि न लिखते। मानव-जीवन में आस्था दृढ करने वाली यह कविता 'फूल को हक दो; वह हवा को प्यार करे, / ओस; धूप रंगों से जितना भर सके, भरे' से आरम्भ होती है और समाप्त होती है यहाँ की माटी को भीजने, सरसने, फूटने, अँखुआने का हक दो ताकि वह सकीर्णताओ को तोड़ती हुई

---

१. 'अभी, बिल्कुल अभी', पृ० २६।

'इन मेड़ों में उन मेड़ों तक छाये' और यदि हारे तो दूब की पताका और उठे—नये मानव के लिए।'[1]

जीवन की पूर्णता और स्वाभाविकता में यह अभेद्य आस्था प्रगतिशील साहित्य का अन्यतम मूल्य है। इसीलिए नागार्जुन 'नयी-नयी सृष्टि रचने को तत्पर/कोटि-कोटि कर चरण' के 'अहरह स्निग्ध इंगित' पाकर 'अलस-अकर्मा' पड़े रहने को असम्भव बताते हैं और निर्बंध, अमर्यादित व्यक्ति-स्वातंत्र्य के बारे में कहते हैं :

"सलिल को सुधा बनायें तटबन्ध/धरा को मुदित करें नियन्त्रित नदियां/
तो फिर मैं ही रहूँ निर्बंध,/मैं ही रहूँ अनियन्त्रित/यह कैसे होगा ?/
यह क्यों कर होगा ?"[2]

व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों को भूल कर जो कवि व्यक्ति के महत्त्व पर अमर्यादित बल देते हैं वे सामूहिक गति को मानव-मूल्यों की निरर्थकता का मूल कारण मानते हैं। उनकी दृष्टि में खण्डित 'व्यक्ति' भी मौके पर 'सामूहिक गति' से अधिक सार्थक होता है क्योंकि सामूहिक गति का मिथ्यापन अधिक छिप नहीं सकता। वे अपने टूटे हुए होने को ही सुरक्षित रखने की हिदायत देते हैं कि "इतिहास की सामूहिक गति/सहसा झूठी पड़ जाने पर/क्या जाने सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले।"[3] सामूहिक गति अकारण, तर्कहीन ढंग से 'सहसा' झूठी पड़ जायेगी, यही स्वप्न सँजोये टूटे पहिये अपनी गरिमा के गुरूर में दूर बिखरे पड़े हैं।

यह नहीं कि प्रगतिशील कविता ने मनुष्य के परिमार्जित रूप की परिकल्पना में वास्तविकता से आँखें चुरायी हैं। श्रमजीवी किसान-मजदूर-मध्यवर्ग के प्रति करुणा और संवेदना का भाव यदि उसको तलस्पर्शी; मर्मभेदी यथार्थ-दृष्टि का परिचय देता है तो व्यक्तियों या वर्गों के सामान्य चित्रों और आलोचनाओं में हम उसकी भविष्यगामी चिन्ता को समझ पा सकते हैं। 'शहर के छोकड़े' सामाजिक विडम्बना के शिकार होकर यदि संस्कृति-संस्कारहीन हो गये हैं और "गन्दा धुआं छोड़ते हैं समाज में"[4] तो कवि की संवेदना उनकी मार्मिक आलोचना से भी नहीं चूकती। इसी तरह धना-धनी पाकर 'बाग की सिगरेट' से "ढेर आयु का धुआं उड़ाता"

---

१. 'नयी कविता', अंक-२, १९५५; पृ० ९९-१०१।
२. 'सतरंगे पंखों वाली', पृ० १२-३।
३. 'सात गीत वर्ष', पृ० ७९-८०।
४. 'गुलमेंहदी', पृ० ४२।

'चंदू'[१] व्यक्ति होता हुआ भी अपने जैसे तमाम भिखारियों का प्रतिनिधि (टाइप) बन जाता है। व्यक्ति चित्रों से सामान्य को प्रतिबिम्बित करने के साथ-ही-साथ 'सामान्य' की आलोचना भी देखी जाती है। डॉ० रामविलास शर्मा 'कर्मक्षेत्र' में किसानों की इस वास्तविक स्थिति को नजरन्दाज नहीं करते कि :

"रूढ़ियों की, नियमों की, अस्पष्ट विचारों की
सदियों के पुरातन मृत संस्कारों की
चिह्नित हैं प्रेतरूप छायाएँ मटीले मुँह पर।"[२]

प्रेतरूप छायाएँ मटीले मुँह पर चिह्नित होती हैं, कलात्मक दृष्टि से यह प्रतीक-योजना उनकी अन्तर्बाह्य वास्तविकता को बेहद खूबी से व्यक्त करती है। क्रान्तिकारिता के उत्साह में यहाँ वास्तविकता से आँखें नहीं चुरायी गयी हैं। सच्ची क्रान्तिकारिता वास्तविकताओं और उनके वस्तुगत आकलन द्वारा निर्धारित दिशा पर निर्भर होती है।

प्रगतिशील कविता वास्तविकता की स्वीकृति मात्र को मूल्यवान् नहीं मानती। उसके लिए मूल्यवान् है वास्तविकताओं से अर्जित हमारा निष्कर्ष। प्रगतिशील कविता मानव-व्यक्तित्व को विघटित और अमानवीकृत करने वाली समाज-व्यवस्था में परिवर्तन की सक्रिय चेतना धारण करती है। इसलिए वस्तुस्थिति की स्वीकृति, उसमें व्यक्ति (और कला) की स्थिति एवं भूमिका की पड़ताल और भविष्य के न्यायसंगत ध्येय के प्रति जनता की चेतना का विकास—यह प्रगतिशील कविता के मानववादी मूल्यों का केन्द्रीय सार है। रूढ़ियों, नियमों, अस्पष्ट विचारों के जिन मृत संस्कारों ने मनुष्य को दबोच रखा है, उनसे मुक्ति इस प्रक्रिया की मूल धुरी है। ग० मा० मुक्तिबोध ने खासकर मध्यवर्ग के आत्मसंघर्ष के जरिये संस्कार-मुक्ति की प्रक्रिया को सर्वाधिक अभिव्यक्ति दी है। 'एक रग का राग' में उन्होंने लिखा,

"एकमात्र उद्देश्य—
हृदय की लुटिया से दिमाग की मोरी में
पानी डाल
जमी हुई काई सब निकालना।"[३]

---

१. 'गुलमेंहदी', पृ० ४६।
२. 'रूप-तरंग', पृ० १६।
३. 'भूरी-भूरी खाक धूल', पृ० ११।

काई निकाल कर मानव-व्यक्तित्व में जो नयी आभा निखरेगी वह समाज और कला को नया मनुष्य देगी। यह संघर्ष आसान नहीं है। इस परिप्रेक्ष्य को पूरी स्पष्टता से समझने के नाते ही प्रगतिशील कविता टूटे पहियों की भाँति किसी चमत्कार की अभिलाषा लिये अकेले, निष्क्रिय, चेतनाशून्य पड़े रहने के विरुद्ध है। चूँकि "जन-जन की साहसी विचारधारा/कर्ममयी अग्निधारा"[1] है इसलिए वह "प्राणों की नवशक्ति से, शक्ति से" एक "नव विश्व-संकल्प का नया-नया गुरुभार" लेकर चलती है।[2]

आज के जीवन की समस्याएँ राजनीति से बहुत गहरे तौर पर जुड़ी हैं। नागरिक जीवन में सामाजिक विरोधों का अधिक प्रत्यक्ष और उग्र रूप देखने में आता है। सामाजिक उत्पादन में कायम होने वाले सम्बन्धों में स्वामी और श्रमिक के बीच की खाईं को राजनीतिक जीवन में भी साफ-साफ देखा जा सकता है। शकुन्त माथुर की 'लीडर का निर्माता'[3] कविता में इस खाईं को दो चित्रों द्वारा मूर्त किया गया है। पहले चित्र में नेतागण हैं जो रेशम के पर्दों से सजे, साफ-सुथरे सुविधापूर्ण बंगलों में रहते हैं, "चपरासी कसे बेल्ट/सिक्रेटरी लिये डायरी/गेट पर कार खड़ी" है। और दूसरे चित्र में सड़न-भरी जिन्दगी जीता जन-समुदाय : "निकल रही छिपकली-सी/लड़की दरवाजे से/गली का खिलना बन/फिर रहा बच्चा/लिये खाली बोतल/मिट्टी के तेल की।/...खोल रहा/मौत के निगलन-सा/मोटू दूर मोम का।/मूंगा हो/कौन जा रहा है?/लीडर का निर्माता!"

आर्थिक और राजनीतिक जीवन के अन्तर्विरोध एक-दूसरे से निरपेक्ष तो हैं नहीं; इसलिए प्रगतिशील कविता अमीरों की हवेली को किसानों की पाठशाला बनाने, धोबी, पासी, चमार, तेली सबके जीवन का अन्धकार दूर करने वाला एक पाठ पढ़ाने के लिए जल्द-जल्द पैर बढ़ाने का आह्वान करती है, सेठों, जमींदारों की जगह किसानों का बैंक खुलाने की माँग रखती है और सारी सम्पत्ति-आपत्ति को देश की बनाने का मार्ग सुझाती है।[4] पर वह महसूस करती है कि इतना महत् युगान्तकारी कार्य राजनीति के वर्तमान विधान से हो नहीं सकता। इसलिए वह जिस नयी दिशा और नये विधान को अपनाती है वह शमशेर के अनुसार, "वाम, वाम, वाम दिशा/ समय-साम्यवादी" है। यह विधान 'कर्मनिष्ठ जनता का एकता-समन्वय" है और "बस

---

१. 'धूरी-धूरी खाक धूल', पृ० १६७।
२. उपर्युक्त, पृ० १८७।
३. 'दूसरा सप्तक' पृ० ४२-४६।
४. 'बेला', पृ० ७८।

कठिन कमकर की मुट्ठी में पथ प्रदर्शिका मशाल" की तरह लाल-लाल प्रकाश बिखेर रहा है।[1] मनुष्यता की, खुद मनुष्य की रक्षा का दायित्व समय की आवश्यकता का प्रतीक इस नये साम्यवादी विधान के हाथ मे है। राजनीतिक चेतना निस्सन्देह प्रगतिशील कविता का अगभूत मूल्य है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रगतिशील कविता में जिस दृष्टिविन्दु से मनुष्य के व्यक्तित्व का मूल्यांकन हुआ उससे उसकी भौतिक विवशताओं और अन्तर्निहित सम्भावनाओ—दोनो का प्रकाशन हुआ। प्रगतिशील कवियो ने मनुष्य की कष्टपूर्ण स्थिति को 'आह!' भर कर देखा तो दूसरी ओर उसकी सुपुप्त क्षमताओ को अंकुरित करने के लिए उसे ललकारा, कभी व्यग्य किया, कभी फटकार सुनायी। लेकिन यह सब उसकी आस्था, उसके मनोबल, उसके विश्वास और संकल्प को दृढ़ करने के लिए। यह नया मानववाद 'मानव तुम सबसे सुन्दरतम' (पंत) की भावना पर आधारित है। इसलिए प्रगतिशील कविता में मनुष्य 'अखिल भुवन के उपवन का सर्वोत्तम कुसुम' बना (नरेन्द्र शर्मा), 'उच्च जीवन का श्रेष्ठ मान' बना (डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन')।

किन्तु हमारे युग में मनुष्य को अपने लक्ष्य से च्युत कर दिया गया है। प्रगतिशील कविता का संघर्ष उसे पुनः उसके सम्मानित आसन पर पहुँचाने का संघर्ष है। वह इस सत्य से अवगत है कि इतिहास का यह निर्णायक संघर्ष अकेले दम नहीं लड़ा जा सकता। अतः वह मनुष्य के संगठित सामूहिक प्रयत्नों की महत् भूमिका को रेखांकित करना अपना धर्म समझती है।

जब तक मनुष्य को वास्तव में उसका सम्मानित दरजा नही मिलता तब तक कविता के माध्यम से उसे आत्मसजग बनाने, उसके सर्वोत्तम मानवीय गुणों को अभिव्यक्ति देने का दायित्व प्रगतिशील कविता अपने जिम्मे लेती है। ईश्वर, धर्म आदि की सार्थकता मनुष्य को उसका खोया हुआ दरजा दिलाने में है। कवि जगत्-निर्माता है, वह यह नया मूल्य भी निर्मित कर सकता है कि देवता मन्दिरों, राजप्रासादो और तहखानो मे नही है; 'देवता कहीं सड़को पर मिट्टी तोड़ रहे, देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों मे।' (दिनकर) मनुष्य के श्रम को इतना ऊँचा स्थान देकर कवि उसका स्वत्व हरण करने वाली व्यक्तिगत सम्पदा का निषेध करता है; नयी मानवता के स्वप्न देखता है।

---

१. 'दूसरा सप्तक', 'समय साम्यवादी' पृ० १०२-३।

सम्पदा मद का रूप है, श्रम आग का। 'आग सबकी होती है, सबको एक करती है।' (सर्वेश्वर) मनुष्य की एकता वह बल है जो प्रगतिशील कवि को महाप्रलय की शक्तियों के आगे भी विचलित होने से बचाता है। उसमें पस्तहिम्मती आती है, मगर वह हिम्मत बांधता है—भविष्य और न्याय और मनुष्य में आस्था के नाते। वह 'अन्धकार के निराकार गुतहे सूनेपन' को चीर कर उगने वाले 'नये दमकते सूर्य या नूतन मानवता के चेहरे' को (मुक्तिबोध) आंखों से ओझल नहीं होने देता।

———

# राष्ट्रीयता : अन्तर्राष्ट्रीयता

प्रगतिशील साहित्य आरम्भ से ही साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना का साहित्य रहा है। राजनीतिक स्तर पर उसकी साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना का सम्बन्ध सुसंगत मार्क्सवादी विचारधारा और गैर-मार्क्सवादी राष्ट्रीय-जनवादी प्रवृत्तियों—दोनो से है। साहित्यिक स्तर पर भारतेन्दु-युग से लेकर छायावाद तक की पुष्ट साम्राज्यवाद-विरोधी परम्पराएँ उसकी पृष्ठभूमि मे सक्रिय रही हैं। प्रगतिशील काव्य के साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना का मूल भारतीय जनता की राष्ट्रीय मुक्ति की छटपटाहट में है। इसलिए उसकी राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप बहुआयामी है। मानव की सर्वाङ्गीण मुक्ति की प्रेरणा से विकसित समाजवादी विचारधारा और समाज का अनुराग अपने ग्राम, जनपद, नाते-रिश्तो के प्रति तीव्र आकर्षण, परम्परा और इतिहास का सम्यक् मूल्यांकन आदि उसकी राष्ट्रीय भावना का ही परिणाम है।

अंग्रेजों ने १८५७ के स्वाधीनता संग्राम से यह सीख ली कि यहाँ के सामन्तो महाप्रभुओं को अपना सहयोगी बनाये बगैर अधिक समय तक निष्कण्टक राज्य कर पाना कठिन होगा। अतः ढहती व्यवस्था के स्तम्भो को अंग्रेजो ने दृढ़ किया, नवाबो, जागीरदारो को अपना विश्वस्त मित्र बनाया। दूसरी तरफ, भारत का पूँजीवादी विकास भी ब्रिटिश शासन की छत्रच्छाया मे आरम्भ हुआ। किन्तु इस पहलू को नजरन्दाज नही किया जा सकता कि अंग्रेजो ने परम्परागत भारतीय उद्योगो को नष्ट-भ्रष्ट किया तथा अपने माल की बिक्री के लिए और ब्रिटेन को कच्चा माल की सप्लाई करने के लिए भारत को एक विशाल मण्डी में बदल दिया।

इन विविध और प्रकटतः विरोधी स्थितियों में जब पूँजीवाद का विकास आरम्भ हुआ तो उसने अंग्रेजो के साथ सहयोग और संघर्ष की दोहरी कार्यनीति

अपनायी। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने सामन्ती महाप्रभुओं और अंग्रेज शासकों के गठबन्धन से तटस्थ रह कर साम्राज्यवाद-विरोधी निर्णायक संघर्ष चलाने की जगह समझौतावादी रणनीति अपनायी। साधारण जनता का हित न अंग्रेज शासकों से जुड़ा था और न उनसे सीमित संघर्ष की समझौतावादी नीति चलाने वाले भारतीय पूँजीपतियों-जमींदारों से। प्रगतिशील साहित्य जनता की तरफदारी और जनहित को प्रतिबिम्बित करने वाला साहित्य है। जनहित और जनशक्ति में गहरी आस्था से अनुप्राणित प्रगतिशील कवि की भाँति पंत ने लिखा :

"मुखियों के कुलपति, सामन्त महन्तों के वैभव-स्थान
बिला गये बहु राजतंत्र सागर में ज्यों बुद्-बुद् कण।
रजत स्वप्न साम्राज्यवाद के, ले नयनों में शोषण
पूँजीवाद निशा भी है होने को आज समापन।"[1]

मनुष्य के निहरे शोषण के विरुद्ध अनवरत संघर्ष से प्रगतिशील कविता की राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप स्पष्ट होता है। राष्ट्रीय स्वाधीनता के साथ जनता के जो स्वप्न जुड़े थे उनका सम्बन्ध आर्थिक और सामाजिक जीवन की खुशहाली से था। अपने दैनन्दिन जीवन में जनता जिन पूँजीपतियों, जमींदारों के जुल्मों का शिकार बनती थी उन्हें वह आजादी के साथ बेमेल मानती थी। गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाले स्वाधीनता संग्राम की विशेषता यह थी कि उसके पीछे साधारण जन का कर-बल था और नीति की आँखों में पूँजीपतियों की ज्योति थी। एक उदाहरण द्वारा यह बात प्रमाणित हो सकती है। गांधी जी ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का 'स्वदेशी' आन्दोलन चलाया। उनका कहना था कि चरखे से सूत कात कर सारे देश को कपड़ा सुलभ किया जायगा। किन्तु इस कथन की अव्यावहारिकता के बारे में स्वयं गांधी जी को कोई भ्रम न था। वे यह समझते थे कि सारे देश को कपड़ा सुलभ करना हँसी-खेल नहीं है, उसके लिए बड़े-बड़े कारखाने आवश्यक हैं। उनकी नीति यह थी कि 'विदेशी' के बहिष्कार से स्वदेशी उद्योगपतियों के लिए बाजार तैयार होगा। स्वदेशी के इस वर्ग-चरित्र को सामने रखते हुए मगन-मोहन ने लिखा :

"चंदों का मालों का स्वामी बाबों की अमचाना होगी।
चाहे कोर-कोर मरते हैं मजदूरों को खानी होगी।

---

1. 'सुमित्रानन्दन पंत ग्रन्थावली-२' (युगवाणी), पृ० ६१।

वही वस्त्र जिसके धागे-धागे में श्रम का स्वेद भरा है,
वही वस्त्र जिसके रेशे-रेशे मे श्रम का रक्त भरा है।"[१]

श्रमजीवियों की अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी है। अपने खून-पसीने की गाढ़ी मेहनत से वे चीजें उत्पन्न करते हैं। मुनाफा कमाने या बाजार हथियाने की होड़ में पूँजीपति वर्ग उन वस्तुओं का सदुपयोग ही नहीं करता, बल्कि दुरुपयोग करने में भी नहीं हिचकता। स्वाधीनता संग्राम के व्यावहारिक अनुभवों ने इस मार्क्सवादी प्रस्थापना को इतने ज्वलन्त रूप मे सामने ला दिया कि गांधीवादी कवि मैथिलीशरण गुप्त तक ने 'जीवनी' मे लिखा, "धन रूपी फल का परिश्रम ही मूल है।" मार्क्स-जेनी संवाद के ही रूप में वह आगे कहते हैं, "पूँजी नहीं लूट ही इसे कहो/दूसरों को ठग कर जोड़ी जो गयी अहो!/दासता की नीव यही व्यक्तिगत नीवी है/खाता दूसरा ही है, कमाता श्रमजीवी है।"[२]

राष्ट्रकवि के कथन मे संशय के लिए स्थान नहीं है। दूसरों की कमाई हड़प कर अर्जित व्यक्तिगत पूँजी दासता की नींव है। हिन्दी की प्रगतिशील कविता की राष्ट्रीय भावना का यही उत्स है। इसलिए प्रगतिशील कविता की राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद के प्रति समझौतावादी नीति को अस्वीकार करती थी। यदि मार्क्सवादी कवि शिवमंगल सिंह 'सुमन' 'विदेशी बहेलिये' को ललकारते हैं और 'कातर कण्ठ क्रौञ्चिनी' की बेबाक चीख ('कहाँ गया हत्यारा') के जवाब में कण-कण मे जगते विद्रोह के अंकुर[३] को चित्रित करते हैं, तो कांग्रेसी देशभक्ति पर व्यंग्य करते हुए अगिया बैताल (रामविलास शर्मा) लिखते हैं :

"देशभक्ति के काम मे रुपये दिये हजार
चमक उठा इस पुण्य से फिर खोया व्यापार।
न इसको लूट बताओ जी।"[४]

शासक हैं अंग्रेज। उनके विरुद्ध देशभक्तिपूर्ण संग्राम चला रहे हैं कांग्रेसी नेता। सेठ-विशेष ने रुपये कांग्रेस को दिये। फिर भी व्यापार चमक उठा। क्या इससे पूँजीवादी-साम्राज्यवादी हितों का भीतरी गँठजोड़ उद्घाटित नहीं होता? और क्या इससे राष्ट्रकवि का निष्कर्ष पुनः पुष्ट नहीं होता?

---

१. 'संघर्ष', १० जनवरी, १९३८, पृ० ६।
२. 'पृथ्वी-पुत्र', पृ० ३९-४०।
३. 'विश्वास बढ़ता ही गया', पृ० ४१।
४. 'लोकयुद्ध', २८ अक्टूबर, १९४५, पृ० २।

सन् १८५७ के गदर से सबक सीख कर अंग्रेजों ने भारतीय सामन्तों-जागीरदारों और उनसे अपने सम्बन्धों को इसलिए दृढ़ किया कि ग्रामीण गरीबों को काबू में रखा जा सके। भारतीय पूंजीपति वर्ग ने अंग्रेजों से अपने हित टकराव के बावजूद इसलिए मिलीभगत की कि उन्हें हिन्दुस्तान के जागरित मेहनतकशों से भी भय था। प्रगतिशील कवि इस वस्तुस्थिति के प्रति सजग है। इसीलिए जब १९४६ में कांग्रेस ब्रिटिश साम्राज्य के झण्डे के नीचे सिंहासन पर आसीन हुई तब प्रगतिशील कवियों ने देशी-विदेशी शोषकों की अपवित्र सांठ-गांठ पर गहरा क्षोभ व्यक्त किया :

"मेरी मानवता पर रक्खा गिरि का-सा सत्ता सिंहासन,
मेरी आत्मा पर बैठा है, विषधर-सा सामन्ती शासन,
मेरी छाती पर रखा हुआ साम्राज्यवाद का रक्त-कलश,
मेरी धरती पर फैला है मन्वन्तर बन कर मृत्यु-दिवस।"[1]

शोषण के तिहरे रूपों—सामन्तवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद—के प्रति सजग विरोध की दृष्टि होने से प्रगतिशील कविता की राष्ट्रीय भावना दो स्तरों पर व्यक्त हुई है। साम्राज्यवाद-विरोधी निर्णायक संघर्ष के द्वारा देश की राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना और दूसरा अपने देश की समस्त जनता को सामन्ती, पूंजीवादी और साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति दिला कर समता और भाईचारे के आधार पर नये भारत का निर्माण करना। इन दोनों के बीच गम्भीर अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है। इसीलिए विश्व-स्तर पर चल रहे साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति संग्रामों से भाईचारा और समाजवादी जगत् में गहरी आस्था उसकी राष्ट्रीय भावना के ही परिणाम हैं। साम्राज्यवाद और फासिज्म दोनों पूंजीवाद की विकृत अभिव्यक्तियां हैं। इसलिए प्रगतिशील कविता में भारतीय मुक्ति आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों के एक अंग के रूप में देखने तथा समाजवादी दिशा और विधान को शोषणकारी प्रवृत्तियों के एकमात्र विकल्प के रूप में देखने की प्रवृत्ति विकसित हुई।

इस परिप्रेक्ष्य में देखने पर स्पष्ट होगा कि प्रगतिशील काव्य में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता एक-दूसरे के पूरक के रूप में विद्यमान हैं, प्रभावन, आरोपण और पारस्परिक अनुकरण के रूप में नहीं। जैसे पूंजीवाद का राष्ट्रीय चरित्र उसके अन्तर्राष्ट्रीय चरित्र और भाईचारे से सम्बद्ध है, वैसे ही मजदूरों का चरित्र और भाईचारा भी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों है। केसरी नारायण शुक्ल ने प्रगतिशील

1. 'धूप के धान', पृ० ९।

कवियों के सम्बन्ध मे यह उचित लिखा है कि "देश की घटनाएँ भी इनको प्रभावित करती हैं और वे देश की सीमा से उठकर सारी मानवता के अभ्युत्थान की भी कल्पना करते हैं।"[१]

शोषक संस्कृति के बारे में गिरिजा कुमार माथुर की ये पंक्तियाँ पहले उद्धृत की जा चुकी हैं : "···मूल धन हिंसा, गुलामी सूद है, आदमी बन्दूक की बारूद है।" हिंसा, युद्ध और गुलामी शोषक समाजों के मूलाधार होते हैं। प्रगतिशील कविता की राष्ट्रीयता इस विवेक का परित्याग नहीं करती। इसीलिए वह सभी प्रकार के शोषण से मनुष्य की मुक्ति को अपना ध्येय बनाती है और युद्ध की जगह शान्ति के गीत गाती है, ध्वंस की जगह निर्माण का स्वप्न अंकित करती है।

युद्ध और शान्ति की शक्तियों में 'अन्धायुग' का भ्रामक सन्तुलन बनाने की जगह नागार्जुन 'शान्ति का मोर्चा' कायम करते हैं। युद्ध के अमानुषिक चरित्र का उद्घाटन वह भी करते है : "नहीं लाभ पर/नहीं मुहिम पर/बम बरसेंगे जनाकीर्ण आबादी पर ही/निरपराध, निर्दोष, निष्कलुष/बाल, वृद्ध, वनिताओं की ही जान जायगी···।" 'शान्त, निरीह नगर-ग्रामों' और 'खेतों, खानों, खलिहानों' पर गिरने वाले ये बम सभ्यता, संस्कृति, कला और मानव-आत्मा का ही ध्वंस करते हैं।[२] डॉ० धर्मवीर भारतीय के लिए इस विडम्बना से बचने की कोई सूरत नहीं है। चूँकि "दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा/दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन"[३] इसलिए युद्ध समाप्त हो जाने पर "जो अन्धायुग अवतरित हुआ जग पर/बीतता नहीं रह-रहकर दोहराता है।"[४] प्रहरी-१ और प्रहरी-२ के संवाद के माध्यम से वह निष्कर्ष देते हैं :

> "शासक बदले/स्थितियाँ बिल्कुल वैसी हैं/इससे तो पहले के ही
> शासक अच्छे थे/अन्धे थे···/···लेकिन वे शासन तो करते थे।"[५]

इस निरपेक्ष सन्तुलन से जो अनास्था और निरर्थकता उत्पन्न होती है वह मनुष्य को नियतिवादी बनाती है। प्रगतिशील कवि युद्ध और शान्ति की शक्तियों मे फर्क करते हैं। डॉ० सुमन समाजवादी चीन के उत्सगों की लाली में "सही व्यवस्था

---

१. 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत', पृ० २०३।
२. 'हंस', अक्टूबर, १९५०, पृ० ६।
३. 'अन्धायुग', पृ० ११।
४. उपर्युक्त, पृ० १३०।
५. उपर्युक्त, पृ० १०७।

का जर्जर कंकाल" असता इसलिए देखते हैं कि इस 'नयी जवानी नयी किस्म की खेती' में "टैंकों के बदले ट्रैक्टर मेहमान बन गये/अणुबम के बदले जन-जन के गान बन गये ।"[1] निर्माण और शान्ति की प्रेरणा के कारण ही 'नया चीन साम्राज्यवाद को नयी चुनौती' देता है ।

युद्ध अनिवार्यतः जन-विरोधी होता है । सभी देशों की जनता के युद्ध-विरोधी मूल्यों को शमशेर बहादुर सिंह ने 'अमन का राग' में प्रतिबिम्बित किया है :

> "मुझे अमरीका का लिबर्टी-स्टैचू उतना ही प्यारा है/जितना मास्को का लाल तारा ।/ और मेरे दिल में पेकिंग का स्वर्गीय महल/ मक्का-मदीना से कम पवित्र नहीं ।/मैं काशी में उन आर्यों का शंख-नाद सुनता हूँ/जो वोल्गा से आये/मेरी देहली में प्रह्लाद की तपस्याएँ दोनों दुनियाओं की चौखट पर/युद्ध के हिरण्यकश्यप को चीर रही हैं ।/यह कौन मेरी धरती की शान्ति की आत्मा पर कुरबान हो गया है ?"[2]—इत्यादि ।

देखना चाहिए कि शमशेर के लिए शान्ति और स्वतन्त्रता एक-दूसरे से जुड़े हैं । दोनों दुनियाओं की चौखट पर हिरण्यकश्यप का वध तटस्थ सन्तुलन नहीं है । अमरीका में लिबर्टी-स्टैचू से प्रेम की चयन-वृत्ति 'मास्को का लाल तारा' में नहीं है । लाल तारा समाजवाद का प्रतीक है और समाजवाद मुक्ति आन्दोलनों का मित्र है । दूसरों की स्वतन्त्रता का हरण करने वाला साम्राज्यवाद स्वतन्त्रता की मूर्ति नहीं माना जा सकता । लिबर्टी-स्टैचू अमरीकी जनता की मुक्ति भावना का प्रतीक है । यह संयोग की बात नहीं है कि प्रगतिशील कविता में समाजवादी जगत् को ही मुक्ति का प्रतीक माना गया है । नरेन्द्र शर्मा ने लाल रूस को सब मजदूर किसानों का धाम कहा और कहा :

> "फासिस्टी जिन्दों को धन कर लाल लाल सेना आयी
> ...दबी हुई चिनगारी भड़की आजादी के शोलों में
> देश-देश की जनता गरजी लाल फौज के गोलों में ।"[3]

---

१. 'विश्वास बढ़ता ही गया', पृ० १०३ ।
२. 'बाग्देशी', पृ० ११२ ।
३. 'लोकयुद्ध', ५ नवम्बर, १९४४, पृ० १० ।

द्वितीय विश्व युद्ध में 'दलितों की तीर्थभूमि' सोवियत संघ की विजय कामना की गयी क्योंकि वह मुक्ति-आन्दोलनों और शान्ति की शक्तियों का प्रतिनिधि था। मुक्तिबोध ने लिखा :

"लाल सोवियत देश कि नूतन मानवता की आग
दुनिया के मजलूमों का वह जलता एक चिराग।"[१]

यह चिराग भविष्य की आशा-आकांक्षा का प्रतीक था। स्वयं अपने देश में स्वतन्त्रता के बाद जिस नयी मानवता की स्थापना का स्वप्न प्रगतिशील शक्तियों ने देखा था, लाल सोवियत उसका भी प्रतीक था। इसलिए उसकी विजय और पराजय के साथ प्रगतिशील कवियों ने मानवता के भावी मूल्यों को जोड़कर देखा।

वर्तमान विश्व में प्रगतिशील कवियों ने अपने मुक्ति-संग्राम को साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति-संग्रामों और समाजवादी शक्तियों की संगति में देखा तथा दूसरी तरफ अपनी जातीय परम्पराओं के प्रगतिशील मूल्यों से जुड़कर अपने इतिहास, अपनी जनता और अपने नगर-ग्रामों में अपनी राष्ट्रीय चेतना को मूर्त किया।

प्राचीन संस्कृति और परम्पराओं में राष्ट्रीय अस्मिता की तलाश करते समय बहुधा साम्प्रदायिक हो जाने का खतरा रहता है। कुछ पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीय संघों की साम्प्रदायिक भावभूमि को देखते हुए इस खतरे के प्रति सजग होना आवश्यक हो जाता है। स्वयं को सांस्कृतिक कहने वाले एक राष्ट्रीय संघ के अनुसार भारत में "अंग्रेजी शासन से भी बहुत बड़ी दुःखद घटना" थी मुसलमानों का अस्तित्व।[२] इनके अनुसार दो हजार वर्षों का भारतीय इतिहास हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का इतिहास है। वे जिस हिन्दू राष्ट्र की रचना का संकल्प लेते हैं उसमें मुसलमानों का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है।[३]

कहना न होगा कि प्रगतिशील इतिहास-दृष्टि इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या के विरुद्ध है। उसके अनुसार हिन्दू-मुसलमानों में ऐसा वैर नहीं है। केदारनाथ अग्रवाल यह निर्द्वन्द्व घोषणा करते हैं कि—

---

१. 'लोकयुद्ध', ११ जून, १९४४, पृ० ८।
२. 'म० स० गोलवलकर' : 'विचार नवनीत', पृ० २८९।
३. विवरण के लिए दे० उपर्युक्त, पृ० १३१, १४८, १७२, २०२, २८९ इत्यादि।

"हिन्दू मुसलिम दोनों भाई/हिन्द देश में साथ रहेंगे/एक धून के दो पौधों से/दो फूलों-से साथ खिलेंगे।/ काँटों की सूनी के ऊपर/ चढ़ कर दोनों साथ हँसेंगे/सुन्दरतम संस्कृति से अपनी/ पूरे भारत में महकेंगे।"[1]

जिस समय ब्रिटिश शासन की नीति के फलस्वरूप पुनरुत्थानवादी शक्तियाँ प्राचीन इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों में विष बो रही थीं उस समय प्रगतिशील कवि इतिहास के उन पहलुओं को रेखांकित कर रहे थे जिनसे जनता में एकता और स्वतंत्रता का भाव जगे। 'कबीर-स्मृति' में विश्वम्भरनाथ ने धार्मिक पाखण्ड और साम्प्रदायिक वहशत के खिलाफ लिखा :

"मजहब क्या है, एक अनोखा सौदा है दाढ़ी चोटी का,
यही शोक है सोच न जाने कितनों की मक्खन रोटी का।"[2]

'महाराज शिवाजी का पत्र' में निराला ने 'मोगल' और 'हिन्दू' शब्दों का व्यवहार साम्प्रदायिक अर्थ में नहीं किया है, वरन् जातीय एकता के प्रश्न को उभार कर उन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति की भावना को दृढ़ करने का प्रयास किया है। इसीलिए शिवाजी अपने पत्र में जयसिंह को राजपूतों से मराठों के लिए धिक्कारते हैं और सलाह देते हैं कि "मिलो राजपूतों से, फेरो तुम दिल्ली गढ़।"[3] यदि निराला की दृष्टि साम्प्रदायिक होती तो 'जागो फिर एक बार' जैसी कविता वह कभी न लिखते। इसके पहले भाग में 'भारती-रति कवि-कण्ठ में' आती है।[4] कवि काल-बोध कराता है और जागरण का सन्देश देता है। दूसरे अंश में कवि जनता को उसकी शक्ति का अहसास कराता है। 'शेरों की मांद में आया है आज स्यार', अत्याचार के आगे असहाय खड़े रहने को 'मेषमाता' का आचरण कहता है और ऋषियों का महामन्त्र फूँकता है : "तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्/है नश्वर यह दीन भाव/कायरता, कामपरता/ब्रह्म हो तुम/पद-रज-भर भी है नहीं/पूरा यह विश्व भार।"[5]

---

१. 'हंस', जनवरी, १९४८।
२. उद्धृत, जून १९३८, पृ० ८४६।
३. 'परिमल', पृ० २२१।
४. उद्धृत, पृ० १८७।
५. उद्धृत, पृ० १८८-९०।

११

द्वितीय विश्व युद्ध में 'दलितों की तीर्थभूमि' सोवियत संघ की विजय कामना की गयी क्योंकि वह मुक्ति-आन्दोलनों और शान्ति की शक्तियों का प्रतिनिधि था। मुक्तिबोध ने लिखा :

"लाल सोवियत देश कि नूतन मानवता की आग
दुनिया के मजलूमों का वह जलता एक चिराग।"[1]

यह चिराग भविष्य की आशा-आकांक्षा का प्रतीक था। स्वयं अपने देश में स्वतन्त्रता के बाद जिस नयी मानवता की स्थापना का स्वप्न प्रगतिशील शक्तियो ने देखा था; लाल सोवियत उसका भी प्रतीक था। इसलिए उसकी विजय और पराजय के साथ प्रगतिशील कवियों ने मानवता के भावी मूल्यों को जोड़कर देखा।

वर्तमान विश्व में प्रगतिशील कवियों ने अपने मुक्ति-संग्राम को साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति-संग्रामों और समाजवादी शक्तियों की संगति में देखा तथा दूसरी तरफ अपनी जातीय परम्पराओं के प्रगतिशील मूल्यों से जुड़कर अपने इतिहास, अपनी जनता और अपने नगर-ग्रामों में अपनी राष्ट्रीय चेतना को मूर्त किया।

प्राचीन संस्कृति और परम्पराओं में राष्ट्रीय अस्मिता की तलाश करते समय बहुधा साम्प्रदायिक हो जाने का खतरा रहता है। कुछ पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीय संघों की साम्प्रदायिक भावभूमि को देखते हुए इस खतरे के प्रति सजग होना आवश्यक हो जाता है। स्वयं को सांस्कृतिक कहने वाले एक राष्ट्रीय संघ के अनुसार भारत में "अंग्रेजी शासन से भी बहुत बड़ी दुःखद घटना" थी मुसलमानों का अस्तित्व।[2] इनके अनुसार दो हजार वर्षों का भारतीय इतिहास हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का इतिहास है। वे जिस हिन्दू राष्ट्र की रचना का संकल्प लेते हैं उसमे मुसलमानों का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है।[3]

कहना न होगा कि प्रगतिशील इतिहास-दृष्टि इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या के विरुद्ध है। उसके अनुसार हिन्दू-मुसलमानों में ऐसा वैर नहीं है। केदारनाथ अग्रवाल यह निर्द्वन्द्व घोषणा करते हैं कि—

---

१. 'लोकयुद्ध', ११ जून, १९४४, पृ० ८।
२. 'म० स० गोलवलकर' : 'विचार नवनीत', पृ० ।
ण के लिए दे० उपर्युक्त, पृ० १३१, १ २, २८६ इत्यादि।

"हिन्दू मुसलिम दोनों भाई/हिन्द देश में साथ रहेंगे/एक सून के
दो पौधों के/दो फूलों-से साथ खिलेंगे।/ कांटों की शूली के ऊपर/
चढ़ कर दोनों साथ हँसेंगे/सुन्दरतम संस्कृति से अपनी/
पूरे भारत में महकेंगे।"[1]

जिस समय ब्रिटिश शासन की नीति के फलस्वरूप पुनरुत्थानवादी शक्तियाँ प्राचीन इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों में विष बो रही थीं उस समय प्रगतिशील कवि इतिहास के उन पहलुओं को रेखांकित कर रहे थे जिनसे जनता में एकता और स्वतंत्रता का भाव जगे। 'कबीर-स्मृति' में विश्वम्भरनाथ ने धार्मिक पाखण्ड और साम्प्रदायिक कट्टरता के खिलाफ लिखा :

"मजहब क्या है, एक अनोखा सौदा है दाढ़ी चोटी का,
यही खेद है सोच न जाने कितनों की मक्खन रोटी का।"[2]

'महाराज शिवाजी का पत्र' में निराला ने 'मोगल' और 'हिन्दू' शब्दों का व्यवहार साम्प्रदायिक अर्थ में नहीं किया है, वरन् जातीय एकता के प्रश्न को उभार कर उन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति की भावना को दृढ़ करने का प्रयास किया है। इसीलिए शिवाजी अपने पत्र में जयसिंह को राजपूतों से गद्दारी के लिए धिक्कारते हैं और सलाह देते हैं कि "मिलो राजपूतों से, घेरो तुम दिल्ली गढ़।"[3] यदि निराला की दृष्टि साम्प्रदायिक होती तो 'जागो फिर एक बार' जैसी कविता वह कभी न लिखते। इसके पहले भाग में 'भारती-रति कवि-कण्ठ में' आती है।[4] कवि काल-बोध कराता है और जागरण का सन्देश देता है। दूसरे अंश में कवि जनता को उसकी शक्ति का अहसास कराता है। 'शेरों की मांद में आया है आज स्यार', अत्याचार के आगे असहाय खड़े रहने को 'मेषमाता' का आचरण कहता है और ऋषियों का महामन्त्र फूंकता है : "तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्/है नश्वर यह दीन भाव/कायरता, कामपरता/ब्रह्म हो तुम/पद-रज-भर भी है नहीं/पूरा यह विश्व भार।"[5]

---

1. 'हंस', जनवरी, १९४८।
2. उपर्युक्त, जून १९४८, पृ० ८४६।
3. 'परिमल', पृ० २२१।
4. उपर्युक्त, पृ० १८७।
5. उपर्युक्त, पृ० १८८-९०।

द्वितीय विश्व युद्ध में 'दलितों की तीर्थभूमि' सोवियत संघ की विजय कामना की गयी क्योंकि वह मुक्ति-आन्दोलनों और शान्ति की शक्तियों का प्रतिनिधि था। मुक्तिबोध ने लिखा :

> "लाल सोवियत देश कि नूतन मानवता की आग
> दुनिया के मजलूमों का वह जलता एक चिराग।"[1]

यह चिराग भविष्य की आशा-आकांक्षा का प्रतीक था। स्वयं अपने देश में स्वतन्त्रता के बाद जिस नयी मानवता की स्थापना का स्वप्न प्रगतिशील शक्तियों ने देखा था, लाल सोवियत उसका भी प्रतीक था। इसलिए उसकी विजय और पराजय के साथ प्रगतिशील कवियों ने मानवता के भावी मूल्यों को जोड़कर देखा।

वर्तमान विश्व में प्रगतिशील कवियों ने अपने मुक्ति-संग्राम को साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति-संग्रामों और समाजवादी शक्तियों की संगति में देखा तथा दूसरी तरफ अपनी जातीय परम्पराओं के प्रगतिशील मूल्यों से जुड़कर अपने इतिहास, अपनी जनता और अपने नगर-ग्रामों में अपनी राष्ट्रीय चेतना को मूर्त किया।

प्राचीन संस्कृति और परम्पराओं में राष्ट्रीय अस्मिता की तलाश करते समय बहुधा साम्प्रदायिक हो जाने का खतरा रहता है। कुछ पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीय संघों की साम्प्रदायिक भावभूमि को देखते हुए इस खतरे के प्रति सजग होना आवश्यक हो जाता है। स्वयं को सांस्कृतिक कहने वाले एक राष्ट्रीय संघ के अनुसार भारत में "अंग्रेजी शासन से भी बहुत बड़ी दुःखद घटना" थी मुसलमानों का अस्तित्व।[2] इनके अनुसार दो हजार वर्षों का भारतीय इतिहास हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का इतिहास है। वे जिस हिन्दू राष्ट्र की रचना का संकल्प लेते हैं उसमें मुसलमानों का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है।[3]

कहना न होगा कि प्रगतिशील इतिहास-दृष्टि इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या के विरुद्ध है। उसके अनुसार हिन्दू-मुसलमानों में ऐसा वैर नहीं है। केदारनाथ अग्रवाल यह निर्द्वन्द्व घोषणा करते हैं कि—

---

१. 'लोकयुद्ध', ११ जून, १९४४, पृ० ८।

२. 'म० स० गोलवलकर' : 'विचार नवनीत', पृ० २८६।

३. विवरण के लिए दे० उपर्युक्त, पृ० १३१, १५८, १७२, २०२, २८६ इत्यादि।

"हिन्दू मुसलिम दोनों भाई/हिन्द देश में साथ रहेंगे/एक खून के
दो पौधों के/दो फूलों-से साथ खिलेंगे।/ काँटों की सूली के ऊपर/
चढ़ कर दोनों साथ हँसेंगे/सुन्दरतम संस्कृति से अपनी/
पूरे भारत में महकेंगे।"[१]

जिस समय ब्रिटिश शासन की नीति के फलस्वरूप पुनरुत्थानवादी शक्तियाँ प्राचीन इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों में विष बो रही थीं उस समय प्रगतिशील कवि इतिहास के उन पहलुओं को रेखांकित कर रहे थे जिनसे जनता में एकता और स्वतंत्रता का भाव जगे। 'कबीर-स्मृति' में विश्वम्भरनाथ ने धार्मिक पाखण्ड और साम्प्रदायिक बहुमत के खिलाफ लिखा :

"मजहब क्या है, एक अनोखा सौदा है दाढ़ी चोटी का,
यही क्षेत्र है स्रोत न जाने कितनों की मक्खन रोटी का।"[२]

'महाराज शिवाजी का पत्र' में निराला ने 'मोगल' और 'हिन्दू' प्रत्ययों का व्यवहार साम्प्रदायिक अर्थ में नहीं किया है, वरन् जातीय एकता के प्रश्न को उभार कर उन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति की भावना को दृढ़ करने का प्रयास किया है। इसीलिए शिवाजी अपने पत्र में जयसिंह को राजपूतों से गद्दारी के लिए धिक्कारते हैं और सलाह देते हैं कि "मिलो राजपूतों से, घेरो तुम दिल्ली गढ़।"[३] यदि निराला की दृष्टि साम्प्रदायिक होती तो 'जागो फिर एक बार' जैसी कविता वह कभी न लिखते। इसके पहले भाग में 'भारती-रति कवि-कण्ठ में' आती है।[४] कवि काल-बोध कराता है और जागरण का सन्देश देता है। दूसरे अंश में कवि जनता को उसकी शक्ति का अहसास कराता है। 'शेरों की माँद में आया है आज स्यार', अत्याचार के आगे असहाय खड़े रहने को 'मेषमाता' का आचरण कहता है और ऋषियों का महामन्त्र फूँकता है : "तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्/है नश्वर यह दीन भाव/कायरता, कामपरता/ब्रह्म हो तुम/पद-रज-भर भी है नहीं/पूरा यह विश्व भार।"[५]

---

१. 'हंस', जनवरी, १९४८।
२. उपर्युक्त, जून १९३८, पृ० ८४६।
३. 'परिमल', पृ० २२१।
४. उपर्युक्त, पृ० १८७।
५. उपर्युक्त, पृ० १८८-९०।

द्वितीय विश्व युद्ध में 'दलितों की तीर्थभूमि' सोवियत संघ की विजय कामना की गयी क्योंकि वह मुक्ति-आन्दोलनों और शान्ति की शक्तियों का प्रतिनिधि था। मुक्तिबोध ने लिखा :

"लाल सोवियत देश कि नूतन मानवता की आग
दुनिया के मजलूमों का वह जलता एक चिराग।"[१]

यह चिराग भविष्य की आशा-आकांक्षा का प्रतीक था। स्वयं अपने देश में स्वतन्त्रता के बाद जिस नयी मानवता की स्थापना का स्वप्न प्रगतिशील शक्तियों ने देखा था, लाल सोवियत उसका भी प्रतीक था। इसलिए उसकी विजय और पराजय के साथ प्रगतिशील कवियों ने मानवता के भावी मूल्यों को जोड़कर देखा।

वर्तमान विश्व मे प्रगतिशील कवियों ने अपने मुक्ति-संग्राम को साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति-संग्रामों और समाजवादी शक्तियों की संगति में देखा तथा दूसरी तरफ अपनी जातीय परम्पराओं के प्रगतिशील मूल्यों से जुड़कर अपने इतिहास, अपनी जनता और अपने नगर-ग्रामों मे अपनी राष्ट्रीय चेतना को मूर्त किया।

प्राचीन संस्कृति और परम्पराओं में राष्ट्रीय अस्मिता की तलाश करते समय बहुधा साम्प्रदायिक हो जाने का खतरा रहता है। कुछ पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीय संघो की साम्प्रदायिक भावभूमि को देखते हुए इस खतरे के प्रति सजग होना आवश्यक हो जाता है। स्वयं को सांस्कृतिक कहने वाले एक राष्ट्रीय संघ के अनुसार भारत मे "अंग्रेजी शासन से भी बहुत बड़ी दुःखद घटना" थी मुसलमानों का अस्तित्व।[२] इनके अनुसार दो हजार वर्षों का भारतीय इतिहास हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का इतिहास है। वे जिस हिन्दू राष्ट्र की रचना का संकल्प लेते हैं उसमें मुसलमानों का अस्तित्व स्वीकार नही किया गया है।[३]

कहना न होगा कि प्रगतिशील इतिहास-दृष्टि इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या के विरुद्ध है। उसके अनुसार हिन्दू-मुसलमानों में ऐसा वैर नहीं है। केदारनाथ अग्रवाल यह निर्द्वन्द्व घोषणा करते हैं कि—

---

१. 'लोकयुद्ध', ११ जून, १९४४, पृ० ८।

२. 'म० स० गोलवलकर' : 'विचार नवनीत', पृ० २८६।

३. विवरण के लिए दे० उपर्युक्त, पृ० १३१, १५८, १७२, २०२, २८६ इत्यादि।

"हिन्दू मुसलिम दोनों भाई/हिन्द देश में साथ रहेंगे/एक खून के
दो पौधों के/दो फूलों-से साथ खिलेंगे।/ काँटों की शूली के ऊपर/
चढ़ कर दोनों साथ हँसेंगे/सुन्दरतम संस्कृति से अपनी/
पूरे भारत में महकेंगे।"[1]

जिस समय ब्रिटिश शासन की नीति के फलस्वरूप पुनरुत्थानवादी शक्तियाँ प्राचीन इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों में विष बो रही थी उस समय प्रगतिशील कवि इतिहास के उन पहलुओं को रेखांकित कर रहे थे जिनसे जनता में एकता और स्वतंत्रता का भाव जगे। 'कबीर-स्मृति' में विश्वम्भरनाथ ने धार्मिक पाखण्ड और साम्प्रदायिक वहशत के खिलाफ लिखा :

"मजहब क्या है, एक अनोखा सौदा है दाढ़ी चोटी का,
यही क्षेत्र है स्रोत न जाने कितनों की मक्खन रोटी का।"[2]

'महाराज शिवाजी का पत्र' में निराला ने 'मोगल' और 'हिन्दू' प्रत्ययों का व्यवहार साम्प्रदायिक अर्थ में नहीं किया है, वरन् जातीय एकता के प्रश्न को उभार कर उन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति की भावना को दृढ़ करने का प्रयास किया है। इसीलिए शिवाजी अपने पत्र में जयसिंह को राजपूतों से गद्दारी के लिए धिक्कारते हैं और सलाह देते हैं कि "मिलो राजपूतों से, घेरो तुम दिल्ली गढ़।"[3] यदि निराला की दृष्टि साम्प्रदायिक होती तो 'जागो फिर एक बार' जैसी कविता वह कभी न लिखते। इसके पहले भाग में 'भारती-रति कवि-कण्ठ में' आती है।[4] कवि काल-बोध कराता है और जागरण का सन्देश देता है। दूसरे अंश में कवि जनता को उसकी शक्ति का अहसास कराता है। 'शेरों की माँद में आया है आज स्यार', अत्याचार के आगे असहाय खड़े रहने को 'मेषमाता' का आचरण कहता है और ऋषियों का महामन्त्र फूँकता है : "तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्/है नश्वर यह दीन भाव/कायरता, कामपरता/ब्रह्म हो तुम/पद-रज-भर भी है नहीं/पूरा यह विश्व भार।"[5]

---

१. 'हंस', जनवरी, १९४८।
२. उपर्युक्त, जून १९३८, पृ० ८४६।
३. 'परिमल', पृ० २२१।
४. उपर्युक्त, पृ० १८७।
५. उपर्युक्त, पृ० १८८-९०।

द्वितीय विश्व युद्ध मे 'दलितों की तीर्थभूमि' सोवियत सघ की विजय कामना की गयी क्योंकि वह मुक्ति-आन्दोलनों और शान्ति की शक्तियों का प्रतिनिधि था। मुक्तिबोध ने लिखा :

"लाल सोवियत देश कि नूतन मानवता की आग
दुनिया के मजलूमों का वह जलता एक चिराग।"[1]

यह चिराग भविष्य की आशा-आकांक्षा का प्रतीक था। स्वयं अपने देश में स्वतन्त्रता के बाद जिस नयी मानवता की स्थापना का स्वप्न प्रगतिशील शक्तियों ने देखा था, लाल सोवियत उसका भी प्रतीक था। इसलिए उसकी विजय और पराजय के साथ प्रगतिशील कवियों ने मानवता के भावी मूल्यों को जोड़कर देखा।

वर्तमान विश्व में प्रगतिशील कवियों ने अपने मुक्ति-संग्राम को साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति-संग्रामों और समाजवादी शक्तियों की संगति में देखा तथा दूसरी तरफ अपनी जातीय परम्पराओं के प्रगतिशील मूल्यों से जुड़कर अपने इतिहास, अपनी जनता और अपने नगर-ग्रामो मे अपनी राष्ट्रीय चेतना को मूर्त किया।

प्राचीन संस्कृति और परम्पराओं में राष्ट्रीय अस्मिता की तलाश करते समय बहुधा साम्प्रदायिक हो जाने का खतरा रहता है। कुछ पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीय संघों की साम्प्रदायिक भावभूमि को देखते हुए इस खतरे के प्रति सजग होना आवश्यक हो जाता है। स्वयं को सास्कृतिक कहने वाले एक राष्ट्रीय संघ के अनुसार भारत में "अंग्रेजी शासन से भी बहुत बडी दुःखद घटना" थी मुसलमानो का अस्तित्व।[2] इनके अनुसार दो हजार वर्षों का भारतीय इतिहास हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का इतिहास है। वे जिस हिन्दू राष्ट्र की रचना का संकल्प लेते हैं उसमे मुसलमानों का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है।[3]

कहना न होगा कि प्रगतिशील इतिहास-दृष्टि इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या के विरुद्ध है। उसके अनुसार हिन्दू-मुसलमानों में ऐसा वैर नहीं है। केदारनाथ अग्रवाल यह निर्द्वन्द्व घोषणा करते हैं कि—

---

१. 'लोकयुद्ध', ११ जून, १९४४, पृ० ८।
२. 'म० स० गोलवलकर' : 'विचार नवनीत', पृ० २८९।
३. विवरण के लिए दे० उपर्युक्त, पृ० १३१, १५८, १७२, २०२, २८९ इत्यादि।

"हिन्दू मुसलिम दोनों भाई/हिन्द देश में साथ रहेंगे/एक खून के
दो पौधों के/दो फूलों-से साथ खिलेंगे।/ काँटों की शूली के ऊपर/
चढ़ कर दोनों साथ हँसेंगे/सुन्दरतम संस्कृति से अपनी/
पूरे भारत में महकेंगे।"[१]

जिस समय ब्रिटिश शासन की नीति के फलस्वरूप पुनरुत्थानवादी शक्तियाँ प्राचीन इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों में विष बो रही थीं उस समय प्रगतिशील कवि इतिहास के उन पहलुओं को रेखांकित कर रहे थे जिनसे जनता में एकता और स्वतंत्रता का भाव जगे। 'कबीर-स्मृति' में विश्वम्भरनाथ ने धार्मिक पाखण्ड और साम्प्रदायिक वहशत के खिलाफ लिखा :

"मजहब क्या है, एक अनोखा सौदा है दाढ़ी चोटी का,
यही शेख है स्रोत न जाने कितनों की मक्खन रोटी का।"[२]

'महाराज शिवाजी का पत्र' में निराला ने 'मोगल' और 'हिन्दू' प्रत्ययों का व्यवहार साम्प्रदायिक अर्थ में नहीं किया है, वरन् जातीय एकता के प्रश्न को उभार कर उन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति की भावना को दृढ़ करने का प्रयास किया है। इसीलिए शिवाजी अपने पत्र में जयसिंह को राजपूतों से गद्दारी के लिए धिक्कारते हैं और सलाह देते हैं कि "मिलो राजपूतों से, घेरो तुम दिल्ली गढ़।"[३] यदि निराला की दृष्टि साम्प्रदायिक होती तो 'जागो फिर एक बार' जैसी कविता वह कभी न लिखते। इसके पहले भाग में 'भारती-रति कवि-कण्ठ में' आती है।[४] कवि काल-बोध कराता है और जागरण का सन्देश देता है। दूसरे अंश में कवि जनता को उसकी शक्ति का अहसास कराता है। 'शेरों की माँद में आया है आज स्यार', अत्याचार के आगे असहाय खड़े रहने को 'मेषमाता' का आचरण कहता है और ऋषियों का महामन्त्र फूँकता है : "तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्/है नश्वर यह दीन भाव/कायरता, कामपरता/ब्रह्म हो तुम/पद-रज-भर भी है नहीं/पूरा यह विश्व भार।"[५]

---

१. 'हंस', जनवरी, १९४८।
२. उपर्युक्त, जून १९३८, पृ० ८४६।
३. 'परिमल', पृ० २२१।
४. उपर्युक्त, पृ० १८७।
५. उपर्युक्त, पृ० १८८-९०।

कहने की जरूरत नही कि छायावाद की ही भाँति प्रगतिशील कविता ने भी स्वाधीनता संग्राम की मुख्य भावधारा से प्रेरित इतिहास-दृष्टि के कारण अपनी महान् संस्कृति मे अपनी अस्मिता खोजी। इतिहास-मन्थन से प्राप्त मूल्य प्राचीन दर्शन, साहित्य, सस्कृति आदि मे आत्म-गौरव को तदाकार करने के नाते मूलतः साम्राज्य-वाद-विरोधी हैं, साम्प्रदायिक नही।

"योग्य जन जीता है/पश्चिम की उक्ति नही/गीता है"

के माध्यम से निराला ने जनता को एकता और कर्मठता का सन्देश दिया। भारत-भूषण अग्रवाल ने 'महान् अकबर' के जीवन-चरित में साम्प्रदायिक एकता और मुक्ति चेतना को एक बिन्दु पर जोडा। अकबर की कथा 'शेरशाही आँधी' से जनता की रक्षा करने के नाते मुक्ति का सन्देश देती है और जनता की एकता को "सभी धर्मों का सत्य सार" बताती है। यही कारण है कि 'मरुस्थल का शिशु' होकर भी अकबर भारत की खुशहाली और हरियाली का प्रतीक बना।"[1]

साम्प्रदायिक और प्रगतिशील राष्ट्रीयता का यह बहुत बड़ा फर्क है। साम्प्रदायिक दृष्टि नस्ल या वर्ण के आधार पर संकीर्ण प्रवृत्तियों का प्रचार करती है। प्रगतिशील दृष्टि किसी भी प्रकार की संकीर्णता के आधार पर जनता को विभाजित करने का विरोध करती है क्योंकि यह विभाजन फूट डाल कर राज करने की साम्राज्यवादी कूटनीति पर आधारित है।

आजादी के बाद जब बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे आयोजित हुए तो शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने अत्यन्त विचारपूर्वक लिखा : "भाई की गरदन पर/भाई का तन गया दुधारा/सब झगड़े की जड़ है पुरखो के घर का बँटवारा।/एक अकड़ कर कहता—/अपने मन का हक ले लेंगे/और दूसरा कहता/तिल भर भूमि न बँटने देंगे।/पंच बना बैठा है घर में फूट डालने वाला,/मेरा देश जल रहा कोई नही बुझाने वाला।"[2]

यह कविता हिन्दू-मुस्लिम दंगों के मूल कारण को इंगित करती है, आजादी के चरित्र को उद्घाटित करती है और आजादी के नेताओं की भूमिका पर व्यग्य करती है। यह ऐसी आजादी थी कि अंग्रेज यहाँ से जाकर भी यहाँ के भाग्य-विधाता

---

१. 'संघर्ष', २५ दिसम्बर, १९३८, पृ० ८।
२. 'विश्वास बढता ही गया', पृ० ४६।

बने रहे, हम आजाद होकर भी अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन बने रहे। आजादी की इस विडम्बना पर व्यंग्य करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने १९५१ में लिखा, "भारत में अहिंसात्मक क्रान्ति हुए चार साल हो गये। क्रान्ति के नेताओं को गद्दी पर बैठे पाँच साल हो गये—क्रान्ति से पहले गद्दी पाना इस क्रान्ति की अहिंसात्मक विशेषता थी। यह क्रान्ति अंग्रेज साम्राज्यवादियों की पूरी रजामन्दी से हुई।"[1]

निस्सन्देह प्रगतिशील कवियों ने ऐसी आजादी का स्वप्न न देखा था। इस आजादी से जनता को निराशा, भूख, हिंसा, विभाजन के अलावा कुछ न मिला। इससे लाभ हुआ हिन्दुत्व के नाम पर अंग्रेजों की मदद करने वाले निहित स्वार्थों और भारतीय पूँजीपतियों-जमींदारों को। इस प्रकार की आजादी के विरुद्ध चेतावनी देते हुए १९३० में ही प्रेमचन्द 'हंस' के सम्पादकीय में कह चुके थे, "स्वराज्य की माँग गरीबों की माँग है, डोमीनियन गरीबों की कमाई पर मोटे होने वालों की।" जब उन्होंने देखा कि अनेक भारतीय नेता अंग्रेजों की 'चाल को समझ कर भी' उसके पक्ष में हैं तो लिखा, "हमारी लड़ाई केवल अंग्रेज सत्ताधारियों से नहीं, हिन्दुस्तानी सत्ताधारियों से भी है। हमें ऐसे लक्षण नजर आ रहे हैं कि ये दोनों सत्ताधारी इस अधार्मिक संग्राम में आपस में मिल जायेंगे और प्रजा को दबाने की कोशिश करेंगे।"[2]

यह सत्य है कि १९४७ से पहले मुख्य लड़ाई अंग्रेज शासकों के विरुद्ध थी और '४७ के बाद भारतीय शासकों के। किन्तु यह भी सत्य है कि '४७ से पहले प्रगतिशील लेखक कांग्रेस और उसके नेतृत्व में चलने वाले आन्दोलन की भूमिका और चरित्र के प्रति उदासीन न थे। आजादी मिलने के बाद भारतीय समाज के, और खासतौर पर स्वाधीनता आन्दोलन के अन्तर्विरोध अत्यन्त उग्र रूप में उभर आये। दिनकर ने 'भारत का यह रेशमी नगर' में अत्यन्त तल्खी से इस अन्तर्विरोध को चित्रित किया : "भारत धूलों से भरा आँसुओं से गीला/भारत अब भी व्याकुल विपत्ति के घेरे में।/दिल्ली में तो है खूब ज्योति की चहल-पहल/पर, भटक रहा है पूरा देश अँधेरे में।"[1] निहित स्वार्थों का समझौता हुआ और जनता की दुरवस्था की उपेक्षा हुई। इसलिए दिल्ली 'अनाचार, अपमान, व्यंग्य की चुभती हुई कहानी' बन गयी।

---

१. 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', पृ० १९२।
२. 'हंस', मार्च, १९३० (सम्पादकीय)।
१. 'चक्रवाल', पृ० ३१७।

यह अन्तर्विरोध जनता की आकांक्षाओं और उपलब्धियों के अन्तर्विरोध में व्यक्त हुआ। प्रगतिशील आन्दोलन मार्क्सवादी और अमार्क्सवादी राष्ट्रीय-जनवादी साहित्य प्रवृत्तियों का समवेत आन्दोलन था। आजादी के पहले इन भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के रचनाकारों में जो मतभेद पनप रहा था वह आजादी के बाद खुल कर सामने आ गया। इसी के साथ यह दूसरा तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि '४७ में आजाद होने से एक वर्ष पूर्व '४६ में कांग्रेस गद्दी पर बैठ गयी थी और गद्दी पर बैठने से एक वर्ष पूर्व—'४५ में उसने जबर्दस्त कम्युनिस्ट-विरोधी अभियान चलाया था। यदि इन तीनों घटनाओं में गम्भीर कार्य-कारण सम्बन्ध रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्रगतिशील आन्दोलन पर इसका असर यह पड़ा कि आजादी से पहले उग्र समाजवादी विचार रखने वाले अनेक लेखक आजादी के बाद समाजवाद और मार्क्सवाद से दूर हटने लगे।

मनुष्य के तिहरे शोषण का उग्र विरोध करने वाले गिरिजा कुमार माथुर ने आजादी के वर्ग-चरित्र को ही नहीं, विदेशी शत्रु से उसकी साठ-गाँठ को भी पर्दे की आड़ में ठेलते हुए लिखा : "ऊँची हुई मशाल हमारी/आगे कठिन डगर है/शत्रु हट गया लेकिन उसकी/छायाओं का डर है/शोषण से है मृत समाज/कमजोर हमारा घर है/किन्तु आ रही नयी जिन्दगी/यह विश्वास अमर है/जन गंगा के ज्वार/लहर तुम प्रवहमान रहना/पहरुए, सावधान रहना।"[1] इससे कुछ भिन्न स्वर में इसी प्रकार का उत्साह शील ने भी दिखाया : "आज देश में नयी भोर है/नयी भोर का समारोह है।/आज सिन्धु गर्वित प्राणों में/उमड़ रहा उत्साह।"[2] शील का यह भ्रम १६५१ तक भी नहीं टूटा था : "अभी मनोरथ की छाया में/होने को है शान्ति स्वयम्वर/अभी नयी भाषा के मुख पर/खिलने हैं चमकीले अक्षर।"[3]

मार्क्सवाद को कभी स्वीकार न करने वाले दिनकर ने रेशमी नगर की ज्योति भरी पहल-पहल और आँसू, धूल, विपत्ति से व्याकुल अन्धकारग्रस्त भारत के अन्तर्विरोध को तल्खी से पकड़ा, उसे वाणी दी; किन्तु मार्क्सवाद में आस्था रखने वाले माथुर और शील ने इस तरफ ध्यान नहीं दिया। अंग्रेजों से मिलीभगत करके शासन पाने वाली कांग्रेस में शत्रु की छायाएँ माथुर जी को नहीं दिखीं और वह

---

१. 'धूप के धान', पृ० ३६।
२. 'हंस', सितम्बर, १६४७, पृ० ८७५।
३. 'नया साहित्य,' अगस्त, १६५१।

नयी जिन्दगी के सूत्रपात का अमर विश्वास लेकर चले। शील १५ अगस्त की रात को ही 'नयी भोर' मान बैठे। संशोधनवादियों की तीव्र निन्दा करने वाले शील का यह भ्रम तेलंगाना के दमन के बाद भी बरकरार रहा। वे आस लगाये रहे कि अभी क्रान्ति-स्वयम्बर होगा, नयी भाषा के मुख पर चमकीले अक्षर खिलेंगे।

डॉ० रामविलास शर्मा ने "जनता की तरफदारी करने"[1] को प्रगतिशील होने की शर्त बताया है। जनता की तरफदारी का आशय जनता से केवल बौद्धिक सहानुभूति नहीं है, वरन् उसका आशय है जनता के साथ भागीदारी, उसके सुख-दुःख, जीवन-मरण में उससे प्रत्यक्ष सम्बन्ध। सम्बन्धों के इस स्तर और धरातल पर ही यह निर्भर है कि हम जनता के हितों, उसकी रुचियों-संस्कारों, उसके जीवन और संघर्षों को अपनी कला में किस अनुपात में प्रतिबिम्बित कर पाते हैं। जनता से घनिष्ठ सम्बन्ध न होने के कारण ही मार्क्सवाद से प्रभावित या कट्टर मार्क्सवादी होते हुए भी अनेक कवि आपत्काल में जनता की तरफदारी छोड़ कर रेशमी नगर की चमक-दमक में भटक गये और मार्क्सवाद से दूर रहते हुए भी अनेक कवि आजादी का स्वागत करते हुए भी वास्तविकताओं को अत्यन्त गम्भीरता से व्यक्त कर सके।

यह आशय नहीं कि मार्क्सवादी कवि कम्युनिस्ट पार्टी की इस नीति के बावजूद भ्रमित रहे कि 'देश की जनता भूखी है, यह आजादी झूठी है।' कुछ कवियों ने तो पार्टी की नीति को ही शब्दान्तर से पद्यबद्ध किया : 'हृदे से पानी से बुझने वाली किसकी यही तृषा, पहिले से ही गरजने वाली यह आजादी मृषा-मृषा'। (प्रभाकर माचवे) किन्तु अधिकांश कवियों ने भारतीय जीवन के मटमैले चित्रों और सत्ता की मोह-दीवारों पर अंकित स्वप्निल रंगों का अन्तर्विरोध उजागर किया। रानी एलिजाबेथ के आने पर नागार्जुन ने पार्टी की नीति को अत्यन्त कलात्मक अभिव्यक्ति दी : 'आओ रानी हम ढोएँगे पालकी/यही हुई है राय जवाहरलाल की।' जनता के कन्धे पर देशी शासन का बोझ और विदेशी शासकों से उसकी मिलीभगत—दोनों बातें इन पंक्तियों से ध्वनित होती हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने आरम्भिक दौर में ही कांग्रेस के पूरे चरित्र को देखते हुए आने वाली विपदाओं का संकेत किया : 'वामपंथु-सी कांग्रेस अब/गुरगा जैसा मुँह बाये है। शासन के अधिकारी नेता/डायर की वर्दी पहने हैं।'"[2]

---

1. 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', पृ० २५।
2. 'हंस', जुलाई, १९४८, पृ० ६३१।

स्वदेशी शासकों ने विदेशी शासकों से गँठजोड़ और उनकी नीतियों का अनुसरण इसलिए किया कि दोनों के हित पूँजीवादी उत्पादन और व्यापार से जुड़े थे और साधारण मजदूर किसानों के हितों से इन हितों का टकराव था। अतएव स्वातंत्र्योत्तर प्रगतिशील कवियों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे आततायी सत्ता के विरुद्ध अपने देश की साधारण जनता से अधिकाधिक जुड़ें और अपनी देशभक्ति को साधारण जन के साथ परिभाषित करें। मुक्तिबोध ने आततायी सत्ता का त्रास अनुभव किया : "भयानक चेहरे घेरते है मुझको/मैं आततायी सत्ता के सम्मुख···।"[१] इसके बाद दमन का चित्रण है। यह सत्ता उनकी कविता में अँधेरे का प्रतीक बनी और इस अँधेरे के विरुद्ध उन्होंने जनता में, उसके कर्म और भविष्य में गहन आस्था व्यक्त की।

धूमिल ने तमाम शिल्प-चमत्कार के बावजूद आजाद भारत की इस विसंगति को उभारा : "जहाँ पसीना पाप से अधिक बदबू/देता है/अपना हाथ खोकर/चिमनी के नीचे खड़ा है मजूर ··।"[२] पाप को छिपाने और मेहनत से घृणा करने वाली व्यवस्था को आमूल बदलने की चेष्टा भी परवर्ती काव्य में व्यक्त हुई। स्वयं धूमिल ने भविष्य की दिशा का संकेत देते हुए 'देश प्रेम : मेरे लिए' कविता में लिखा : "मैंने भी नक्शे के ऊपर/लाल कलम से जगह घेर दी/और उसी सीमा के भीतर/अपने घायल कबूतरों को/फिर से उड़ना सिखा रहा हूँ।"[३]

प्रगतिशील कविता की देशभक्ति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू है अपने गाँव और जनपद से प्रेम। यह प्रेम संकीर्ण या साम्प्रदायिक न होकर सांस्कृतिक इयत्ता से सम्बद्ध है। नागार्जुन ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'सिन्दूर तिलकित भाल' मे लिखा है : "हो गया हूँ मैं नहीं पाषाण/जिसको डाल दे कोई कही भी/करेगा वह कभी कुछ न विरोध।/यहाँ भी, सच है, न मैं असहाय/यहाँ भी हैं व्यक्ति औ' समुदाय/किन्तु जीवन भर रहूँ फिर भी प्रवासी ही कहेंगे हाय।"[४] केदार, रामविलास, त्रिलोचन आदि अधिकाश प्रगतिशील कवियों ने अपने ग्राम, जनपद, उसके रीति-रिवाजों आदि को अपनी कविता मे व्यक्त किया है। दशहरा, दीपावली, होली आदि

---

१. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० २६३।
२. 'संसद् से सड़क तक', पृ० ६६।
३. 'कल सुनना मुझे', पृ० १५।
४. 'सतरंगे पंखों वाली', पृ० ४५-४६।

तिथि-त्योहार भी प्रगतिशील कविता की जन-सम्बद्धता को प्रमाणित करते हैं। धारसीप्रसाद सिंह यदि 'मिल कर आज सभी जन गाओ/भर भर रंग अबीर उड़ाओ'[1] आदि के माध्यम से सांस्कृतिक पर्व के उल्लास को चित्रित करते हैं तो 'दूर-दूर कनक धूलि खुरों से उड़ाती हुई/आती है साँझ कजरी गाय-सी रँभाती हुई।'[2] के माध्यम से नरेन्द्र शर्मा अपने गाँव से अनुराग व्यक्त करते हैं।

नामवर सिंह के अनुसार, "पहले की देशभक्ति सामान्योन्मुखी थी तो प्रगतिशील युग की देशभक्ति विशेषोन्मुख है और इसीलिए अधिक ठोस और वास्तविक है; यह विशेष के भीतर से सामान्य को प्रकट करती है।"[3]

इस प्रकार, प्रगतिशील कविता की राष्ट्रीयता का द्वन्द्वात्मक स्वरूप विशेष और सामान्य के धरातलों पर व्यक्त हुआ है। एक ओर अपनी राष्ट्रीय चिन्ताओं और सरोकारों को वह विश्व की सामान्य परिस्थितियों के सन्दर्भों से जोड़ कर देखती है और दूसरी ओर अपने गाँव-कस्बे से, अपने सहकर्मियों और देशवासियों से तथा अपनी जातीय परम्पराओं-उत्सवों आदि से जुड़कर अपनी देशभक्ति को मूर्त करती है। इसीलिए प्रगतिशील कविता के राष्ट्रीय मूल्य न संकीर्णता की दिशा में जाते हैं और न साम्प्रदायिकता की।

---

१. 'संचयिता', पृ० ३६।
२. 'अग्निशस्य', पृ० १२१।
३. 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', पृ० ८६।

# नारी और प्रेम सम्बन्धी मूल्य

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मार्क्सवाद केवल आर्थिक सम्बन्धों का दर्शन है। वह प्रेम आदि भावों का तिरस्कार करता है। ये विद्वान् मार्क्सवाद को सम्पूर्ण मानव-सम्बन्धों की व्यापक भावभूमि पर पहुँचाने के लिए अस्तित्ववाद, खासकर फ्रायडवाद से उसके समन्वय पर जोर देते हैं। फ्रायड के दर्शन के बारे में प्रायः सभी विद्वान् एकमत हैं कि फ्रायड जिस 'लिबिडो' को जीवन की मूल वृत्ति बताते हैं उसे केवल काम-भावना तक संकुचित कर देते हैं। इसीलिए फ्रायड की परम्परा के विद्वानों ने भी 'लिबिडो' को व्यापक जीवन-ऊर्जा के अर्थ में व्याख्यायित करना आवश्यक समझा।

मार्क्सवाद को केवल आर्थिक और फ्रायडवाद को जीवन के शेष सभी पक्षों का दर्शन मानने वाले विद्वानों की राय में काम-सम्बन्धी अभिलाषाएँ ही प्रायः सम्पूर्ण जीवन-सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करती हैं। इस प्रकार ये विद्वान् काम-सम्बन्धी चिन्ताओं को जीवन की मूल केन्द्रीय वृत्ति मानते नजर आते हैं। 'आधुनिक काव्य के आलोचक' शीर्षक निबन्ध में डॉ० नगेन्द्र ने नैतिक और सांस्कृतिक स्रोतों से छायावाद का उद्गम मानने के कारण आचार्य शुक्ल, जयशंकर प्रसाद और नन्ददुलारे वाजपेयी आदि सब की आलोचना की है। वाजपेयी जी की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा, "उनके विवेचन में यह दोष था कि"' उन्होंने छायावाद की अधिकांश मूल प्रवृत्तियों का उद्गम प्रसाद जी की तरह भारतीय दर्शन को ही माना, विदेशी रोमाण्टिक स्कूल और इस युग की सामाजिक कुण्ठाओं का (विशेषकर सेक्स-सम्बन्धी) प्रभाव वे उचित मात्रा में स्वीकार न कर सके।"[1] कहने की जरूरत नहीं कि सेक्स-

१. 'हंस', अक्टूबर, १९४१।

सम्बन्धी कुण्ठाओं को आधुनिक युग की मुख्य सामाजिक समस्या के रूप में देखने के नाते डॉ० नगेन्द्र आधुनिक काव्य का उद्‌गम इसी वृत्ति-विशेष अथवा कुण्ठा-विशेष को मानते हैं।

आगे चलकर प्रगतिवाद सम्बन्धी अपने मूल्यांकन में वह बताते हैं : "पहले प्रकृत भावनाओं का संयम, दमन और गोपन ही उनका परिष्कार माना जाता था, परन्तु फ्रायड ने दमन और गोपन का पर्दा फाड़ कर उसकी तह में छिपी हुई कुरसाओं का प्रदर्शन किया। अतएव प्रगतिवादी स्वस्थ मानव-वृत्तियों को—जिनमें मुख्य क्षुधा और काम हैं—प्रकृत रूप में व्यक्त करने से नहीं घबराता।"[1] अर्थात् प्रगतिशील कविता में प्रेम आदि से सम्बन्धित विषय फ्रायड के युगान्तरकारी प्रभाव से समाविष्ट हुए हैं और वह भी 'संयम, दमन और गोपन' के परिष्कार में नहीं, प्रकृत, अर्थात् नग्न, कुत्सित रूप में।

प्रगतिशील कविता के बारे में डॉ० नगेन्द्र की इस मान्यता का आधार हैं कवि अंचल। अंचल जी पर अपने स्वतन्त्र निबन्ध में डॉ० नगेन्द्र ने उनकी प्रगतिशीलता की सबसे अधिक प्रशंसा करते हुए उसका आधार इन शब्दों में बताया है, "यौन सम्बन्धों की विषमता ही उन्हें अर्थ-सम्बन्धों की विषमता तक ले गयी है। ...अंचल जी की दुनिया में सबसे बड़ी मजलूम नारी है और इन जुल्मों का अन्त करने के लिए भी उसने नारी की ही भैरव मूर्ति का आह्वान किया है।"[2]

नारी युगों से प्रताड़ित है यह सच है। उसकी प्रताड़ना मुख्यतः पुरुष द्वारा ही हुई है, यह और भी सच है। किन्तु इस ताड़ना का कारण सामाजिक सम्बन्धों की विषमता में न खोज कर यौन सम्बन्धों की विषमता में खोजने पर हम भाव-वाद के शिकार होते हैं। अंचल जी के नारी-विषयक दृष्टिकोण की मुख्य असंगति यह है कि वे नारी-पराधीनता को इतिहास से विच्छिन्न करके देखते हैं। वे गुणात्मक धरातल पर यह स्वीकार नहीं करते कि नारी की पराधीनता के बीज व्यक्तिगत स्वामित्वमूलक सम्पत्ति में निहित हैं; इसलिए नारी की स्वाधीनता का प्रश्न निरपेक्ष या एकांगी न होकर समस्त मुक्तिकामी शक्तियों से जुड़ा है। वह केवल नारी पर होने वाले अत्याचारों से मुक्ति के लिए नहीं, सभी प्रकार के जुल्मों का अन्त करने के लिए नारी की भैरव मूर्ति का आह्वान करते हैं। फ्रायड के काम-

---

१. 'आस्था के चरण', पृ० २६६-७।
२. उपर्युक्त, पृ० ४२८।

कुण्ठावादी दर्शन पर आधारित व्याख्या के कारण डॉ० नगेन्द्र इस प्रगतिशीलता की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते हैं।

जहाँ अंचल जी नारी के उत्पीड़न को सामाजिक विषमताओं के सन्दर्भ में देखते हैं वहाँ उनके स्वर मे मानवीय करुणा और कला में गम्भीर यथार्थवाद के दर्शन होते हैं। 'शोषिता' की नायिका एक ऐसी स्त्री है जिसका पति परदेश में मजूरी करता है। सीमित आमदनी और पुश्तैनी कर्ज का फासला इतना अधिक है कि वह पनघट पर मौन खड़ी सोच रही है :

"घर के बिकते ही बन जाना होगा पेड़ तले की वासी"[1]

वह 'अपने निर्मोही की प्यासी' प्रेम की सच्ची अनुभूति को सामाजिक विषमताओं के आगे विवश टूटते हुए देखती है। किन्तु अचल की कविताओं मे यह संयत यथार्थवाद कम ही है। 'खोल दिया अवगुण्ठन मेरा जब तब लाज कहाँ की/दरस-परस के बाद अभी तो सारा सुख है बाकी।' जैसी बन्द कमरे वाली कविताओं मे ही प्रेम का वासनार्गभित रूप नहीं खुलता, वरन् 'अन्तिम भेंट' जैसे मार्मिक विषय की कविता मे भी उसका मोह नहीं टूटता। 'समझा रहा दु.ख जीवन मे एक मंत्र ही जपना/रहे भूमि से ऊपर मेरे दीपक की अरुणाई'[2] के माध्यम से वह अपने पूर्व-प्रेमी के प्रति नव-विवाहिता के भाव को उदात्त बनाने की चेष्टा करते हैं ; किन्तु 'दरस-परस' के सुखों की मादकता के कारण यह कविता भी सामाजिक व्यंग्य न बन कर पिछली भावुकता मे परिणत होती है। यह भावुकता भी ऐसी कि विवाह से पूर्व ही विवाहित हो चुकने का बोध कराये : "मेरे आँचल मे तेरी साँसो का स्वर भर आता—/मधुर जागरण, मादक निद्रा की वे क्वाँरी रातें/आज शिथिल बाँहों के बन्धन चुम्बन मंत्र न गाते।"[3] इत्यादि।

अंचल जी की प्रणय-नैतिकता का स्वरूप प्रगतिशील प्रेम-मूल्यों से कितना भिन्न है इसे 'नींद के बादल' मे कही गयी केदारनाथ अग्रवाल की इन पंक्तियों से तुलना करके आसानी से समझा जा सकता है :

"जिस दिन, जिस क्षण, जिस साइत में, मेरा पाणिग्रहण हुआ।
एक अलौकिक पूर्ण सुन्दरी का उर मे आगमन हुआ।

---

१. 'आधुनिक कवि ११, (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), पृ० ११।
२. 'वाग्देवी', पृ० ३६८।
३. उपर्युक्त, पृ० ३६७।

दुपटे चुनरी का गँठबन्धन मेरा जीवन-वरण हुआ ।
प्रथम प्रेम का वह मेरा दिन, अमर मधुर संस्मरण हुआ ।"[1]

अंचल के यहाँ 'अन्तिम भेंट' है, केदार के यहाँ 'प्रथम प्रेम का दिन।' अंचल के यहाँ 'मादक निद्रा', 'शिथिल बाँहों के बन्धन', 'चुम्बन मंत्र' आदि का इतना प्रबल प्रवाह है कि 'क्वाँरी रातें' का सायास प्रयोग भी इसकी विश्वसनीयता प्रमाणित नहीं होने देता। विवाह से पूर्व प्रेम अनैतिक नहीं है। अनैतिक है 'दरस-परस' की मादकता में उन भौतिक परिस्थितियों को नजरन्दाज करना जो दो प्रेमियों को आपस में मिलने नहीं देतीं। केदार की दृष्टि इससे भिन्न है। वह अन्तिम भेंट के अवसर पर 'दुपटे-चुनरी का गँठबन्धन' नहीं कराते, बल्कि पाणिग्रहण के अवसर पर 'एक अलौकिक पूर्ण सुन्दरी का उर में आगमन' अनुभव करते हैं। सुख और सुखवाद में यही अन्तर है।

प्रगतिशील काव्य का स्वर स्वस्थ है क्योंकि उसमें अमर्यादित और देश-काल-निरपेक्ष प्रेम की व्यंजना नहीं है। ऐतिहासिक सन्दर्भों में देखने के नाते प्रगतिशील काव्य में प्रेम सहज वृत्ति से अधिक एक मानवीय मूल्य के रूप में व्यक्त हुआ है। प्रेम का भाव हमारे समूचे मानवीय विकास की उपलब्धि है। मनुष्येतर प्राणियों में यह वृत्ति अधिक-से-अधिक आकर्षण के स्तर तक विकसित हुई है, उसने भावना का रूप ग्रहण नहीं किया है। इसीलिए पंत जी जब कहते हैं कि 'कामेच्छा प्रेमेच्छा बन कर हो जाती मनुजोचित'[2] तो वह वस्तुतः अन्य सौन्दर्य-मूल्यों की ही भाँति प्रेम के मूल्य को भी मानव-विशिष्ट (उदात्त) सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

नगेन्द्र के ऊपर उल्लिखित वक्तव्य से यह भी प्रकट होता है कि फ्रायड के प्रभाव से प्रगतिशील कविता में 'संयम, दमन और गोपन' के स्थान पर 'प्रकृत' अभि-व्यक्ति का आग्रह उत्पन्न हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि प्रगतिशील काव्य में अनावश्यक गोपन की प्रवृत्ति नहीं है। उदाहरण के लिए, विकासों का विकासशाला विधि देख कर केदार ने लिखा :

"सम्भोग की मुद्रा में/नग्न खड़े हैं/खुले आम
नर और नारी/एक दूसरे में लिप्त/ परदा तोड़े
नये युग में/ नयी सन्तान/ पैदा करने के लिए।"[3]

---

१. 'गुलमेंहदी', पृ० ७४।
२. 'सुमित्रानन्दन पंत ग्रन्थावली २', (युगवाणी), पृ० १००।
३. 'आग का आईना', पृ० ११।

यह सम्भवतः सबसे 'प्रकृत' चित्रण है। किन्तु नये युग में नयी सन्तान पैदा करने के लिए यह परदा तोड़ा गया है। 'खजुराहो के मन्दिर'[1] में भी कहीं-कहीं यह परदा टूटा है। किन्तु वह भी फ्रायड के कुत्सा प्रेम को धारण करने के लिए नहीं, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के पवित्र सार्वलौकिक स्वरूप की शक्ति व्यंजित करने के लिए। और, केदार की ही इन पंक्तियों में कि 'मैं गया हूँ डूब/इतना डूब/तेरे बाहुओं में/लोचनों में/कुंतलों में/ गिरि गया है डूब/जितना/ सिन्धु में सम्पूर्ण/सदियों पूर्व/और अब भी/मग्न है बेऊब।'[2] संयम और गोपन की प्रवृत्ति है, इसलिए यह 'प्रकृत' अभिव्यक्ति नहीं हुई। फ्रायड के प्रभाव के लिए काम की कुण्ठा और अभिव्यक्ति का संयम-गोपन रहित होना—दोनों आवश्यक हैं। अंचल जी में इसके उदाहरण मिलते हैं। 'अन्तर्गीत' में उन्होंने लिखा :

"वह जवानी की जलन वह रक्त की प्रतिमा गुलाली,
जब हमीं तुम थे यहाँ सौन्दर्य पुञ्जों में अकेले...
...एक यौवन मच गया था रंग गया नभ लालसा से
नग्न ऊषा थी अकम्पित मुक्त उच्छल वासना से।"[3]

स्पष्टतः अंचल के काव्य में प्रेमेच्छा से अधिक जोर कामेच्छा पर ही है। इसी कारण उनका प्रणय-बोध प्रगतिशील क्या, सामान्यतः मानवीय भी नहीं पाता। सम्भवतः इसी प्रकार के 'यौवन मचाने' वाले प्रयोगों को देखकर कुछ विद्वान् प्रगतिशील काव्य में फ्रायड का प्रभाव मानने लगते हैं।

प्रगतिशील काव्य-बोध और अंचल के प्रणय-बोध में जमीन-आसमान का अन्तर है। प्रगतिशील कवि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने के नाते सामाजिक विषमताओं को नारी-पराधीनता और प्रेम के अवमूल्यन का कारण मानते हैं। अंचल की यात्रा उलटी है। वे यौन सम्बन्धों की विषमता से समाज की विषमता तक पहुँचते हैं। इसीलिए उनमें यौन-सम्बन्धों को चित्रित करने का आग्रह अधिक है, प्रेम-सम्बन्धों और स्त्री-पुरुष की विषमताओं के सामाजिक कारणों को चित्रित करने का कम। जबकि प्रगतिशील कवियों ने यौन-सम्बन्धों को प्रेम-सम्बन्धों का एक अत्यन्त सीमित क्षेत्र माना है और प्रेम-सम्बन्धों के वैपरीत्य का कारण माना है सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर आधारित समाज को।

१. 'फूल नहीं, रंग बोलते हैं', पृ० १६६-२००।
२. 'गुलमेंहदी', पृ० १७८।
३. 'हंस', फरवरी, १९३८, पृ० ४१६।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के दो धरातल हैं, पहला वैयक्तिक जो काफी हद तक स्थायी है और दूसरा सामाजिक जो परिस्थितियों के साथ बदलता रहता है। सामाजिक साहचर्य के क्रम में व्यक्तिनिष्ठ प्रेम का उदय एक स्वाभाविक प्रक्रिया थी। किन्तु मातृसत्तात्मक समाज के स्थान पर पितृसत्तात्मक समाज के आविर्भाव का कारण थी व्यक्तिगत सम्पत्ति। दास समाज के सुलभ विवरणों से यह पता चलता है कि दास-दासियाँ भी जमीन और पशु-पक्षियों की भाँति स्वामी की सम्पत्ति होते थे जिन्हें वह बेचता-खरीदता था। मातृत्व धर्म के कारण स्त्री भी अनेक भौतिक सीमाएँ बँध जाती हैं। डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में, कबायली समाज टूटने और नया श्रम-विभाजन लागू होने पर "स्त्री-पुरुष में छोटे बड़े का भेद उत्पन्न होता है। स्त्री घर का काम करती है, पुरुष बाहर का काम करता है। सम्पत्ति का स्वामी पुरुष होता है, वह युद्ध करता है, शास्त्र रचता है, व्यापार करता है, स्वभावतः उसके काम के आगे स्त्री का घरेलू काम छोटा लगता है। शूद्रों में, जहाँ स्त्री पुरुष के साथ काम करती है, वह द्विजवर्ण की देवियों की तुलना में अधिक समर्थ होती है।"[1] सामन्ती व्यवस्था जिस अनुपात में अधिक मूलबद्ध और दीर्घकालिक होगी, नारी की पराधीनता भी उतनी अधिक होगी। स्वयं हमारे देश में सभी जगह नारियाँ समान रूप से पराधीन नहीं हैं। इसलिए प्रगतिशील कवियों ने नारी मुक्ति के लिए दो मार्ग अपनाये। पहला, सामाजिक जीवन में अपने साथ उन्हें सहभागी बनने को प्रेरित किया, और दूसरा सामाजिक विषमताओं का अन्त करके समता पर आधारित नये समाज की रचना का आदर्श अपनाया। सामाजिक अन्तर्विरोधों से नारी की पीड़ाओं का सम्बन्ध देखते हुए विद्यावती कोकिल ने 'प्रश्न' किया :

> "खेतों की आग बुझाऊँ या सीचूँ मधुवन की वल्लरियाँ
> पगडण्डी के काँटे बीनूँ या राजपथों की पंखुरियाँ
> तुमसे वर माँगूँ या तेरे अभिशापों का उपचार करूँ
> या केवल तुमसे प्यार करूँ ?"[2]

गहन दायित्व-बोध से युक्त प्रगतिशील कविता में यह द्वन्द्वात्मक विवेक आद्यन्त विद्यमान है। इसीलिए प्रगतिशील कविता का स्वर काम-कुण्ठावाद से पृथक्, सामाजिक सन्दर्भों से जुड़ा रहता है। इतिहास का यह दबाव ऐसा है कि प्रगतिशील धारा से

---

१. 'निराला की साहित्य साधना', भाग-२, पृ० ३५।
२. 'हंस', फरवरी, १९३९, पृ० ४४६।

तटस्थ रहते हुए भी रघुवीर सहाय ने लिखा, "माधवी/(या और भी जो कुछ तुम्हारे नाम हों''') तुम एक ही दुःख दे सकी थीं/फिर भला ये और सब कितने दिये हैं ?/ जो मुझे हैं और दु.ख, वे तुम्हें भी तो हैं।"[१] इस प्रश्न का जवाब प्रगतिशील कविता में है। 'लाल निशान' कविता मे नरेन्द्र शर्मा ने इसका उत्तर इन शब्दों में दिया है :

> "ऊँच-नीच का भेद गलत है, क्या है अमीरी, क्या गुरबत है।
> वह आजाद समाज बनाओ, सभी जिओ, सब ही सुख पाओ।"[२]

जब तक ऊँच-नीच और अमीरी-गरीबी का भेद रहेगा तब तक स्त्री-पुरुष की वास्तविक समानता स्थापित नही हो सकती और प्रेम एवं नारी सम्बन्धी स्वस्थ और अस्वस्थ दृष्टियाँ भी समाप्त नही हो सकती। हम जानते है कि सामन्त युग में स्त्रियों को दरबारो, अन्त.पुरों मे कैद करके एकान्त भोग का विषय बनाया जाता था तो पूँजीवादी युग मे उन्हे बाजार मे विज्ञापित होने की वस्तु बना दिया गया है। वर्ग-भेद या आधारित समाज मे नारी की गरिमा की रक्षा सम्भव नही है।

इस विडम्बना को समझ कर प्रगतिशील कवि सामन्ती और पूँजीवादी प्रेम-दृष्टियों का निषेध करता है और बदले मे स्वस्थ, मानवीय प्रेम-दृष्टि का विकास करता है। त्रिलोचन शास्त्री ने 'हँसता है अकाल' में दो भिन्न जीवन-स्थितियों से उत्पन्न दो विरोधी चिन्ताओं का चित्र अंकित करते हुए अवकाशभोगी वर्ग के प्रणय-मूल्यों पर सशक्त व्यंग्य किया। तारों के दाँत निकाले अट्टहास करते अकाल को देखकर किसान उद्विग्न होता है; उधर बाप-दादो की सम्पत्ति पर गुलछर्रे उड़ाता प्रेमी 'हरे कुन्ज मे' प्रेमिका को आमंत्रित करता है। काली रात मे तारो की टिमटिमाहट में 'कण्ट्रास्ट' की तकनीक से त्रिलोचन ने भयावहता का प्रभाव व्यंजित किया; अकाल के अट्टहास और हरे कुन्ज के 'कण्ट्रास्ट' से भिन्न आर्थिक हैसियत वाले व्यक्तियों की भिन्न चिन्ताओं का विश्वसनीय प्रभाव डालने की आधारभूमि तैयार की। वह मौज-मस्ती मे जीने वाला प्रेमी आहें भरता है। कवि कहता है :

> "· खेतों की हरियाली
> रहे न रहे उसे क्या / उसका खाना-पीना
> चल जाता है, फिर क्या/उसको कभी पसीना
> नहीं गिराना पड़ा, बजी बाँसुरी निराली।"[३]

---

१. उद्धृत : नामवर सिंह; 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', पृ० १००।
२. 'हंस', अप्रैल, १६४२, पृ० ७१६।
३. 'हंस', १६४२, पृ० ३६।

यह कहा जा सकता है कि छन्द की सीमा के कारण व्यंग्य में तीक्ष्णता नहीं आ सकी है। किन्तु कविता अपना अभीप्सित अर्थ पूरी स्पष्टता से सम्प्रेषित करती है, यह इसकी विशेषता है। इसी प्रकार 'एक मित्र को पत्र' में नागार्जुन भी पुरखों की जोड़ी सम्पत्ति होने पर *'प्रथमा, द्वितीया या तृतीया (प्रेयसी) को'* याद करने की कल्पना करते हैं।[१]

*अवकाशभोगी प्रणय* वृत्ति पर प्रगतिशील कवियों के इस व्यंग्य से स्पष्ट है कि ये प्रेम को इतना समाज-निरपेक्ष नहीं मानते। निराला के गीत *"प्रिय के हाथ लगाये जागी, ऐसी मैं सो गयी अभागी"* में रागात्मक प्रगाढ़ता और सामाजिक सन्दर्भों का अद्भुत परिपाक है। इसमें 'हरसिंगार के फूल झर गये, कनक रश्मि से द्वार भर गये' के प्राकृतिक उपादान ही प्रणय नुभूति को सघन नहीं बनाते बल्कि "शिशु गण अपने पाठ हुए रत/गृही निपुण गृह के कर्मों रत/गृहिणी स्नान, ध्यान को उद्यत/भिक्षुक ने घर भिक्षा माँगी।"[२] के कार्यकलाप भी व्यक्तिगत प्रेम को अधिक प्रगाढ़ता प्रदान करते हैं। एक अन्य गीत में निराला विद्यापति की बरबस याद दिलाते हैं। विद्यापति की राधा को प्रेम के एकान्त क्षणों में भी यह विवेक रहता है कि "छोड़ कन्हाई मोर आँचर है फाटत *नव सारी, अपजस होएत जगत भरि है* अनि करहु उघारी।" सामाजिक चिन्ताओं का ऐसा ही धरातल निराला के इस गीत में मिलता है :

> "बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु !
> पूछेगा सारा गाँव, बन्धु !"[३]

व्यक्तिगत सघन रागात्मकता के साथ सामाजिक सन्दर्भवत्ता का योग आगे प्रगतिशील कविता में और भी विकसित हुआ है। नागार्जुन की 'सिन्दूर तिलकित भाल' में कवि 'घोर निर्जन परिस्थिति में' पड़ा हुआ अपनी पत्नी को याद करता है और इस स्मृति से जुड़ी हुई जो स्मृतियाँ आती हैं, वे हैं कवि का 'तरउनी ग्राम', 'लीचियों औं आम', 'मिथिला के रुचिर भू-भाग'; और "याद आते धान/याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान/याद आते शस्य-श्यामल जनपदों के/""रूप-गुण-अनुसार ही रखे गये वे नाम/आते वेणु वन वे, नीलिमा के निलय अति अभिराम।"

---

१. 'हंस', १९४७, पृ० ७६८।
२. 'अर्चना', पृ० ६८।
३. 'अर्चना', पृ० १७।

और इन सबके मध्य "याद आता सिन्दूर तिलकित भाल ।"[१] जैसे कालिदास के दुष्यन्त कण्व ऋषि के आश्रम, उसके लता-गुल्म, सरोवर-हंस, मृग आदि के बिना शकुन्तला की कल्पना नहीं कर सकते थे वैसे ही नागार्जुन मिथिला के रुचिर भू-भाग, शस्य-श्यामल जनपद, तरउनी ग्राम, वहाँ के प्राकृतिक और सांस्कृतिक जीवन से विच्छिन्न करके पत्नी के सिन्दूर तिलकित भाल की कल्पना नहीं कर सकते। प्रेम की इस उदात्त भूमि पर पहुँच कर ही प्रगतिशील कवि त्रिलोचन की भाँति कहता है :

"मुझे जगत जीवन का प्रेमी
बना रहा है प्यार तुम्हारा ।"[२]

जो कवि इस उदात्त भूमि पर नहीं पहुँच सके वे या तो अंचल की भाँति 'दरस-परस' में फँस कर रह गये या और आगे बढ़े तो उन्होंने नारी को आरसीप्रसाद सिंह की—'निवेदिता' बना दिया। नारी की वास्तविक पीड़ाओं के प्रति उदासीन रह कर मात्र अपने आन्तरिक भावों से परिचालित होने के कारण उनके लिए नारी केवल 'रूप में मन मोहिता' और 'किसी के ध्यान में आनन्दिता' मोहिनी बन कर रह गयी।[३] इसके विपरीत प्रगतिशील कविता में नारी केवल कामिनी या मोहिनी का सामन्ती भाव-बोध तोड़कर स्वस्थ मानवीय पूर्णता के धरातल पर पहुँची है। नागार्जुन की 'भिक्षुणी' यदि बुद्ध के मनोरम सौन्दर्य पर मुग्ध होती है और अपने अस्वाभाविक जीवन से त्राण चाहती है तो इसलिए कि—

"कोइ एक होता जिसको अपना वह समझती
भूख मातृत्व की मिटा देता वह ।"[४]

किसी एक को अपना समझने की ललक का कारण है मातृत्व की भूख। यह मातृधर्म न इन्द्रलोक की परियाँ धारण करती हैं और न अन्तःपुरों या विज्ञापनों वाली देवियाँ। यह गुण मानवी का है। दिनकर जी की 'उर्वशी' में जब रम्भा और सहजन्या चिन्ता करती हैं कि उर्वशी धरती पर पवित्र मातृपद प्राप्त करने के

---

१. 'सतरंगे पंखों वाली', पृ० ४६ ।
२. 'धरती', पृ० ११ ।
३. 'हंस', फरवरी, १९३८, पृ० ४५८ ।
४. 'युगधारा', पृ० १६ ।

लिए दुःसह गर्भ-भार धारण करेगी, देह की गठन और यौवन की प्रकान्ति खो बैठेगी, तब मेनका उन्हें समझाती है :

> "माँ बनते ही त्रिया कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है?
> गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर,
> पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर?"...
> "रूपमती थी सखी! मुझे तो वही त्रिया लगती है,
> जो गोदी में लिये क्षीर मुख शिशु को सुला रही हो
> अथवा खड़ी प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो।"[१]

नारी का यह सम्पूर्ण व्यक्तित्व भक्तिकाव्य के अतिरिक्त यदि कहीं मिलता है तो वह है प्रगतिशील काव्य। छायावादी युग के उन्हीं कवियों में यह सम्पूर्णता देखने में आती है जो अपने भाव-बोध में प्रगतिशील जीवन-मूल्यों के करीब थे। नारी के व्यक्तित्व को उसकी सम्पूर्णता में प्रतिष्ठित करके प्रगतिशील कविता प्रेम के क्षेत्र में जिस आत्म-विस्तार अथवा भाव-विस्तार की सूचना देती है वही उसके स्वस्थ प्रेम का आधार बनता है।

समता के विचार से प्रेरित प्रगतिशील प्रेम-दृष्टि जिस व्यापक क्षितिज पर खुलती है उस पर प्रेम का प्रेरणाप्रद स्वरूप प्रकट होता है। भवभूति के उदात्त संवेदनात्मक स्तर की याद दिलाने वाली नरेन्द्र शर्मा की ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं :

> "वह कितना सुन्दर सपना हो
> जो आकर मेरे सिरहाने
> तुम जलता मस्तक सहला दो।"[२]

अन्तर्मन तक शीतल करने वाली प्रेम की यह व्यंजना सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की है :

> "तुम्हारी मुस्कान/कोहरे से छन कर नहीं
> सीधी धूप-सी आती है
> जैसे सुबह-सुबह चिड़ियों का गान।"[३]

प्रगतिशील कविता ने नारी की दुरवस्था के वस्तुगत कारणों को रेखांकित करके और उसकी मुक्ति के सच्चे मार्ग का अनुसंधान करके ही यह साहस अर्जित

---

१. 'उर्वशी', पृ० ९८।
२. 'कदली', पृ० १७७।
३. 'जंगल का दर्द', पृ० १०१।

किया है कि उससे स्वस्थ प्रेम सम्बन्ध कायम कर सके। इसी व्यापक दृष्टि-परिधि से उसके भाव-बोध में वह व्यापकता आ सकी है कि प्रताड़ित नारी को करुणा और सहानुभूति प्रदान करते हुए भी उसके सम्पूर्ण 'मानवी' व्यक्तित्व को पुनःप्रतिष्ठित करे; प्रेम के एकान्त क्षणों की रागात्मक स्थितियाँ व्यक्त करते हुए भी उसे घर की चारदीवारी से बाहर निकाल कर लोक-सामान्य की भावभूमि पर पहुँचाये, जिन्दगी के संघर्षों में हिस्सेदार बनाये और क्रान्तिकारी चेतना का प्रतीक भी बनाये। मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' में प्रेम को क्रान्ति की छटपटाहट के रूप मे अनुभव करते हुए प्रेमिका को क्रान्ति का प्रतीक बनाया गया है :

> "जग भर दीखती हैं सुनहली तस्वीरें मुझको/मानो कि कल रात किसी अनपेक्षित क्षण मे ही सहसा/प्रेम कर लिया हो/जीवन भर के लिए !!/मानो कि उस क्षण/अतिशय मृदु किन्हीं बाँहो ने आकर/कस लिया मुझको/उस स्पर्श की, चुम्बन की याद आ रही है,/याद आ रही है !!/अज्ञात प्रणयिनी कौन थी, कौन थी ?/कमरे में सुबह की धूप आ गयी है/ गैलरी मे फैला है सुनहला रवि छोर/क्या कोई प्रेमिका सचमुच मिलेगी ?"[1]

रात के किसी क्षण में मानो सहसा प्रेम कर लिया और सुबह की धूप के साथ यह स्नेह की गहरी वेदना 'सब ओर विद्युत्तरंगीय हलचल/चुम्बकीय आकर्षण' पैदा कर रही है।

संक्षेप में, प्रगतिशील कविता के नारी और प्रेम सम्बन्धी मूल्य काम-कुण्ठावाद से भिन्न, स्वस्थ मानवीय धरातल से सम्बद्ध हैं। इसलिए इसमें प्रेम को वैयक्तिक और सामाजिक सन्दर्भों के द्वन्द्व में परिभाषित करते हुए यह दृष्टिकोण उभरा कि स्वस्थ मानवीय सम्बन्धों की स्थापना तभी सम्भव है जब व्यक्ति और व्यक्ति के बीच कायम होने वाला सम्बन्ध अन्तर्विरोध या शत्रुता का न होकर समता और भाईचारे का हो।

---

१. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० ३०७-८।

# प्रकृति सौन्दर्य

प्रकृति से मनुष्य का सम्बन्ध शाश्वत है। प्रकृति मानव-अस्तित्व और ज्ञान की धुरी है। यह क्षमता केवल मनुष्य में है कि वह खुद प्रकृति को और उससे अपने सम्बन्धों को समझ सके। प्रकृति से मनुष्य का शाश्वत सम्बन्ध प्रतिपल कायम होने वाले घात-प्रतिघात पर निर्भर है। व्यावहारिक सम्पर्क की यह घनिष्ठता इतनी व्यापक है कि कलाकार ही नहीं, प्रकृति वैज्ञानिक का भी प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति अत्यन्त सजग और संवेदनशील हो उठना स्वाभाविक है। विश्वविख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने सूर्य की किरणों को "पकड़ने" और "तोलने" (अर्थात्, प्रकाश के दबाव का पता लगाने) वाले सोवियत वैज्ञानिक प्योत्र लेबेदेव को बीसवीं सदी का महानतम कवि कहा था। इससे पता चलता है कि प्रकृति से मनुष्य का सम्बन्ध कितना जटिल, सघन और अनेकायामी है। प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता और अनुराग इतनी गहराई तक विद्यमान है कि उसे हम प्रायः सहज वृत्ति के रूप में देखते हैं।

प्रकृति और मनुष्य के इस रागात्मक सम्बन्ध को समझ कर ही डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा था कि "क्या भारत और क्या यूरोप—कहीं भी अब तक कोई बड़ा मानव-प्रेमी कवि नहीं हुआ, जो प्रकृति का भी प्रेमी न रहा हो।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रगतिशील कविता में प्रकृति-प्रेम मानव-प्रेम का ही एक रूप है—उसका विस्तार है। छायावादी कवि का प्रकृति-प्रेम काफी-कुछ पलायन की अन्तर्वस्तु से गर्भित था। इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद का पलायन वस्तुतः साम्राज्यवाद के विरुद्ध उसकी एक प्रतिक्रिया थी क्योंकि औद्योगीकरण का सम्बन्ध

---

१. 'नयी कविता और अस्तित्ववाद', पृ० १४६।

प्रकटतः ब्रिटिश शासन से जुड़ता था और वह हमारी स्वाभाविक, ग्रामीण जीवन-विधि के विपरीत जान पड़ता था। इसलिए छायावाद ने अपनी जातीय परम्परा, राष्ट्रीय अस्मिता और संस्कृति को ग्रामीण अर्थतंत्र मे मूर्तिमान किया तथा अनेक कवियो ने औद्योगीकरण से पलायन कर प्रकृति मे शरण ली। किन्तु प्रगतिशील काव्य में यह निषेधात्मक प्रतिक्रिया नही है। उसका काव्य-बोध अधिक वैज्ञानिक, अधिक जीवनोन्मुख है।

प्रगतिशील कविता के प्रकृति-चित्रण की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें प्रकृति को उद्दीपन के रूप मे बहुत कम स्वीकार किया गया है। प्रकृति अपने सहज, स्वाभाविक रूप मे आकर्षित करती है, जीवन पर प्रभाव डालती है, उसमें हमारी आस्था को दृढ़ करती है, बार-बार हमे जीवन की याद दिलाती है, इसलिए वह परिपाटी निर्वाह के रीतिवाद से भिन्न है। वह छायावाद की भाँति प्रकृति की विराट् शक्तियों से आक्रान्त भी नही है। फलतः उसमें प्रकृति पर आत्म-प्रक्षेपण की प्रवृत्ति नही है। प्रगतिशील दृष्टि की कविताओ मे प्रकृति की विराटता का उद्घाटन भी है: "मैंने तो भीषण जाड़ों मे/नभचुम्बी कैलाश शीर्ष पर/महादेव के झंझानिल को/गरज-गरज भिड़ते देखा है"—नागार्जुन; और प्रकृति की सहज प्रक्रियाओ के प्रति मुग्धता का भाव भी :[1]

> "मैं किस प्रदेश मे आ पहुँचा
> हैं चारों ओर खड़े पर्वत जिनका हिम झरनों मे बहता
> जिनके प्राणों को झरनों का संगीत मधुर मुखरित रखता
> जिनके नीचे सुन्दर घाटी धानों से पीली पकी हुई
> जिससे सुगन्धि की मृदु लहरें मारुत में उड़ती निकल रही।"—इत्यादि।
>
> —चन्द्रकुँअर बर्त्वाल

किन्तु उसके प्रकृति-चित्रण की मुख्य विशेषता है उसका मानव-प्रेम और इस प्रेम की सिद्धि के लिए प्रकृति में आत्म-विस्तार। यह दृष्टि इस सत्य का द्योतक है कि मानव जीवन का विस्तार प्रकृति के विस्तार की तरह अनन्त है—प्रकृति और जीवन दोनों अनश्वर हैं। त्रिलोचन 'आँखों के आगे' कविता मे जीवन और प्रकृति के सादृश्य विधान के माध्यम से मानव जीवन को पुष्ट करते हैं :

> "हरा-भरा संसार है आँखों के आगे
> ताल भरे हैं, खेत भरे हैं,

---

१. 'वाग्देवी', पृ० ८२।

नयी-नयी बालें लहरायें
झूम रहे ये धान हरे हैं
सरसों की झीनी मञ्जरियाँ
खेल रही हैं मेल लहरियाँ
जीवन का विस्तार है आँखों के आगे।"[1]

जिस तरह मनुष्य निरपेक्ष इकाई न होकर देश और कालबद्ध प्राणी है, उसी प्रकार प्रकृति अपने समग्र रूप में सौन्दर्य का कारण होते हुए भी मूल्य-वत्ता के धरातल पर मनुष्य के विशिष्ट सन्दर्भों से जुड़ी है। ऐसा इसलिए कि प्रकृति के गुणों को, सौन्दर्य आदि को पहचानने और उनके प्रति मूल्य का बोध विकसित करने का श्रेय मनुष्य को है। मनुष्य का बोध उसकी भौतिक परिस्थितियों से स्वतंत्र नहीं रह सकता। इसीलिए प्रगतिशील कविता में प्रकृति अपने अनन्त रूपों में सौन्दर्य की अधिकारिणी बनी और साथ ही, मानवीय सत्य से सन्दर्भित हुई। 'खुला आसमान' में निराला प्रगतिशील सौन्दर्य-दृष्टि का परिचय देते हुए प्रकृति में आत्मविस्तार का नया धरातल प्रस्तुत करते हैं :

"बहुत दिनों बाद खुला आसमान।
निकली है धूप हुआ खुश जहान।"[2]

धूप ही नहीं निकली, जैसे सारा जीवन उन्मुक्त हो गया। दिशाएँ दिखायी दीं, पेड़ डालके, गाय, भैंस, भेड़ चरने को चलीं, लड़के-लड़कियाँ बाहर निकले, सभी क्रियाएँ सामान्य हुईं। इस तरह बारिश से डूबा सारा गाँव जैसे खुल पड़ा।

प्रकृति में मनुष्य को स्थान मिलने के साथ प्रकृति-सम्बन्धी कविता में मनुष्य को अधिक केन्द्रीय अभिव्यक्ति मिलनी स्वाभाविक है। प्रकृति में मानव-हस्तक्षेप की अभिवृद्धि भौतिक और मानसिक (बौद्धिक) विकास को प्रतिबिम्बित करती है। मनुष्य और प्रकृति के अन्तःसम्बन्धों की निरन्तर विकासमान स्थितियों में मनुष्य का बोध सहज से सजग, असमर्थ से समर्थ की ओर विकसित होता हुआ आज जिस धरातल पर पहुँचा है, वह कितना भिन्न है इसे आदिम मानव की भौतिक और बौद्धिक स्थितियों से तुलना करके ही समझा जा सकता है। वैज्ञानिक सामर्थ्य से लैस आधुनिक मनुष्य के वैशिष्ट्य को इस बात से समझा जा सकता है कि आज वह प्रकृति के हाथ

---

१. 'रत्नाम्बरा', पृ० २६०।
२. 'अनामिका', पृ० १४२।

का निष्क्रिय उपकरण नहीं रह गया है, वरन् स्वयं प्रकृति उसके हाथों में अत्यन्त समर्थ और गतिशील उपकरण बन गयी है। प्रकृति की विराटतम शक्तियों को अपने काबू में करने के मानवगत प्रयत्न के साथ-साथ प्रकृति के प्रति मनुष्य के सौन्दर्य-बोध में आश्चर्यजनक विकास हुआ है। औद्योगिक प्रगति के साथ मनुष्य प्रकृति को खदेड़ता और समेटता जान पड़ता है। वह प्रकृति को एकदम नये ढंग से देखता, जानता और बरतता है। इस प्रक्रिया मे प्रकृति मे उसका आदिम सम्बन्ध टूटता नहीं, बल्कि नये धरातल में प्रवेश करता है। सौन्दर्य-सृष्टि के क्षेत्र में मनुष्य का यही सामर्थ्य उसे प्रकृति का सफल प्रतिद्वन्द्वी बनाता है। फलतः भौतिक सृजन के साथ कलात्मक उपकरणों के उपयोग और सृजन में वह प्रकृति का सहारा लेता हुआ उससे होड़ करता है। इस उपयोग और सृजन की होड़ में वह सफल इसलिए होता है कि वह प्रकृति को मानवीय अर्थ देता है। मानवीय अर्थवत्ता प्राप्त किये बिना प्रकृति की न कोई सार्थकता है और न उसमें कोई सौन्दर्य।

प्रगतिशील कविता ने प्रकृति को मानवीय स्थितियों से जोड़कर सापेक्ष सत्य के रूप में अंकित किया। इसलिए प्रगतिशील कविता के प्रकृति-चित्रण में विभिन्न मनःस्थितियों, जीवन-यथार्थों, भावों और वैचारिक अवधारणाओं के अर्थ विद्यमान हैं। पारस्परिक अर्थवत्ता का वास्तविक धरातल सौन्दर्य के क्षेत्र में सपाट ढंग से नहीं आता। कलात्मक प्रक्रिया में हमारे विचार, संस्कार, मनःस्थितियाँ आदि हमारी ग्रहण और अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं को गहराई तक प्रभावित करती हैं। इसलिए प्रगतिशील कवियों ने प्रकृति सम्बन्धी सौन्दर्य-मूल्यों को सामाजिक असंगतियों से उत्पन्न स्वस्थ और अस्वस्थ बोध से स्वतन्त्र नहीं माना। जीवन और समाज की मरणशील वृत्तियों से लोहा लेने के लिए प्रगतिशील कविता ने स्वस्थ इन्द्रिय संवेदनाओं को प्रकृत रूप में व्यक्त करने का दायित्व सँभाला। प्रकृति मनुष्य के इन्द्रिय संवेदन का प्राथमिक और सबसे विपुल आधार प्रस्तुत करती है। इसलिए स्वस्थ संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए प्रगतिशील कविता ने प्रकृति के स्रोतों को अंगीकार किया। विच्छिन्नतावादी आभिजात्यवाद का निषेध खण्डन करते हुए भारतभूषण अग्रवाल ने प्रकृति के उपादानों के माध्यम से ही अपनी बात को सशक्त बनाया था :

"हम नहीं हैं द्वीप जीवन की नदी के
वरन् जीवन से भरे निर्मल सरोवर।
···सूर्य के दीपित किरण से
नीर के भावुक मिलन की हम विमल सन्तान।"[१]

---

१. 'प्रगतिशील कविता के मील के पत्थर', पृ० १४१।

प्रकृति मानव-जीवन में इतनी अन्तरंगता से जुड़ी है और जीवन का इतना अजस्र-स्रोत है कि स्वस्थ वृत्तियों को जगाने और विकसित करने के लिए प्रगतिशील कवि प्रकृति की ओर ही मुड़ता है। नागार्जुन की यह संवेदना धूप के साथ जीवन की कितनी विशद समीक्षा करती है :

> "पूस माघ की धूप सुहावन/स्तनपायी नीरोग गौर-छवि
> शिशु के गालों जैसी मनहर···"

लेकिन मनुष्य का जीवन विपरीत स्थितियों के कारण इतना ही निश्छल और नीरोग नहीं रह गया है :

> "फटी दरी पर बैठा है चिर रोगी बेटा
> राशन के चावल से कंकड़ बीन रही पत्नी बेचारी
> गर्भ-भार से अलस शिथिल है अंग-अंग
> मुंह पर उसके मटमैली आभा
> छप्पर पर बैठी है बिल्ली
> किसके घर से जाने क्या कुछ खा आयी है
> चला-चला कर जीभ स्वाद लेती होंठों का।"

और चूंकि "पूस माघ की धूप सुहावन/चावल नहीं खिला सकती है/रोटी नहीं सेंक सकती है/भाजी नहीं खिला सकती है" इसलिए "जहाँ कहीं से एक अठन्नी लानी होगी/वरना इस चूल्हे के मुंह पर फिर मकड़ी का जाला होगा।"[1] यहाँ सम्पूर्ण प्रकृति मानवीय विधान के मुकाबले में खड़ी है। बेदाग बच्चे के गालों जैसी मनहर धूप और परिवार की अभावजन्य स्थितियों का विरोध एक मार्मिकता का सृजन करता है। दूसरी तरफ चूल्हे की बुझी हुई आँखें जीभ चटखारती बिल्ली से टकराती हैं; आदिम के मुकाबले सभ्यता के इस टकराव से वर्ग-संस्कृति की अमानवीय विषमताओं पर व्यंग्य की सृष्टि की गयी है। इस प्रकार जीवन की समीक्षा के लिए प्रकृति के उपादानों का उपयोग स्वयं इस तथ्य का प्रमाण है कि सजग मनुष्य कलात्मक उपकरण के तौर पर जीवन और प्रकृति का सार्थक उपयोग करता है।

मनुष्य का संगठन पारिवारिक इकाई से आरम्भ होकर गाँव, जनपद, नगर, जातीय प्रदेश और देश तक की अनेक इकाइयों के माध्यम से हुआ है।

---

१. उद्धृत : 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', पृ० ८१।

सौन्दर्य दृष्टि का वैशिष्ट्य यह है कि उसने व्यक्तिगत स्नेह सम्बन्धों को व्यापक भावभूमि पर रूपायित किया है। कहने की जरूरत नहीं कि अपने ग्राम, नगर, जनपद आदि की प्रकृति से प्रेम प्रगतिशील कविता के देश-प्रेम और मानव-प्रेम की ही अभिव्यक्ति है। कारण यह कि कलात्मक स्तर पर भावनाओं का स्वरूप मूर्त होता है और इस मूर्तविधान के बिना कलात्मक सौन्दर्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। संक्षेप मे, प्रगतिशील कविता में प्रकृति के मानवीय सन्दर्भ का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू है कि विशिष्ट की भूमि पर ही सामान्य की परख की गयी है।

ग्रामीण प्रकृति से प्रेम के उदाहरणों की अतिशयता का कारण यह है कि अधिकांश प्रगतिशील कवियों की पृष्ठभूमि ग्राम्यजीवन की ही रही है और दूसरे यह कि भारतीय जीवन-स्थितियों के विशिष्ट सन्दर्भ मे कविता की सार्थक भूमिका के लिए यह अनिवार्य था कि ग्राम्यजीवन से अपनी शक्ति अर्जित करे।

इसीलिए जब नागार्जुन बहुत दिनों के बाद 'पकी सुनहली फसलों की मुस्कान' देखते हैं और 'अपनी गँवई पगडण्डी की चन्दनवर्णी धूल' छूने का सौभाग्य पाते हैं तो विभोर हो उठते हैं। रामविलास शर्मा को "हिन्दुस्तान के जिस गाँव पर भी साँझ की सुनहली धूप पड़ती है, वह अपने गाँव जैसा ही लगता है।"[1] इसलिए वह अपने गाँव का एक चित्र देते हैं जो उसी जैसे किसी भी गाँव का हो सकता है: "बरस रहा खेतों पर हिम-हेमन्त है/हरी-भरी बालों के भारी बोझ से/मूर्च्छित हो धरती पर झुकी मोराइयाँ/बरगद के नीचे ही महफिल है जमी/ घुँघरू की छुम-छुम पर तबला ठनकता""आदि।"[2]

और आधुनिक शहर भी कविता की संवेदना को उद्वेलित करते हैं। केदारनाथ सिंह 'बाजार मे लौट कर' सोचते हैं कि "सारी रोशनियों के बुझ जाने के बाद भी/ रात के तीसरे पहर/जब भेजने के लिए किसी के पास कुछ नहीं होता/बड़ा डाकघर तब भी खुला रहता है।"[3] गाँव की सरल क्रियाओं से लेकर नागरिक जीवन की जटिलताओं तक आते-आते प्रकृति का बोध भी बदल गया। इसलिए 'पेड़' पर कविता लिखते हुए केदारनाथ सिंह ने कहा :

---

१. 'तार सप्तक', पृ० ६७।
२. उपर्युक्त, पृ० ६४-५।
३. 'ज़मीन पक रही है', पृ० ३५।

"तुम्हें कोई नहीं बतायेगा
कि इस समय
इस कोरे कागज पर तुम जो कुछ लिख रहे हो
उसमें पेड़ों की यातनाभरी चुप्पी भी शामिल है।"[1]

'धान उगेंगे कि प्रान उगेंगे/उगेंगे हमारे खेत में/आना जी बादल जरूर।'[2] की अभिव्यक्ति से यहाँ काम चलना सम्भव नहीं रह गया। इसलिए प्रकृति सम्बन्धी भंगिमा अधिक जटिल हो गयी। वह जटिलता शहरी जीवन की जटिलता से उत्पन्न है।

स्थिति के साथ भंगिमा बदलती है, तेवर और संस्कार बदलते हैं; किन्तु सम्बन्ध नहीं बदलता—सम्बन्ध अधिक जटिल और प्रगाढ़ होता है। प्रकृति से मनुष्य के सम्बन्धों की प्रगाढ़ता के अनेक स्तर प्रगतिशील कविता में व्यक्त हुए हैं। शमशेर पारिवारिक संवेदनाओं के धरातल पर 'उषा' को चित्रित करते हैं :

"प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे
भोर का नभ/राख से लीपा हुआ चौका
(अभी गीला पड़ा है)
बहुत काली सिल जरा-से लाल केसर से
कि मानो धुल गयी हो।"[3]

'पगडण्डी की एक शाम' नेमिचन्द्र जैन को ऐसी लगी जैसे

"दूर ऊँची पहाड़ी पर
ठोड़ी टिकाये बैठी यह शाम/कितनी मासूम थी
खोयी-सी उदास बड़ी-बड़ी आँखों से ताकती।"[4]

अथवा 'समय यात्रा' में त्रिलोचन अनुभव करते हैं कि " स्मृति की माला जप-जप/चलता रहा और तब तक परिवाई प्राची/दुहरा और बढ़ा। फिर सर्दी मालूम हुई/चुभने लगी।"[5]

---

१. 'जमीन पक रही है', पृ० ४६।
२. 'हाँसता मल्हार', पृ० २०।
३. 'प्रतिनिधि', पृ० १२३।
४. 'एकान्त', पृ० १४।
५. 'काल्देवी', पृ० ५०३।

प्रकृति के इस मुक्त, आत्मीय और अनुभूति एवं संवेदना से भरे संस्कार का सम्बन्ध परिपाटी निर्वाह की शास्त्रीयता से न होकर सजगता से है। प्रकृति अपने अनन्त रूपों में सहज सौन्दर्य की जो विपुल आधार-भूमि प्रदान करती है वह मानव-सन्दर्भ से मुक्त होकर नया अर्थ ग्रहण करता है और प्रगतिशील कविता इसी अर्थ को व्यञ्जित करती है। प्रगतिशील काव्य-बोध नदी, पहाड़, फूल, रंग, आसमान, पेड़ आदि समूची प्रकृति में मानवीय अर्थ तलाशता हुआ अपनी विभिन्न मनःस्थितियों, भावनाओं और सामाजिक सत्यों की अभिव्यंजना के लिए प्राकृतिक उपादानों के श्रेष्ठ कलात्मक उपयोग की दिशा में अग्रसर होता है। केदारनाथ अग्रवाल प्रकृति में प्रवेश पाकर ही प्रेम की इस व्यञ्जना को कलात्मक स्तर पर अधिक सौन्दर्यपूर्ण बना सके हैं:

"तुम हो/ दिन में/ सूर्यमुखी नदी की/ नटखट देह/खुशमिजाज धूप।/
तुम हो/ रात में/ गुलाब-फूलों की नाव/ चांदनी के चुम्बनों की/
कलहँसी देह/ बाँहों में विछलती/ नाचती/ स्वप्न मयूरी तरंग।"[1]

इसी प्रकार हरवंश राय 'बच्चन' जीवन के परुष सत्यों के आगे कोमल भावों की अस्मिता का विश्वास इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :

"टहनी पर बैठी गौरैया / चहक-चहक कर कहती भैया—
नहीं कड़कते बादल का हो, मेरा भी अस्तित्व यहाँ है।
अब घन गर्जन गान कहाँ है।"[2]

निराला ने बादल छँटने पर धूप के साथ मुखरित होते जीवन को चित्रित किया और बच्चन ने विनम्र चुनौती के साथ कड़कते बादल के मुकाबले चहकती गौरैये के होने का विश्वास किया। वर्तमान समाज की असंगतियों में जीवन की बीभत्स वास्तविकताओं के विरुद्ध सुरुचि, सौन्दर्य और जीवन की सम्भावनाओं को रेखांकित करना स्वस्थ मानव-वृत्तियों की रक्षा करना है। अपने इस उद्देश्य के प्रति सजगता प्रगतिशील कविता में आद्योपान्त विद्यमान है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने 'सुबह हुई' में सुबह के साथ उगने वाले मानवीय प्रयत्नों को रेखांकित किया कि धरती के सुनहरे चिकने फर्श पर लुढ़कते हुए हरी मटर के गोल बड़े दाने को पकड़ने के लिए भूरे पंख फड़फड़ाता गौरैये का एक बच्चा अपनी नन्ही-सी सुर्ख चोंच खोले फुदकने लगा। लेकिन शाम को "दूर आकाश के पीले रेगिस्तानी टीलों पर / भूखे शिथिल ऊँट / सुर्ख क्षितिज की ओर सिर उठाये/ पीठ पर चारा लादे/ किसी ओझल पड़ाव की ओर थके-मांदे/ काले

१. 'पंख और पतवार', पृ० ७८।
२. 'निशा निमन्त्रण', पृ० १०२।

प्रश्नचिह्नों-से रेंगने लगे।" यह व्यंग्य "स्वावलम्बी गौरैये के बच्चे को ऊंट" बना देता है।[१]

प्रगतिशील कविता ने जीवन के इस व्यंग्य को उद्घाटित किया है और इसे व्यंग्यरहित इकाई में लाने के लिए धूप के जागरण गीत गाये हैं। उसने बताया है कि कंकड़-पत्थर वाली जमीन को केवल कुदाल और ट्रैक्टर ही नहीं तोड़ते, दूब का नरम अंकुर भी जमीन फोड़ता है। वह "सब कुछ सहकर भी जिसमें कोई आक्रोश नहीं" ऐसे 'स्थिर' और 'दृढ़' गुण को मनुष्य का आदर्श नहीं बताती,[२] बल्कि अपने जैसे दुःखी-पीड़ित भाइयों को सन्देश देती है कि "फूलो फलो / जैसे पेड़ फूलता-फलता है/ अपने लिये नहीं /अपनों के लिए।"[३]

मानव सत्य से प्रकृति के जुड़ने पर प्रकृति और मनुष्य दोनों की अर्थवत्ता का नया धरातल उभरता है। प्रगतिशील कविता के प्रकृति-सम्बन्धी मूल्यों का सारतत्त्व इसी गहरी मानवीय अर्थवत्ता में व्यक्त हुआ है।

———

१. 'काठ की घण्टियाँ' पृ० १७६-८०।
२. पुष-निशपुटी लाल वर्मा, 'नयी कविता', अंक-२, १९५६ पृ० ७५।
३. गिरिधर गोपाल, 'नयी कविता' अंक-२, १९५५, पृ० ७५।

# कला सम्बन्धी दो दृष्टिकोण

प्रगतिशील साहित्य के कलापक्ष पर विचार करते समय हमारे सामने सबसे मूलभूत प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में उपेक्षित जनता के लिए लिखे गये साहित्य का रूप क्या हो ? साहित्य के रूप के सम्बन्ध मे प्रगतिशील सौन्दर्य-चिन्तन की यह बहुत स्पष्ट मान्यता रही है कि किसी कलाकृति का रूप महज उसकी अन्तर्वस्तु से निर्धारित नहीं होता, उसके निर्धारण मे अनेक दूसरे तत्त्व भी गतिशील रहते हैं। सोवियत सौन्दर्यशास्त्री अनातोली लुनाचर्स्की के शब्दों में कहें तो कला के रूप को निर्धारित करने वाले अन्य प्रमुख तत्त्व हैं—उस वर्ग या वर्ग-समूह की जीवन-विधि जिसने किसी भी रूप में कलाकृति को प्रभावित किया हो; उस समाज की भौतिक संस्कृति का सामान्य धरातल, पड़ोसियों का असर, अतीत के संस्कार या उनके पुनर्जागरण के प्रयत्न जो जीवन के सभी पक्षों में घटित हो सकते हैं। ये सभी चीजें रूप पर असर डाल सकती हैं या उसे परिभाषित चरित्र प्रदान करने मे सहायक कारण बन सकती हैं।[1]

संक्षेप में, कलाकृति के रूप को प्रभावित करने वाला तत्त्व यांत्रिक ढंग से उसकी अन्तर्वस्तु भर नहीं है। कलाकृति एक संश्लिष्ट इकाई है। इसलिए वह सम्पूर्ण वस्तुगत, ऐतिहासिक प्रक्रिया से सम्बद्ध है जिसमे कलाकार अभिव्यक्ति का संघर्ष झेलता है। यह संघर्ष पेचीदा है। इसलिए नहीं कि कलाकार जिनसे कला के आन्तरिक नियमों के बतौर टकराता है वास्तव मे वे सब कलाकृति से बाहर पड़े हैं—समाज मे और कलाकार मे। बल्कि इसलिए भी कि कलाकृति में अन्तर्भुक्त

---

१. 'आन लिटरेचर ऐण्ड आर्ट', पृ० १२।

यह वाह्य परिवेश एक विचित्र द्वैत से, विसंगतियों और अन्तर्विरोधों से भरा है। इस विचित्र स्थिति में अभिव्यक्ति के लिए संघर्षरत कलाकार प्रागनुभवों, संस्कारों, विचारों आदि की विभिन्न स्थितियों और अवस्थाओं के कारण भिन्न प्रतिक्रियाएँ करता है। अतः यह स्वाभाविक है कि एक ही विषय पर एक ही युग-सदर्भ में लिखी गयी कविताएँ भिन्न अर्थ और गति दें, भिन्न रचना पैटर्न पर विकसित हों, यहाँ तक कि भिन्न कोणों से सम्बोधित हों और उनके सम्भावित पाठक भी भिन्न हों। जो बात सामान्य होगी वह यह कि सभी कलाकार कल्पना या वास्तविकता के चित्रों द्वारा अमूर्त विचारों और भावों को सभी के लिए ग्राह्य बनाते हैं। यह ग्राह्यता रूप-रस-गंध-ध्वनि आदि के इन्द्रियगम्य बिम्बों और तत्प्रसूत प्रत्ययों द्वारा सम्भव होती है।

इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि कवि के अपने विचार, भाव-संस्कार, इन्द्रिय-बोध और वह दृष्टि-बिन्दु जिससे कवि अपनी संवेद्य वस्तु को आत्मसात् और कविता में स्थापित कर रहा है—सभी मिल कर कविता की अखण्ड-अविभाज्य इकाई को अस्तित्व में लाते हैं। कला की अन्तर्वस्तु और रूप में यांत्रिक विभाजन या आरोपित एकता सम्भव नहीं है। इसलिए आधुनिक युग की जटिलतर होती परिस्थितियों में किसी साहित्य के लिए शिल्प का आदर्श साँचा नियत करना भी सम्भव नहीं है।

हिन्दी के प्रगतिशील कवि सृजन-प्रक्रिया की चुनौतियों से गुजरते हुए काव्य-शिल्प सम्बन्धी दो भिन्न निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। आधुनिक जीवन के बौद्धिक दबावों और तनावों को झेलते हुए कुछ कवि इस नतीजे पर पहुँचे कि इन जटिल संवेदनाओं को सर्वसाधारण की भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस आन्तरिक विवशता को बहुत पीड़ा के साथ अनुभव करते हुए प्रतिपादित किया गया कि कविता सर्वसाधारण को सम्बोधित हो या न हो, उसका दृष्टिकोण, उसकी दिशा और भावना सार्वसाधारण की हो। जनप्रिय रूप को आवश्यक न मान कर प्रगतिशील वस्तु की अनिवार्यता स्थापित करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा :

"'जनता का साहित्य' का अर्थ जनता को तुरन्त समझ में आने वाले साहित्य से हरगिज नहीं। ...साहित्य का उद्देश्य सांस्कृतिक परिष्कार है, मानसिक परिष्कार है। किन्तु यह परिष्कार तभी सम्भव है जब सुनने वाले या पढ़ने वाले की ज्यादा स्वयं शिक्षित हो।... 'जनता का साहित्य' का अर्थ 'जनता के लिए साहित्य

से है' और वह जनता ऐसी हो जो शिक्षा और संस्कृति द्वारा कुछ स्टैण्डर्ड प्राप्त कर चुकी हो।"[१]

लेकिन दूसरा दृष्टिकोण केवल शिक्षित-संस्कृत जन को काव्य का एकमात्र अधिकारी नहीं मानता। उसके अनुसार समाज में ताड़ना के अधिकारी किसान और श्रमिक भी साहित्य-सुधा के पात्र हैं—अधिक नहीं तो उतने जरूर जितने भद्रजन हैं। इसलिए यह मान्यता बनी कि जनता के साहित्य का रूप भी जनवादी होना चाहिए। विशिष्ट बौद्धिक तनाव की स्थिति में जटिल अभिव्यंजना की अनिवार्यता या विवशता को स्वीकार किया गया लेकिन उसे जनवादी कला का अनुकरणीय आदर्श नहीं माना गया।

इस दृष्टि से प्रगतिशील लेखक संघ के प्रयत्नों की सफलता का स्वागत करते हुए केदारनाथ अग्रवाल ने लिखा कि "तब कविता और आम जनता का सीधा-सीधा आमने-सामने का साक्षात्कार होने लगा।'[२] उन्होंने बल देकर कहा कि कवि जब तक अपनी आत्मग्रस्तता तोड़ कर अपनी बौद्धिकता को दूसरों की मानसिकता में मांजता और निखारता नहीं तब तक वह अपनी कला को 'सार्वजनिक रूप' नहीं दे सकता।[३] स्वयं मुक्तिबोध की "बौद्धिक मंत्रणा और सम्प्रेषणीयता इसलिए गूढ़ हो गयी है क्योंकि वह उनकी वैयक्तिकता से निकल कर आम आदमी की वैयक्तिकता से जुड़ नहीं सकी।"[४] और मुक्तिबोध के ज्वलन्त आत्मसंघर्ष का कारण भी यही था। इस विवेचन से हम दो निष्कर्ष प्राप्त करते हैं :

१. दुरूहता से लेकर सुबोधता तक प्रगतिशील कविता का शिल्प-विस्तार प्रकटतः दो विरोधी सीमान्तों के बीच फैला हुआ है। इस व्यापक प्रसर के बीच रूप और वस्तु के संतुलन की अनेक अवस्थाएँ हैं; और
२. प्रगतिशील कवि का कलात्मक संघर्ष अपनी अभिव्यक्ति को अधिक से-अधिक जनोन्मुख बनाने की दिशा में ही है।

## काव्य-संरचना : प्रगीतात्मक और नाटकीय

कहने की जरूरत नहीं कि जितना व्यापक प्रगतिशील कविता का जनाधार है, उतनी ही व्यापकता और विविधता उसके शिल्प में है। प्रगतिशील काव्य के

---

१. 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र', पृ०७८-९।
२. 'विचार बोध', पृ० ७४।
३. उपर्युक्त, पृ० ७६।
४. उपर्युक्त, पृ० ७६।

बिम्ब, प्रतीक, भाषा, तेवर आदि का मूल्यांकन करने से पहले, संक्षेप में, उसकी काव्य-संरचना सम्बन्धी इस विविधता का आकलन आवश्यक है। शिल्प सम्बन्धी विविधताएँ कविता के स्थापत्य और पद्धति में अनेक स्तरों पर विद्यमान हैं। छोटी और प्रदीर्घ कविताएँ, गीतात्मक और नाटकीय विधान की कविताएँ, सहजता में अभिधा के स्तर पर चलने वाली और सांकेतिकता में फैण्टेसी का रूप धारण कर लेने वाली कविताएँ—सबका प्रयोग प्रगतिशील कविता में मिल जायगा। मूलभूत संरचना की दृष्टि से हम इन सभी तरह की कविताओं को मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं : गीतात्मक और प्रबन्धात्मक अथवा नाट्यात्मक। इस वर्गीकरण का आधार कविता की संरचना के दो मूलभूत पक्ष हैं :

१. विस्तार : कविता का दृश्यफलक। देश-कालगत परिधि पर निर्भर;

२. आयाम : कविता का घनत्व। संवेदनात्मक गहराई पर निर्भर।

कविता का दृश्यफलक उसके घनत्व को भी प्रभावित, निर्धारित करता है। भावात्मक गहराई देश-कालगत विस्तार के साथ आयाम के रूप में कवि का दायरा बढ़ाने में सहायक होती है। विस्तार कविता के विकास को अनवरुद्ध, प्रवाहपूर्ण बनाता है; आयाम (घनत्व) अनवरुद्ध विकास को बाधित करता है।

कविता में आयाम और विस्तार की भूमिकाएँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। मुक्तिबोध की अधिकांश कविताएँ कलेवर में लम्बी हैं। लेकिन सभी में विस्तार की अधिकता आवश्यक नहीं है। घनत्व इनकी मुख्य विशेषता है। इसलिए फैण्टेसी और आत्म-संवाद की शैली के बावजूद वे कविताएँ गीत नहीं बनतीं। प्रसाद जी का 'आँसू' कलेवर की दृष्टि से 'राम की शक्तिपूजा' (निराला), 'हरिजन गाथा' (नागार्जुन), 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' (मुक्तिबोध) आदि से कहीं अधिक विस्तृत है। देश-कालगत विस्तार और जीवन के आयामों की दृष्टि से उसकी भूमि अत्यन्त सीमित है। इसलिए उसमें प्रबन्धात्मकता के स्थान पर गीतात्मकता है। अन्य उल्लिखित कविताएँ आकार की लघुता के बावजूद प्रबन्धात्मक हैं।

स्पष्ट है कि प्रवाह की तरलता गीतात्मकता की दिशा में विकसित होती है और प्रभाव का घनत्व प्रबन्धात्मकता की दिशा में। यह मतलब नहीं कि रागात्मक तरलता के कारण गीत वैयक्तिक होते हैं और नाटकीय द्वन्द्व पर आधारित कृति वैयक्तिक नहीं होती। कवि की वैयक्तिकता दोनों में होती है। फर्क होता है ... में वैयक्तिकता की स्थिति में।

गीतों में इतिवृत्तात्मकता और वर्णनात्मकता का निषेध करते हुए अज्ञेय जब उसमें अनुभूति की संहति बनाये रखने के लिए आकार की लघुता को अनिवार्य बताते हैं तब वस्तुतः वे उसकी 'पर्सनल टोन' और अन्तरंग वैयक्तिकता को ही प्रकारान्तर से स्वीकार करते हैं। अतिशय वैयक्तिकता या 'पर्सनलिज्म' ही आत्मग्रस्तता में तब्दील होकर गीतात्मक वृत्ति का रूप धारण कर लेती है।

प्रबन्धात्मक कृति में कवि की वैयक्तिकता का स्तर इससे भिन्न है। कवि के संवेदना जगत् में प्रतिबिम्बित वस्तु विकसित होकर जिस चित्र द्वारा व्यक्त होती है उस चित्र में कवि की सम्पूर्ण वैयक्तिकता अन्तर्निहित होती है। दूसरे शब्दों में, कवि वस्तु की संवेदना में प्रवेश करता है और वर्ण्य-विषय कवि की संवेदना में। गीत और प्रबन्ध दोनों इसी द्विविध धरातल पर रूपायित होते हैं। नाटकीय संयोजन की भिन्नता यह है कि गीत का टोन जहाँ वैयक्तिक होता है, वहीं प्रबन्ध का टोन निर्वैयक्तिक होता है—कवि उसके शिल्पगत विकास से तटस्थ रहता है, उसमें हस्तक्षेप नहीं करता। वह अपना सम्प्रेष्य वक्तव्यों द्वारा कह कर नहीं, प्रकट व्यापार द्वारा उद्घाटित करके पाठक तक पहुँचाता है।

संक्षेप में, नाटकीय अथवा प्रबन्धात्मक विन्यास वाली कृतियाँ इसी शर्त पर सफल और सक्षम बनती हैं कि अन्तर्वस्तु के धरातल पर कवि की संवेदना वस्तु की संवेदना में एकमेक हो जाय तथा शिल्प के धरातल पर कवि निर्वैयक्तिक तटस्थता बरते। अन्तर्वस्तु और शिल्प का यह प्रकट विरोध वस्तुतः द्वन्द्वात्मक एकता का पर्याय है।

आधुनिक जीवन की तनावपूर्ण स्थितियाँ मानवीय सम्बन्धों के रागात्मक तन्तुओं को तोड़ती हैं, मानसिक तनाव और बौद्धिक दबाव उत्पन्न करती हैं। ज्वलन्त यथार्थ की भूमि पर पलने वाली कला का यथार्थवादी होना उसके जीवित रहने के लिए जरूरी है। प्रगतिशील कविता अभिव्यक्ति की यथार्थवादी तकनीक को अपनाती, उपजाती और विकसित करती हुई आगे आयी। इस क्रम में उसने यदि नाटकीय विन्यास को अधिक अपनाया तो यह स्वाभाविक था। निराला की कलात्मक विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने नाटकीय संवाद के बारे में लिखा, "दार्शनिक स्तर पर विचार-मन्थन, भावात्मक स्तर पर मन के उद्वेग, क्या गीत और क्या लम्बी कविता—दोनों में सफलता से चित्रित होते हैं।"[1]

---

१. 'निराला की साहित्य साधना', खण्ड २, पृ० २६०।

स्पष्ट है कि नाटकीय द्वन्द्व के स्तर पर पहुँच कर गीत और प्रबन्ध दोनों के बीच की दूरी कम होती है, गीत सामाजिक सन्दर्भवत्ता के नये क्षितिज पर पहुँचते हैं। प्रगतिशील कवियों ने इस दिशा में जो साहसिक प्रयोग किये हैं उनसे गीतों की शिल्पगत सीमा टूटी और विस्तृत हुई है; उनमें जीवन की वास्तविकताओं को धारण करने का नया सामर्थ्य आया है। मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' का 'जो सिरफिरा पागल कतई था' एकाएक जागरित बुद्धि, प्रज्ज्वलित धी होकर 'आत्मोद्बोधमय' कोई पद, कोई गान गाता है। इस गीत का गद्यानुवाद देते हैं मुक्तिबोध—तीखी आलोचना के स्वर में वह व्यक्ति कहता है :

"ज्यादा लिया और दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम··· ।"[1]

गीत वस्तुतः समूची कविता में अन्तर्व्याप्त आत्मसंघर्ष का ही एक अंग है। व्यावहारिक जीवन की क्षुद्रताओं, स्वार्थों के साथ आदर्शवाद और सिद्धान्तवाद की पोल! आत्म-उद्बोधन का गीत है— किसी लक्षित श्रोता की मौजूदगी के बिना अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति के लिए अपनायी गयी नाटकीय भंगिमा है। नाटकीय संवाद की विशेषता है सम्बोधन की शैली में वक्रतापूर्ण कथन द्वारा भावाभिव्यक्ति को सघन बनाना। उसकी गतिशीलता का आधार है भाव का सीधे प्रवाहित न होकर प्रकट या प्रच्छन्न रूप से विरोधी भाव से टकराते हुए विकसित होना। और गिरिजा कुमार माथुर के अनुसार, गीत भावावेग के "साक्षात्कार से पायी गयी 'दृष्टि' या 'सत्य' का उद्घाटन" और "प्रतिपाद्य भावना के मूल तत्वों की सम्यक् अभिव्यक्ति" करते हैं। गीतों की रचना आनन्द या पीड़ा की "अनुभूति से उत्पन्न बहुत बड़े मानसिक दबाव के कारण होती है।"[2] शास्त्रीय मान्यताओं पर विकसित इस नयी विचार-दृष्टि से भी परखें तो पायेंगे कि गीतों की स्वाभाविकता, उनके मौलिक चरित्र की रक्षा करते हुए प्रगतिशील कवियों ने उन्हें यथार्थपरक स्वर और आधार-भूमि दी।

मुक्तिबोध के प्रसंग में इस कथन का महत्व यह है कि आत्मगत द्वन्द्व से विकसित उनकी समूची फैन्टेसी वस्तुगत और आत्मगत भावों, विचारों, स्थितियों आदि के नाटकीय द्वन्द्व और टकराव पर आधारित है। उनके आत्मसंघर्ष का धरातल मूलतः सांस्कृतिक है—मध्यवर्गीय संस्कारों से मुक्त होकर सर्वहारा वर्ग की संस्कृति में

---

१. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० १३८।
२. 'नयी कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ', पृ० १६७।

प्र०—११

व्यक्तित्व के रूपान्तरण की समस्या। डॉ० रामविलास शर्मा इस विधान में नाटकीयता की स्थिति स्वीकार करते हुए भी यह मानते हैं कि "मूलतः आत्मगत भावों, मनोदशाओं और निकटवर्ती परिवेश" से सम्बद्ध होने के नाते नाटकीयता आत्मसंवाद (ड्रैमेटिक मोनोलाग) के स्तर पर ही रहती है। एक-व्यक्ति-संवाद या आत्मसंवाद की स्थिति के कारण नाटकीयता सीमित है। विभिन्न पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व की जगह काव्य-नायक का ही अन्तर्द्वन्द्व चित्रित है, फलतः प्रगीतात्मकता मुख्य हो उठती है।[1]

निराला के सन्दर्भ में विवेचन करते हुए डॉ० शर्मा ने स्वगतकथन को "अन्तर्मुखी विश्लेषण" की संज्ञा दी है और उसकी नाटकीय सम्भावनाओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है। स्वगतकथन "मन की स्थिति को नाटकीय रूप देने की क्षमता का परिचय देता है। उसमें विश्लेषण है, भावगाम्भीर्य है, चित्रमयता है।"[2]

क्या मुक्तिबोध की कविता में स्वगतकथन का नाटकीय तत्त्व नहीं है? निराला 'सरोज स्मृति' में अपनी साहित्यिक उपेक्षा को 'हिन्दी का स्नेहोपहार' कह कर व्यंग्यपूर्वक उसे स्वीकार करते हैं। व्यावहारिक जीवन की पराजय को 'लख कर अनर्थ आर्थिक पथ पर/हारता रहा मैं स्वार्थ समर'[3] के जिस कारुणिक स्तर पर पहुँचाते हैं वह उनकी व्यक्तिगत पीड़ा को सार्वजनिक रूप प्रदान कर देता है। 'मैं' शैली अपना कर अपने दुःखी भाइयों की उमड़ती वेदना भी तो व्यक्त की जा सकती है। इसलिए निराला की अपनी पीड़ा लोक सामान्य की पीड़ा बन जाती है, 'वैयक्तिक' के धरातल से 'निर्वैयक्तिक' के स्तर पर पहुँच जाती है। मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष भी यदि उनका अपना है तो साथ ही, उसका दूसरा स्तर उनके समूचे वर्ग का है। यह पीड़ा उनकी अपनी भी हो सकती है और सारे मध्यवर्ग की भी कि

"जो है उससे बेहतर चाहिए
पूरी दुनिया को साफ करने के लिए मेहतर चाहिए
और वह मेहतर मैं नहीं बन पाता।"[4]

---

१. 'नयी कविता और अस्तित्ववाद', पृ० २२६।
२. 'निराला की साहित्य साधना', खण्ड २, पृ० ७८३।
३. 'अनामिका', पृ० १२२।
४. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० १०८।

यदि निराला अर्थागमोपाय जानकर भी सदा संकुचितकाय रहते हैं और इस आत्मस्थिति को आत्मदया से न देख कर मूल्यांकन की तटस्थ मुद्रा में याद करते हैं तो मुक्तिबोध अपनी चिरपरिचित आत्मग्रस्तता तोड़ कर दूसरे ही स्वर में मज़ाक बनाते रहते हैं :

"बेवकूफ बनने की खातिर ही
सब तरफ अपने को लिये-लिये फिरता हूँ;
और यह देख-देख बड़ा मजा आता है
कि मैं ठगा जाता हूँ !"[1] ···इत्यादि।

आत्मगत या वस्तुगत द्वन्द्व और संघर्ष नाटकीय संरचना का सबसे दृढ़ आधार होता है। दो विरोधी पक्षों के टकराव के बिना नाटकीयता स्थापित नहीं हो सकती। गीतात्मक संरचना मूलतः अन्तर्मुखी होती है। मुक्तिबोध के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न होता है उनकी फैंटेसी के कारण। फैंटेसी (स्वप्नदर्शिता) अन्तर्मुखता को जन्म देती है और चेतनता उसे तोड़ने का उपक्रम करती है। अन्तर्मुखता की ओर जाने वाली फैंटेसी उत्तरोत्तर मुक्तिबोध की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती गयी है; किन्तु उनका विवेक आत्मग्रस्तता को तोड़ने की दिशा में विकसित होता गया है। इसमें संस्कार और विवेक में एक स्थायी द्वन्द्व उत्पन्न होता है जो अन्त तक चलता है, और दृढ़ होता है। अन्तर्मुखता—आत्मग्रस्तता और उसे तोड़ कर जन-जीवन में एकमेक होने का प्रयत्न, इस आत्मगत संघर्ष से निष्पन्न उनकी काव्य-संरचना गीतात्मकता से बचने और नाटकीयता अर्जित करने की दिशा में अग्रसर होती है। गीतात्मकता आत्मग्रस्तता से गहरे तौर पर सम्बद्ध है इसलिए मुक्तिबोध में उसके प्रभावशाली तत्व देखे जा सकते हैं। किन्तु, उनकी स्वाभाविक दिशा यह नहीं है—वह है नाटकीयता में विकास। वह कहाँ तक सफल या असफल है, यह प्रश्न अलग है। कारण यह कि द्वन्द्व उनमें समाप्त होने या घटने के बजाय घुमड़ता हुआ है। विवेक 'अभिव्यक्ति के खतरे' उठा कर सीधी-साफ अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करता है, लेकिन सहज प्रवृत्ति फैंटेसी में कविता रचने को विवश करती है। यह अवधारणा अव्यावहारिक नहीं है कि उनका द्वन्द्व किसी प्रकट या प्रच्छन्न प्रचारात्मक उद्देश्य से जोड़ा हुआ है। उनके आत्मसंघर्ष की यह भूमिका हो सकती है कि संघर्ष को 'सबवर्सिव' तरीके से मार्क्सवाद और समझौतों के नजदीक लाये। किन्तु, इसी उद्देश्य के लिए यदि उनका आत्मसंघर्ष बनाया गया होता तो उनमें यह जीवन्त न होती जो उन्हें अन्य कवियों से सर्वथा भिन्न बनाती है।

---

१. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० ७४।

इसी प्रसंग में एक अन्य पहलू पर विचार करना आवश्यक है। वह है नाटकीय और फैण्टेसी विधान के उपकरणों का प्रयोग।

नाटकीय द्वन्द्व गहरी तर्क-योजना द्वारा निर्धारित होता है। फैण्टेसी में प्रकटतः ऐसी तर्कबद्धता अनिवार्य नहीं है। जब मुक्तिबोध कहते हैं—

"नहीं होती कहीं भी खत्म कविता नहीं होती
कि वह आवेग त्वरित काल-यात्री है।"[1]

तो वे एक बात से दो अर्थ ध्वनित करते हैं। एक तो यह कि परस्पर सम्बद्ध यथार्थ के तत्व जटिल अन्तस्सम्बद्धता में विकसित होते हैं और कविता यथार्थ से सम्बद्ध होती है, इसलिए वह कभी खत्म नहीं होती।[2] दूसरे यह कि स्वप्न-चित्रों के संयोजन के कारण फैण्टेसी में कभी खत्म न होने की स्थिति बनी रहती है। फैण्टेसी वस्तुतः एक रूपान्तरित प्रक्रिया है। उसके स्वप्न-चित्र प्रकटतः असम्बद्ध होकर भी आन्तरिक क्रमबद्धता और तर्क-योजना से अनुशासित होते हैं। स्वप्न मनुष्य की प्रयत्न-निरपेक्ष कृति है इसलिए उसमें यह क्रमबद्धता जरूरी नहीं है। फैण्टेसी की असम्बद्धता जीवन की विसंगतियों को उद्घाटित करने और अपने अभीष्ट आशय को प्रेषित करने के लिए सजग प्रयत्न द्वारा अर्जित है, इसलिए फैण्टेसी खुद स्वप्न-चित्र होकर भी तर्कहीनता में परिणत नहीं होती।

मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' का संक्षिप्त अवलोकन अनेक दृष्टियों से लाभकर हो सकता है।

कविता आठ खण्डों में विभक्त है। और साथ ही, स्वप्न और जागृति के दोहरे स्तरों की भाँति द्वन्द्व और विकास के भी दोहरे स्तरों पर चलती है। आरम्भ में जो अपरिचित अपरिमापित चेहरा उभरता है वह धीरे-धीरे परिचय में बदलता है। जो पहले अनिश्चयसूचक प्रश्न था वह क्रमशः 'सम्भावित स्नेह-सा प्रिय रूप' और 'अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति' बनता है। वाचक नायक जब इस मुक्तिपुरुष से टकराता है तो उसमें अन्तर्द्वन्द्व पैदा होता है। 'मैं' और रक्तालोकस्नात पुरुष दोनों प्रयत्नरत हैं और दोनों के प्रयत्न से परिचय स्थापित होता है। उसके विवेक-विक्षोभ, जगत् समीक्षा और द्युति आहृति-सा

---

1. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० १६३।
2. दे० 'एक साहित्यिक की डायरी', पृ० ३०।

भविष्य का नशा वाचक नायक को बिजली के झटके दे-दे कर विकल्प से संकल्प की अवस्था में लाते हैं। अब वह उन्हें स्वीकार करने लगा है।

वाचक नायक मध्यवर्गीय व्यक्ति है और रक्तालोकस्नात पुरुष की प्रतिमा उसकी गुरु है, परम अभिव्यक्ति है और कथा-व्यथा नहीं है अर्थात्, वाचक नायक कवि का संवेदनात्मक ज्ञान है और रक्तालोकस्नात पुरुष कवि का संवेदनात्मक उद्देश्य। जैसे मध्यवर्गीय व्यक्ति के लिए आर्थिक हैसियत और सांस्कृतिक स्वप्न के अन्तर्विरोध के कारण उस गुरु को पाने की अदम्य आकांक्षा और अपनी कमजोरियों से लगाव, दोनों साथ-साथ हैं, वैसे ही संवेदनात्मक ज्ञान और संवेदनात्मक उद्देश्य में अन्तर्विरोध है। समस्या है ज्ञान को उद्देश्य से जोड़ने की।

यह सही है कि मुक्तिबोध अन्तर्द्वंद्व को मानसिक संकल्प में परिणत करके भविष्य की राह सुझाते हैं। कविता के तीसरे खण्ड में वे एक प्रोसेशन देखते हैं जिसमें कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल, सेनाध्यक्ष, प्रकाण्ड आलोचक, विचारक, जगमगाते कविगण, मंत्री, उद्योगपति और "यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात डोमा जी उस्ताद" भी शामिल हैं। यह प्रोसेशन भीतर के राक्षसी स्वार्थ का प्रतीक है इसलिए किसी मृत दल की शोभा-यात्रा मालूम पड़ता है।[1] कवि ने व्यवस्था का वास्तविक चेहरा देख लिया है—साफ-साफ :

"हाय, हाय ! मैंने उन्हें देख लिया नंगा,
इसकी मुझे और सजा मिलेगी।"[2]

इस यथार्थ दर्शन के बाद संघर्ष और सक्रियता की अपेक्षा की जाती है। किन्तु ऐसा नहीं होता। एक कथा-प्रवाह को रोक कर बीच-बीच में उसी के अनुषंग के रूप में भिन्न चित्रों का संयोजन करके मुक्तिबोध कविता को फलक प्रदान करते हैं। लेकिन गौर करने की बात यह है कि व्यवस्था को नग्न रूप में देख लेने के बाद फिर वे आत्मकेन्द्रित, अन्तर्मुखी होते हैं। मटमैला मन-रूपी बल्मीक ऊबड़-खाबड़ होता है। काली-काली हाथनुमा-डंडों की नोकें निकलती हैं और मटमैला भीतर घुसती हैं। काले-काले महतीर छत के हृदय दबोचते हैं। इस अन्तर्मुखता को तोड़ते हैं 'अखबारी दुनिया का फैलाव / फँसाव, घिराव, तनाव' का सर्वव्यापी

---

१. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० २७१।
२. वही, पृ० २७५।

प्रसंग लाकर। सकल्प-विवेक जागृत होने के बाद फिर अन्तर्मुखता—यह केवल फैण्टेसी-विधान की सुविधा नही है, मुक्तिबोध का अन्तस्सघर्ष है जिसमे वे ताजिन्दगी मुब्तला रहे।

विक्षिप्त जन के गीत के बाद फैण्टेसी टूटती है, इस घोषणा से कि "सपनों में चलता है आलोचन / विचारों के चित्रों की अवलि में चिन्तन।"[१] फैण्टेसी टूटती है और आत्मसंकेन्द्रण दृढ़ होता है: "मानो मेरे ही कारण लग गया / मार्शल ला यह / मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने सकट बुलाया ..." आदि।[२] अतिरिक्त आत्मालोचना भी आत्मग्रस्तता का ही नतीजा है। मुक्तिबोध को बार-बार सजग होकर इस आत्मालोचना को अन्तर्मुखी होने से बचाना पड़ता है। रात्रि के क्षालित ओस में खँडहर प्रासादों के उद्यान से आती किसी गुरु-गम्भीर महान् अस्तित्व की महक मे 'कोई छिपी वेदना, कोई गुप्त चिन्ता' छटपटाती हुई अनुभव होती है। और चौथा खण्ड यहाँ खत्म होता है।

स्थिति का वर्गीय मूल्यांकन हो चुका है—खँडहर प्रासादों के उपेक्षित, गरीब लोग एक ओर और व्यवस्था का संगठित प्रोसेशन दूसरी ओर। फलतः सकर्मक चेतना के लिए आधार-भूमि तैयार होती है। तिलक की पाषाण मूर्ति का गहन क्षोभ और गांधी जी का संवाद उसमे कर्म-चेतना उत्पन्न करते हैं। अब वह जान जाता है कि :

> "मिट्टी के लोंदे में किरणीले कण-कण
> गुण हैं,
> जनता के गुणों से ही सम्भव
> भावी का उद्भव ...।"[३]

लेकिन इस ज्ञान से पूर्व आत्मग्रस्तता का एक तेज झोंका आता है। खण्ड-६ के उपर्युक्त निष्कर्षों से पूर्व खण्ड-५ मे याचक-नायक कन्धे पर बरगद के पत्ते के गिरने को संकेत मान कर भागता है। अनेक मोड़ घूमते हुए वह एक मुंदे हुए घर की पत्थर-सीढ़ी पर बैठ जाता है। यहाँ वह अपने को एक खोह मे पाता है—यह खोह उसके निज के भीतर की खोह है। इस आभ्यन्तर आवृत गुहा मे पैठ कर वह

१. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० २७८।
२. उपर्युक्त, पृ० २७९।
३. उपर्युक्त, पृ० २८९।

तिमिर को भेदता है और चमकते हुए पत्थर, मणि तेजस्क्रिय रेडियो ऐक्टिव रत्न बिखरे हुए पाता है, 'झरता है जिन पर प्रबल प्रपात एक।' लहरों के तल में से इन 'रत्नों की रंगीन रूपों की आभा फूट निकलती' है और खोह की बेडौल भीतें झिलमिल होती हैं। अन्तर्मुखता जैसे उनमें आन्तरिक शक्ति, ज्योति उत्पन्न करती है।

आन्तरिक द्वन्द्व की स्थितियाँ उनमें इतनी मूलबद्ध हैं कि वे उनसे निरंतर संघर्ष करते हैं लेकिन छुटकारा नहीं पाते। इस बौद्धिक तनाव के कारण वैचारिक स्तर पर सर्वहारा के क्रान्तिकारी आदर्शों को अंगीकार करते हुए भी वे अपनी वैयक्तिकता को सार्वजनीन नहीं बना पाते। कविता की सामान्य कथा चलती है, विकसित होती है, लेकिन आत्मसंघर्ष का दूसरा धरातल भी निरन्तर चलता रहता है। इसलिए आत्म-ग्रस्तता और उसे तोड़ने का संकल्प, प्रयत्न और फिर आत्मग्रस्तता की एक नयी परत—यह भी आद्यन्त कविता में विद्यमान रहता है। इसीलिए सभी निष्कर्ष हासिल कर लेने के बावजूद क्रान्ति का चित्र स्वप्न में बन कर आता है, बाधक नायक के विवेक-विरोधों को लेकर जो लोग बढ़ रहे हैं वे आगे निकल जाते हैं और वह लोगों की पाँतें पार करके बढ़ता है तो भी पश्चात्पद रह जाता है। वह अकेला, बौद्धिक जुगाली में अपने से दुकेला चलता है। विवेक-निष्कर्षों का तीव्र आकर्षण—जो कविता में प्रकाश और ज्योति के माध्यम से व्यक्त होता है—और सक्रिय चेतना पर आत्मग्रस्तता का अन्धकार, दोनों कविता में समान रूप से व्याप्त हैं।

कहने की ज़रूरत नहीं कि नाटकीय द्वन्द्व के पैटर्न पर विकसित मुक्तिबोध की फैंटेसी एक ओर तो प्रबन्ध की सीमा का स्पर्श करती है और दूसरी ओर प्रबल आत्मग्रस्तता के कारण आत्मगत स्थितियों और निकटवर्ती परिवेश से बँध कर गीतात्मक चरित्र धारण करती है। यह परस्परविरोधी स्थिति उनकी फैंटेसी में अनु-गुंफित होकर सहज रूप से व्याप्त रहती है। दो अन्तर्विरोधी तत्त्व एकीभूत होते हैं क्योंकि प्रखर भावबद्धता के साथ-साथ गहरी आन्तरिक तर्कबद्धता से फैंटेसी का शिल्प निर्मित होता है।

मुक्तिबोध की कृतियों में अनेक बार स्वप्न और जागृति के बीच स्थितियाँ बदलती हैं, स्वप्न टूटते हैं और जागृति में कवि उनके अर्थों के संकेत-सूत्र देता है। स्वप्न और जागृति के माध्यम से कवि अपने शिल्प का विकास निर्धारित कर सकता है। बहुत बार स्वप्न में ही 'सीन बदलता है'।[1] अपेक्षित अर्थ-सन्दर्भ देने के लिए कवि

---

1. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० २८१।

को चित्रों को बरतने की पूरी छूट है। यदि प्रकट तर्कहीनता की गुञ्जाइश न होती, गैर-फैण्टेसी शिल्प होता तो गांधी जी वाचक नायक को जो शिशु दे जाते हैं वह रोता-चिल्लाता चाहे जितना, शिशु से प्रकाश की किरणें बिखेरने वाले सूरजमुखी और फिर वजनदार रायफल में उनका रूपान्तरण सम्भव नहीं था। अस्तु!

फैण्टेसी का यह विशिष्ट चरित्र ही कथा के विस्तार और आयाम को निश्चित विकास नहीं पाने देता। घटनाएँ प्रकटतः तर्कहीन प्रवाह में होती हैं—इसलिए काल और देश का फलक उतना प्रासंगिक नहीं रह जाता। घनत्व होता है, लेकिन देश-कालगत निश्चित दृश्यफलक के बिना वह नाटकीय संरचना खड़ी नहीं कर पाता। इसलिए डॉ० रामविलास शर्मा का यह निष्कर्ष संगत जान पड़ता है कि मुक्तिबोध की कविता का नाटकीय तत्त्व सीमित है। किन्तु, उनकी यह मान्यता ठीक नहीं जान पड़ती कि मुक्तिबोध का शिल्प प्रगीतात्मक है। उपर्युक्त विवेचन से हम यह देख सकते हैं कि गीतात्मक वृत्ति मुक्तिबोध में है, किन्तु उनका प्रयत्न उसे तोड़ने और नाटकीयता में विकसित करने की दिशा में है।

गैर-फैण्टेसी कविताओं में यह विवाद पैदा नहीं होता। नागार्जुन की कविता 'हरिजन गाथा' का संक्षिप्त विश्लेषण फैण्टेसी की संरचना से नाटकीय संरचना का अन्तर जानने में सहायक हो सकता है।

कविता तीन खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में उस पाशविक घटना का अंकन है जिसमें तेरह अकिंचन मनुपुत्रों को "साधनसम्पन्न ऊँची जातियों वाले सौ-सौ मनुपुत्रों द्वारा"[1] प्रचण्ड अग्नि की लपटों में झोंक दिया गया था। 'ऐसा तो कभी नहीं हुआ था' की पुनरावृत्ति द्वारा इस घटना पर कवि का विस्मय, आक्रोश व्यक्त हुआ है। दूसरा खण्ड विस्तृत है। हत्याकाण्ड के बाद एक अनोखे शिशु का जन्म, हरिजन बंधुआ-मजदूरों की चिन्ताएँ, संत गरीबदास का आना और बच्चे का भविष्य बताना। तीसरे खण्ड में बुद्धू और खदेरन द्वारा शिशु को हरिया, गिरिडीह या बोकारो भेजने की योजना है।

प्रकटतः एक कथा है जो बिना काव्यात्मक उपकरणों के कह दी गयी है। छन्द भी पूरी कविता में नहीं है; सांकेतिकता भी नहीं है, बल्कि निपट अभिधा की भाषा है, विन्यास भी अधिक जटिल नहीं है। फिर कविता की शक्ति कहाँ है, क्या है?

---

1. 'हरिजन गाथा', पृ० २।

सबसे पहले, 'ऐसा तो कभी नहीं हुआ था' की पुनरावृत्ति के माध्यम से हरिजन-दहन की अभूतपूर्व पशुता की व्यंजना, और फिर गरीबदास की भविष्यवाणी के साथ 'दिल ने कहा' ' की पुनरावृत्ति द्वारा भविष्य की सम्भावनाओं का संकेत। जो हो चुका है वह इतना पाशविक है कि पहले कभी नहीं हुआ। और जो होगा वह इतना मानवीय है कि मनुष्य हमेशा से उसके सपने देखता रहा है। जो अभूतपूर्व है वही भविष्य की सम्भावना के द्वार खोलता है। नागार्जुन की कविता का यह द्वयात्मक—इतिहास का यह बोध कविता को दिशात्मक गति प्रदान करता है।

दूसरी बात, सीमित देश और कविता में घटित होने वाली घटनाओं की दृष्टि से सीमित काल में ही इतिहास अपनी पूरी गतिमयता के साथ व्यक्त हुआ है। पूरी कविता एक ही देश-बिन्दु पर घटित होती है—जहाँ बुद्ध और खदेरन मुसु से बैठे हैं। स्थान बदलता है क्षण भर के लिए जब गुरु जी नदी किनारे चले गये। अधेड़ गुरु जी विगत के अनुभव-रूप और अनागत के प्रवक्ता हैं। नदी किनारे जाते समय 'वह था मानो पीछे-पीछे, आगे थी भास्वर शिशु छाया।'[1] इससे उनके मन का यह विश्वास पाठक की चेतना पर और भी सघन रूप में अंकित हो जाता है कि 'जुलुम मिटायेंगे धरती से इसके साथी और संघाती।'[2] गुरु जी विगत और अनागत को जोड़ते हैं—ऐतिहासिक तजुर्बों में भविष्य को पहचानते हैं और इस तरह अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुकने पर नदी किनारे निकल जाते हैं, कुटी में नहीं लौटते।

तीसरी बात, कविता में घटनाएँ अधिक नहीं घटती। घटनाएँ या तो पृष्ठ-भूमि में हैं या भविष्य की सूचना में। इस अर्थ में इसका रचना-विधान 'राम की शक्तिपूजा' जैसा जटिल नहीं है। यह कविता जिस पाठक वर्ग को सम्बोधित है उसके लिए इससे जटिल संरचना दुर्बोध भी होती और कला की दृष्टि से अविश्वसनीय भी। जहाँ कबीर जैसे कमायादी जनता को यथार्थस्थितिवाद का उपदेश देते हैं वहीं वे भी भाषा और रचना बेहद साधारण रखते हैं : "अच्छा अपना ठाट फकीरी, संगती के सुख-नाद से" आदि। जहाँ कविता की संरचना अपने सम्बोधित पाठक से सम्प्रेषण में बाधक बने और कृति और पाठक में दूरी पैदा करे वहाँ कला की असफलता होती है। धूमिल की कविता 'मोचीराम' अपनी तमाम चमत्कारप्रियता और अति-

---

1. 'हरिजन गाथा', पृ० १०।
२ उपर्युक्त, पृ० ९।

मक्षी तेवर के बावजूद संवेद्य और प्रभविष्णु नहीं बन पाती, जबकि नागार्जुन की कविता में यह दोष नहीं है।

रचना-विधान सरल है इसलिए एकाध छोटी-मोटी घटना को छोड़कर और कोई घटना कविता में घटित नहीं होती। घटनाएँ या तो घट चुकी हैं और गहरे विषाद, क्रोध और सनसनी को जन्म देकर उन्हीं के रूप में मौजूद हैं (अर्थात् चेतना के स्तर पर घट रही हैं) या जो होना चाहिये और जो होगा उसका उल्लेख है। लेकिन घटित घटनाओं का प्रभाव इतना गहरा है कि अघटित के संकेतों से जुड़ कर कविता अपना पूरा प्रभाव अंकित कर देती है। जब यह दुर्घट घटित हुआ, उन स्त्रियों के सामने वह जिन्दा जलाया जा रहा था जिसका भ्रूण पेट में है तो वे एक अजीब बेचैनी और आकुलता अनुभव करने लगी और

"उनकी गर्भकुक्षियों के अन्दर
बार-बार उठने लगी टीसें
लगाने लगे दौड़ उनके भ्रूण
अन्दर ही अन्दर"[1]

भ्रूणों के जनक बाहर जलाये जा रहे हैं और भ्रूण बेचैन हो रहे हैं। विवश माताएँ स्तम्भित हैं और इस अनाचार का प्रतिरोध नहीं हो रहा है। जो प्रभाव बाहर दिखाने से संवेदनहीनता प्रकट होती, उसे स्थापित करने के लिए कवि ने परिचित वस्तुओं में से ऐसा कुछ चुन लिया कि अन्ततः में पहुँची उस भयानकता को पूरी शक्ति से व्यक्त करने में सफल हो सका। भ्रूणों की आकुलता और क्षोभ जनकों की पीड़ा से उत्पन्न है। उसने यह विपदा 'सूक्ष्म रूप में' झेली है इसलिए माँ के पेट से ही अपनी हथेलियों में खुखरी, भाला, गँडासा, बम, तलवार आदि का निशान लेकर पैदा हुआ है। वह अभिमन्यु की तरह पेट में सीख नहीं रहा है, सामाजिक शोषण के सबसे हैवानी आतंक को झेल रहा है।

कविता में जिस तरह हत्याकाण्ड का वर्णन नहीं है, उसके प्रभाव की व्यंजना है, उसी तरह गरीबदास की वाणी में शिशु का वर्णन नहीं है, शिशु के विषय में, उसकी भावी गतिविधियों के बारे में संत-गुरु के उद्‌गार हैं। गुरु जी कहते हैं कि वह जुल्म मिटायेगा, खान खोदने वालों के बीच पलेगा, युग की आँखों में फौलादी

1. 'हरिजन गाथा', पृ० २।

साँचे-सा वहीं ढलेगा, इसके डर से आततायी काँपेंगे, इसके साथी सहयोद्धा और अनुचर होंगे, अपनी पार्टी होगी, इत्यादि। और,

"इस कलुए की तदबीरों से
शोषण की बुनियाद हिलेगी।"[1]

यह क्रांतिकारी नैतिकता का व्यावहारिक आदर्श है जिसे नागार्जुन 'कलुए' में मूर्तिमान करते हैं। सच्चा क्रांतिकारी श्रमिक वर्ग की जीवन-स्थितियों में पलेगा, उसी की विचारधारा और संस्कृति का अंग होगा, संघर्षों की आँच में तपकर फौलाद बनेगा, तभी वह शोषण की बुनियाद हिलायेगा। मध्यवर्गीय सुविधावाद या कुलीनतावादी संस्कार अथवा वैचारिक अंतर्विरोध क्रांतिकारी मार्ग से भटका कर श्रमिक जनता से दूर ले जाता है। इस परिस्थिति में साहित्यकार तो दूर, कम्युनिस्ट पार्टी के नेता भी पार्टी की बैठकों में "मार्क्सिज्म-लेनिनिज्म माई फुट" जैसी भाषा का इस्तेमाल करने लगते हैं। इसलिए नागार्जुन का नायक गौरवर्ण भव्य ललाट अजानुभुज न होकर 'कलुआ' है—जो ऊपर से हेठा जान पड़ता है, मगर भीतर से वह सच्चे आदर्श की मूर्तिमान संभावना है।

प्रकटतः मुक्तिबोध की तरह नागार्जुन कविता के शिल्प-विकास में शामिल नहीं हैं, उससे तटस्थ हैं। एक तरफ सूत्रधार का वाचन : हरिजन-दहन और सवर्णी-सामन्तों का सुपर-मौज का मूड, उल्लास। आदमी को आदमी भून रहा है और यह भी योजनाबद्ध तरीके से। जैसे कुछ असहज, अस्वाभाविक नहीं हो रहा है। यह सहजता, स्वाभाविकता ही घटना की अमानवीयता को अधिक तीखेपन से ध्वनित करती है। कवि की यह तटस्थता ही कविता को अधिक नाटकीय बनाती है। कहने की जरूरत नहीं कि 'हरिजन गाथा' की नाटकीयता घट चुकी घटना और भविष्य के संकेतों के बीच से ध्वनि अर्जित करती है और काव्य-प्रसार में इस तरह फैल जाती है कि कवि को, अलग से कुछ बोलने की जरूरत नहीं पड़ती, जो कुछ प्रकट व्यापार है वही सारे अर्थ खोलता है। यह नाटकीयता प्रकट व्यापार द्वारा ही आन्तरिकता में प्रवेश करती है।

चूँकि कविता में घटनाएँ अधिक नहीं हैं, इसलिए संवाद और स्मृति के माध्यम से सारा मूर्ति-विधान निर्मित है और इस क्रम में सहज भावाभिव्यक्ति की मुद्राएँ प्रखरता से उभरती हैं। इसकी नाटकीयता की यह एक और विशेषता है।

---

1. 'हरिजन गाथा', पृ० १०।

भदी तेवर के बावजूद संवेद्य और प्रभविष्णु नहीं बन पाती, जबकि नागार्जुन की कविता में यह दोष नहीं है।

रचना-विधान सरल है इसलिए एकाध छोटी-मोटी घटना को छोड़कर और कोई घटना कविता में घटित नहीं होती। घटनाएँ या तो घट चुकी हैं और गहरे विषाद, क्रोध और सनसनी को जन्म देकर उन्हीं के रूप में मौजूद हैं (अर्थात् चेतना के स्तर पर घट रही हैं) या जो होना चाहिये और जो होगा उसका उल्लेख है। लेकिन घटित घटनाओं का प्रभाव इतना गहरा है कि अघटित के संकेतों से जुड़ कर कविता अपना पूरा प्रभाव अंकित कर देती है। जब यह दुर्घट घटित हुआ, उन स्त्रियों के सामने वह जिन्दा जलाया जा रहा था जिसका भ्रूण पेट में है तो वे एक अजीब बेचैनी और आकुलता अनुभव करने लगी और

> "उनकी गर्भकुक्षियों के अन्दर
> बार-बार उठने लगी टीसें
> लगाने लगे दौड़ उनके भ्रूण
> अन्दर ही अन्दर"[1]

भ्रूणों के जनक बाहर जलाये जा रहे हैं और भ्रूण बेचैन हो रहे हैं। विवश माताएँ स्तम्भित हैं और इस अनाचार का प्रतिरोध नहीं हो रहा है। जो प्रभाव बाहर दिखाने से संवेदनहीनता प्रकट होती, उसे स्थापित करने के लिए कवि ने परिचित वस्तुओं में से ऐसा कुछ चुन लिया कि अन्तस् में पहुँची उस भयानकता को पूरी शक्ति से व्यक्त करने में सफल हो सका। भ्रूणों की आकुलता और क्षोभ जनकों की पीड़ा से उत्पन्न है। उसने यह विपदा 'सूक्ष्म रूप में' झेली है इसलिए माँ के पेट से ही अपनी हथेलियों में खुखरी, भाला, गँडासा, बम, तलवार आदि का निशान लेकर पैदा हुआ है। वह अभिमन्यु की तरह पेट में सीख नहीं रहा है, सामाजिक शोषण के सबसे हैवानी आतंक को झेल रहा है।

कविता में जिस तरह हत्याकाण्ड का वर्णन नहीं है, उसके प्रभाव की व्यंजना है, उसी तरह गरीबदास की वाणी में शिशु का वर्णन नहीं है, शिशु के विषय में, उसकी भावी गतिविधियों के बारे में संत-गुरु के उद्‌गार हैं। गुरु जी कहते हैं कि वह जुल्म मिटायेगा, खान खोदने वालों के बीच पलेगा, युग की आँखों में फौलादी

---

1. 'हरिजन गाथा', पृ० २।

सांचे-सा वही ढलेगा, इसके डर से आततायी कांपेंगे, इसके साथी सहयोद्धा और अनुचर होंगे, अपनी पार्टी होगी, इत्यादि। और,

"इस बबुए की तदबीरों से
शोषण की बुनियाद हिलेगी।"[1]

यह क्रान्तिकारी नैतिकता का व्यावहारिक आदर्श है जिसे नागार्जुन 'बबुए' में मूर्तिमान करते हैं। सच्चा क्रांतिकारी श्रमिक वर्ग की जीवन-स्थितियों में पलेगा, उसी की विचारधारा और संस्कृति का अंग होगा, संघर्षों की आंच में तपकर फौलाद बनेगा, तभी वह शोषण की बुनियाद हिलायेगा। मध्यवर्गीय सुविधावाद या कुलीनतावादी संस्कार अथवा वैचारिक अंतर्विरोध क्रांतिकारी मार्ग से भटका कर श्रमिक जनता से दूर ले जाता है। इस परिस्थिति में साहित्यकार तो दूर, कम्युनिस्ट पार्टी के नेता भी पार्टी की बैठकों में "मार्क्सिज्म-लेनिनिज्म माई फुट" जैसी भाषा का इस्तेमाल करने लगते हैं। इसलिए नागार्जुन का नायक गौरवर्ण भव्य ललाट अजानुभुज न होकर 'बबुआ' है—जो ऊपर से हेठा जान पड़ता है, मगर भीतर से वह सच्चे आदर्श की मूर्तिमान संभावना है।

प्रकटतः मुक्तिबोध की तरह नागार्जुन कविता के शिल्प-विधान में शामिल नहीं हैं, उससे तटस्थ हैं। एक तरफ सूत्रधार का कथन : हरिजन-दहन और सवर्ण-सामन्तों का सुरा-भोज का दृश्य, उल्लास। आदमी को आदमी भून रहा है और वह भी योजनाबद्ध तरीके से। जैसे कुछ असहज, अस्वाभाविक नहीं हो रहा है। यह सहजता, स्वाभाविकता ही घटना की अमानवीयता को अधिक सीधेपन से अंकित करती है। कवि की यह तटस्थता ही कविता को अधिक नाटकीय बनाती है। कहने की जरूरत नहीं कि 'हरिजन गाथा' की नाटकीयता घट चुकी घटना और भविष्य के संकेतों के बीच से शक्ति अर्जित करती है और काव्य-प्रसार में इस तरह फैल जाती है कि कवि को अलग से कुछ बोलने की जरूरत नहीं पड़ती, जो कुछ प्रकट व्यापार है वही सारे अर्थ खोलता है। यह नाटकीयता प्रकट व्यापार द्वारा ही आन्तरिकता में प्रवेश करती है।

चूंकि कविता में घटनाएँ अधिक नहीं हैं, इसलिए संवाद और स्मृति के माध्यम से सारा मूर्ति-विधान निर्मित है और इस क्रम में सहज भावाभिव्यक्ति की मुद्राएँ प्रखरता से उभरती हैं। इसकी नाटकीयता की यह एक और विशेषता है

---

१. 'हरिजन गाथा', पृ० १०।

होती हैं। द्वन्द्व का मूल प्रदेश आन्तरिक है। इसलिए उनकी काव्य-संरचना बहिर्मुख नहीं हो पाती। गीतात्मकता इसी धरातल से सम्बद्ध है और मुक्तिबोध के लिए फैण्टेसी इस गीतात्मकता से बचने का, नाटकीयता अर्जित करने का एक माध्यम है। इस नाटकीयता की सीमाएँ इसलिए बनती हैं कि फैण्टेसी में देश-कालगत आयाम बहुत प्रासंगिक नहीं रह जाता, आत्मगत धरातल प्रमुख हो जाता है। मुक्तिबोध फैण्टेसी के चित्रों में ही इस आत्मग्रस्तता से बचने का यत्न करते हैं, उसे वस्तुगत बनाने के लिए संघर्ष करते दिखायी देते हैं।

हम देखते हैं कि मुक्तिबोध और नागार्जुन काव्य की संरचना के दो ध्रुवों पर स्थित हैं। नागार्जुन की नाटकीयता अधिक मुखर और प्रबन्धात्मक है क्योंकि वे रचना के शिल्पगत विधान में तटस्थ रहते हैं। मुक्तिबोध शिल्प में अपनी तल्लीनता तोड़ नहीं पाते, लेकिन गीतात्मकता से बचने के लिए संघर्षरत हैं, इसलिए फैण्टेसी उनके लिए कवच का काम करती है।

इस विस्तृत विवेचन का उद्देश्य यह देखना था कि प्रगतिशील कविता में शिल्प सम्बन्धी दो भिन्न दृष्टियाँ किस तरह प्रतिफलित होती हैं और उनकी काव्य-संवेदना का सामाजिक आधार क्या है? मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष जिन संस्कारों से मुक्ति के लिए चलता है वे मध्यवर्गीय जीवन से प्राप्त हैं। वे सर्वहारा वर्ग की विचारधारा अपनाते हैं, लेकिन मध्यवर्गीय संस्कारों से पूर्णतः मुक्ति नहीं पाते। इसलिए मध्यवर्ग की आधार-भूमि से श्रमजीवी जनता के साथ बौद्धिक सहानुभूति व्यक्त करते हैं। संस्कार और विचार के इस भेद से काव्य के रूप और वस्तु में एक द्वंद्व उत्पन्न होता है। फलतः प्रगतिशील वस्तु और प्रयोगवादी रूप में सामञ्जस्य का प्रयत्न होता है और कविता (कवि की आत्मग्रस्त प्रतिक्रियाएँ वहन करते-करते) जन-संस्कृति से दूर जा सकती है।

इससे भिन्न, नागार्जुन की कला उस प्रगतिशील कला का उदाहरण है जो श्रमजीवी सर्वहारा से अपने तदाकार होने में ही सच्ची सार्थकता मानती है। फलतः श्रमजीवी जनता के भाव-संस्कार कविता में पूर्णतः घुल-मिल जाते हैं और कविता जन-जीवन के अधिक नजदीक पहुँचती है, जनता से सीधे संवाद कायम करती है और जन-संस्कृति के बोध से अपनी शक्ति अर्जित करती है।

---

# बिम्ब

## बिम्ब, प्रतीक, मिथक और प्रत्यय

अक्सर यह मान लिया जाता है कि बिम्ब और प्रतीक समानार्थक हैं क्योंकि दोनों कला को चित्रमय बनाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बिम्ब और प्रतीक दोनों चित्रों और मूर्तियों की उद्भावना करते हैं इसलिए रचना के विषय में संश्लिष्टता और रूप में गठन एवं मूर्तता लाते हैं, लेकिन इस आधार पर दोनों को एक मान लेना संगत नहीं है। बिम्ब हमारे ज्ञान का प्राथमिक आधार है। बिम्ब केवल चाक्षुष नहीं होते, उन्हें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के पाँच संवर्गों में विश्लेषित किया गया है। इसलिए बिम्ब हमारे संवेदनात्मक बोध के सभी रूपों, प्रकारों के मूल घटक हैं लेकिन प्रतीक हमारे संवेदनात्मक बोध से अधिक संवेदनात्मक उद्देश्य से जुड़े होते हैं। संक्षेप में, बिम्ब बाह्य जगत् से हमारे साक्षात्कार की, बाह्य जगत् को आत्मसात् करने की मूल युक्ति हैं और प्रतीक बाह्य पर आत्म का प्रक्षेपण। मूर्ति-विधान अथवा चित्र-निर्माण दोनों का मध्यवर्ती सम्बन्ध-सूचक बिन्दु है। कदाचित् इसीलिए प्रतीकात्मक रूप का दर्शन प्रतिपादित करते हुए अर्नस्ट कासिरेर कहते हैं कि प्रतीकों का निर्माण बिम्बों द्वारा ही किया जाता है, फिर भी दोनों के बीच एक पार्थक्य की स्थिति बनी रहती है। इसका कारण यह है कि बिम्ब स्वतःसम्भवी होते हैं जबकि प्रतीक बौद्धिक प्रयत्नों द्वारा निर्मित होते हैं।[1]

जाहिर है कि बिम्ब हमारी विशिष्ट अन्तर्वृत्तियों से सम्पृक्त होकर अर्थ-विशेष अथवा प्रभाव-विशेष के संकेतक की भूमिका निभाने लगते हैं और इस प्रकार

---

१. 'फिलासफी ऑफ सिम्बालिक फार्म', पृ० ९९।

घनीभूत बिम्ब ही प्रतीकार्थ धारण करते हैं। दूसरे शब्दों में, अतिरिक्त आशय से गर्भित होकर बिम्ब ही प्रतीक बनते हैं। बिम्बों को यह अतिरिक्त आशय हम अपने बौद्धिक प्रयत्नों द्वारा प्रदान करते हैं इसलिए उसे बिम्बों का अलंकरण भी कहा जा सकता है। बौद्धिक उन्मेष के साथ मनुष्य की चेतना अधिक-से-अधिक वस्तु-निष्ठता की दिशा में विकसित होती है; किन्तु प्रतीक की रचना में निहित बौद्धिक प्रयत्न वस्तुतः आत्मनिष्ठता को बढ़ाने में मददगार होता है क्योंकि इसके जरिये हम किसी बिम्ब पर आत्मगत भाव या विचार का प्रक्षेपण, उसका आरोपण करते हैं। बौद्धिक प्रयत्न और आत्मगत प्रक्षेपण के इस विरोधाभास से न केवल यह सिद्ध होता है कि बिम्ब और प्रतीक में द्वैत का होना स्वाभाविक है, बल्कि यह भी पता चलता है कि प्रतीक अभिव्यक्ति का स्वाभाविक माध्यम नहीं रह जाते।

प्रतीक अभिव्यक्ति के कितने अस्वाभाविक माध्यम हैं इसका अनुमान स्वयं प्रतीकवादी चिन्तक ए० एम० ह्वाइटहेड की मान्यताओं द्वारा लगाया जा सकता है। ह्वाइटहेड के अनुसार 'प्रतीक सन्दर्भ' का समुचित ज्ञान हुए बिना प्रतीकार्थ तक पहुँच पाना असम्भव है क्योंकि प्रतीक की अर्थवत्ता प्रयोगकर्ता की मनोदशा पर निर्भर है। इतना ही नहीं, किसी प्रतीक का ठीक-ठीक अर्थ पाने के लिए जरूरी है कि प्रयोगकर्ता की मनोदशा के उस क्षण-विशेष का मूल्यांकन किया जाय जिसमें प्रतीक अर्थगर्भ हुआ है।'[1] इस तरह, प्रतीक का अर्थ पाने के लिए कलाकृति मात्र का आधार पर्याप्त नहीं है, उसके लिए कवि की मनोदशाओं के गूढ़ातिगूढ़ क्षणों का विश्लेषण भी आवश्यक है। उल्लेखनीय है कि प्रतीक के ये सन्दर्भ कृति में विद्यमान नहीं होते क्योंकि प्रतीकवादी कला का आदर्श है 'एक शब्द—एक प्रतीक, एक चित्र या मूर्ति; अर्थात् एक सम्मूर्तता।' स्पष्ट है कि प्रतीकवादी कला मूलतः सम्प्रेषण विरोधी और स्वभावतः साधारणीकरण विरोधी कला है।

### प्रतीक और मिथक

कला की सम्प्रेषणीयता में बाधा उत्पन्न करना कला की सामाजिकता का हनन करना है। कला को सामाजिक घटना के रूप में देखने के नाते प्रगतिशील कविता प्रतीकोन्मुख नहीं रही है। उसमें अभिव्यक्ति के मूल माध्यम रहे हैं बिम्ब और प्रत्यय। जहाँ बिम्बों, प्रत्ययों या मिथकों का प्रतीकार्थ के लिए उपयोग हुआ है वहाँ उसकी लोकग्राह्यता—सम्प्रेषण की शर्त—को ध्यान में रखा गया है।

---

१. सिम्बालिज़्म : इट्स मीनिंग ऐण्ड इफ़ेक्ट', पृ० १५।

ऐतिहासिक और सामाजिक प्रक्रियाएँ कविता की संवेदना और कलात्मक-बोध को ही प्रभावित नहीं करती, उसके रूपगत प्रयोगों पर भी असर डालती हैं। प्रगतिशील काव्य का आविर्भाव जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ उनमें शोषकवर्गीय संस्कृति की विकृतियाँ मनुष्यता पर विकरालतम संकट के रूप में व्यक्त हो रही थीं। फलतः मृत्यु, ध्वंस, प्रलय आदि का प्रयोग बहुतायत से मिलता है। प्रगतिशील कविता हिंसा का जवाब अहिंसा से देने की समर्थक कभी नहीं रही। उसने दिनकर की भाँति शिव के 'पावन नील गगन तल विदलित अमित निरीह-नियत-दल' और 'असहायों के शोणित शोषण' की पीड़ा का जवाब देने के लिए ताण्डव का आह्वान किया :

> "रच दो फिर से इसे विधाता तुम शिव, सत्य और सुन्दर।
> नाचो, हे नाचो, नटवर।"[1]

पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंगों से आये प्रतीकों में भावात्मक शक्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है। प्रगतिशील कवियों ने इन प्रतीकों का इतना व्यापक इस्तेमाल किया है कि प्रगति-विरोधी भावधारा से सम्बद्ध कवि डॉ० कैलाश वाजपेयी को स्पष्ट शब्दों में लिखना पड़ा : "प्रगतिशील रचनाओं में सबसे पहले जिस वर्ग के प्रतीक हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं वे सांस्कृतिक प्रतीक हैं।" यही नहीं, "प्राचीन संस्कृति का प्रतिनिधित्व" करने वाले ये प्रतीक "भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं।"[2] इससे प्रगतिशील कविता की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का पता चलता है। उसे परम्परा-द्रोही और अभारतीय कहने वालों के भ्रम का निवारण होता है, यह अलग।

जन-जीवन की प्रवहमान सांस्कृतिक विरासत को, उसके स्वीकृत मिथकों को अपने कलात्मक उपकरण का एक स्रोत बनाने के नाते प्रगतिशील कविता की शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। इस क्रम में प्रगतिशील कविता ने अनेक स्वीकृत मूल्यों का खण्डन, नये मूल्य-बोध की प्रतिष्ठा और स्वीकृत मान्यताओं का समकालीन अर्थ-सन्दर्भ में प्रयोग किया। रांगेय राघव ने 'अरे ओ जल्लाद' कविता में सुरपति इन्द्र को पतनोन्मुख, विलासी और क्षुद्र वृत्तियों का प्रतीक बना कर तुलसीदास की ही परम्परा विकसित की है :

---

1. 'हिंकार', पृ० २-३।
2. 'आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प', पृ० २०७-८।

"फेंक मत तलवार/तेरी हड्डियों को काटती/तलवार भी/
निर्वीर्य पापी इन्द्र के घन हाथ/का है वज्र/कैसे भी
दधीचि महान् का चिरत्याग/भी अब व्यर्थ ।"[1]

दधीचि ने अस्थिदान किया असुरों का नाश करने के लिए। लेकिन सुरपति उसका उपयोग जनता की हड्डी काटने के लिए कर रहा है। दधीचि के प्रति सम्मान का तीव्र भाव इन्द्र के पापी चेहरे के प्रति और भी तीव्र घृणा उत्पन्न करता है।

माखन सिंह सिसोदिया ने 'धृतराष्ट्र' को स्मरण किया :

"कलह का ही पोषक है आज
धर्म का यह अन्धा धृतराष्ट्र ।"[2]

धर्माधर्म की शक्तियों को पहचान कर भी सामन्ती मर्यादा का अन्ध वहन करने वाला धृतराष्ट्र प्रत्येक युग में कलह का ही पोषक है। स्वीकृत मान्यताओं के आधार पर अपने युग के जीवन के मूल्यांकन का प्रयत्न कथात्मक प्रतीकों द्वारा भी हुआ। शरद चन्द्र मिश्र ने सीता को गर्वित अत्याचारों के विरुद्ध उदित हुए अंकुर का, त्याग और भविष्य का प्रतीक बनाया :

"धरा गर्भ में निहित, पराजित
जनता के ऋषि-रक्त कलश से
पापों की काली छाया में
प्रकट हुई जग की वैदेही ।"[3]

यदि यह सीता आजादी का प्रतीक है तो वह 'पापों की काली छाया में' प्रकट हुई है।

प्रतीकों के अर्थ में नवीनता लाने का उपक्रम भी हुआ। कहीं अर्थ को नये आयाम दिये गये और कहीं स्वीकृत अर्थ को चुनौती दी गयी। शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने "शान्ति की बाँहें बढ़ाये है हिमालय"[4] में हिमालय के परिमाणविहीन [illegible] के साथ शान्ति का सन्देश देकर भिन्न प्रतीक-योजना से काम लिया है। फिर भी पूरी

---

१. 'हंस', दिसम्बर, १९४५।
२. 'हंस', जनवरी-फरवरी, १९४७।
३. 'जनता', नवम्बर, १९४७।
४. 'विश्वास बढ़ता ही गया', पृ० १०२।

विशेषता तब उजागर होती है जब 'युद्ध के ज्वालामुखी' के सामने शान्तिदूत हिमालय की फैली हुई बाँहों के पूर्वप्रसंग से अवगत हों :

"कौन श्रद्धा को खदेड़े फिर रहा है ?
प्रलय-घन-सा स्निग्ध-नभ में घिर रहा है ?"[१]

श्रद्धा भारतीय सांस्कृतिक जीवन में मंगल शक्ति के रूप में स्वीकृत है। उसे खदेड़ने वाली शक्ति प्रलय के बाद सृष्टि आरम्भ करने का प्रतीक नहीं है, वह युद्ध प्रलय का आतंक पैदा कर रही है। वह अमंगल शक्ति स्निग्ध नभ में प्रलय-घन की तरह घिर रही है। युद्ध की विभीषिका में कवि ने स्वीकृत मिथक में अर्थ-परिवर्तन कर दिया। इसी प्रकार, परम्परा में पूजित कुबेर 'धनकुबेर' में बदल कर घृणा का पात्र हो गया और विभीषणों की परम्परा भी निन्दित हुई। अपने वैचारिक मूल्य-बोध के अनुरूप प्रगतिशील कविता ने कुबेर और विभीषण के प्रतीकों में जो अर्थ-परिवर्तन किया वह आज भी नये अभिप्राय के रूप में प्रचलित है।

इतना ही नहीं, ऐतिहासिक घटनाक्रम ने भी प्रगतिशील कविता के प्रतीक-भण्डार को समृद्ध बनाया। जलियाँवाला बाग के खलनायक डायर की प्रतिमा कितनी खूँखार है यह तत्कालीन और सम-सामयिक प्रगतिशील कविता में उसके प्रयोगों द्वारा जाहिर होता है। कामधेनु-सी कांग्रेस सुरसा जैसा मुँह बाकर खाने दौड़ी तो लगा जैसे 'शासन के अधिकारी नेता डायर की वर्दी पहन' कर आ गये हैं।

इन प्रतीकों के अध्ययन से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं। पहला यह कि परम्परागत प्रतीकों में प्रगतिशील कवियों ने सामान्यतः उन्हें ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुना जो लोक-प्रचलित थे। दूसरा यह कि प्रतीकों की सम्प्रेषणीयता के लिए जरूरी है कि हम अतीत की ओर उन्मुख हों, अर्थात् वे सांस्कृतिक या ऐतिहासिक परम्परा में स्वीकृत ऐसे मूल्य हों जिन्हें पाठक समुदाय जानता हो। चूँकि प्रगतिशील कविता शुद्ध आन्तरिकतावादी मूल्यों को स्वीकार नहीं करती इसलिए अन्य प्रतीकवादी साहित्य की भाँति उसके प्रतीकार्थ किसी अति गूढ़ मनोवृत्ति को व्यक्त नहीं करते, बल्कि सम्प्रेषण के उतने ही प्रत्यक्ष और सहज माध्यम बनते हैं जितने कि बिम्ब, भाषा या प्रत्यय :

"नये भगीरथ सरिताओं की धार मोड़ते,
धनुष रूढ़ियों का जनता के राम तोड़ते।"[२]

---

१. 'विश्वास बढ़ता ही गया', पृ० १०१।
२. उपर्युक्त, पृ० १०३।

भगीरथ गंगा को पृथ्वी पर लाये थे, नये भगीरथ उसकी धार मोड़ रहे हैं, रखा हुआ शिव का धनुष रूढ़ि बन गया है, क्योंकि जीवन्त प्रवाह और उपयोग में ही गति होती है; प्रासंगिकता खोकर कोई भी चीज रूढ़ि बन जाती है और जनता के राम इस रूढ़ि को तोड़ते हैं।

युगीन जीवन-सन्दर्भ प्रतीकार्थ को किस तरह प्रभावित करता है, यह सहज द्रष्टव्य है। जहाँ युग-सत्य से अधिक आत्म-सत्य रचना-प्रक्रिया और कृति पर हावी होता है वहाँ प्रतीकार्थ सम्प्रेषण में बाधा उत्पन्न करते हैं।

प्रगतिशील कविता प्रतीकवाद की दुरूहता से सर्वथा मुक्त है। जहाँ जीवन के दूसरे क्षेत्रों से प्रतीक लिये गये वहाँ भी सम्प्रेषणीयता का पूरा निर्वाह किया गया। केदारनाथ अग्रवाल द्वारा प्रस्तुत 'खेत का दृश्य' का यह चित्र देखिये :

> "एक गाय है।/""उसके ऊपर तोता बैठा/सहम-सहम करता है
> गपकी।/बहुत थकी है।/खाना-दाना की भूखी है/रेंग रही
> है धीरे-धीरे।/एक सिंह है, जो, मृग-छौनों को पकड़े है/
> लोहू में पंजे डूबे हैं/मांस खा रहा है उधेड़कर।"[1]

प्रकटत: विच्छिन्न चित्र हैं। लेकिन उन्हें एक ही कविता में जोड़ने वाला तत्त्व इतना सघन है कि दोनों चित्र एक अटूट-अविभाज्य इकाई बन कर पेश होते हैं। यदि गाय, सिंह या मृग-छौनों पर प्रतीकार्थ आरोपित न करें तो भी अर्थ-ग्रहण में कठिनाई नहीं होती।

यह सही है कि प्रतीकार्थ कवि के संवेदनात्मक उद्देश्य के सूचक होते हैं। अज्ञेय इसे, 'निजी' को 'सामान्य' बनाने का 'कवि-कर्म' कहते हैं।[2] इस सूत्र से यह प्रतिपादित करना आसान हो जाता है कि भिन्न भावबोध, विचारधारा और संस्कार वाले कवियों में एक ही प्रतीक भिन्न और प्रायः विपरीत दिशात्मक अर्थ कैसे ग्रहण कर लेता है।

उदाहरण के लिए 'डांगर' के तीन प्रयोग देखें। अज्ञेय ने 'औद्योगिक बस्ती' कविता में औद्योगीकरण को 'अपराधी डांगर'[3] के रूप में चित्रित करके उसकी

---

१. 'हंस', नवम्बर, १९४६, पृ० ११०।
२. 'आत्मनेपद', पृ० ४१।
३. 'अरी ओ करुणा प्रभामय', पृ० ४७।

विभीषिका व्यक्त की है। केदारनाथ अग्रवाल 'डांगर' को बैल के मुकाबले में रख देते हैं। यहाँ वह दूसरों की कमाई खा-खाकर मोटे होने वाले उन कामचोर-निकम्मों का प्रतीक बनता है जो आजादी और प्रगति के दुश्मन हैं।[१] तीसरा प्रयोग है सर्वेश्वर की कविता 'सूखा' में। व्यापक निराशा और त्राहि-त्राहि की स्थिति में "एक खाली पेट की तरह/मेरी आत्मा पिचक गयी है/और ईश्वर मरे हुए डाँगर-सा गन्धा रहा है।"[२] ईश्वर मर गया है फिर भी अभ्यासवश पूजा-गृहों की दीवारों से टिक कर खड़े होने और जलहीन सरोवरों के हाथ जिन्दगी के बिके होने की स्थिति और कुछ भी हासिल न होने के बावजूद निष्प्राण धरती को अपना मानने की विवशता—इससे व्यापक निरर्थकता पैदा होती है। 'डांगर' मरा हुआ है और ईश्वर की उपमा बन कर आया है इसलिए व्यापक निरर्थकता का प्रतीक है।

निकटवर्ती ध्वनियों वाली भिन्न अर्थच्छायाओं में एक ही प्रतीक के अनेक प्रयोगों से उसमें निहित अर्थ-सम्भावनाओं का ही पता नहीं चलता, यह भी ज्ञात होता है कि प्रतीक को अर्थ देने में कवि के दृष्टिकोण की कितनी बड़ी भूमिका है। लेकिन जहाँ प्रतीक संश्लिष्ट-चित्र और अपने समूचे भाव सन्दर्भ के साथ विद्यमान नहीं रहते वहाँ अर्थ-प्रक्रिया बाधित होती है। हमारी अन्तरंचना का विकास बौद्धिकीकरण की दिशा में हुआ है। इस प्रक्रिया में बिम्बों और उनके अमूर्तन से निर्मित प्रत्ययों की भूमिका हमारे अन्तःकरण की रचना में बढ़ती गयी है। बिम्ब चूंकि हमारे संवेदन का मूल माध्यम है इसलिए वह सम्प्रेषण का भी मूलतम माध्यम है। प्रत्यय बिम्बों के अमूर्तन होते हैं इसलिए वे हमारे संवेदन जगत् को समृद्ध करते हैं। बिम्ब और प्रत्यय सार्वभौम हैं इसलिए ये सम्प्रेषण के सेतु बनते हैं।

किन्तु प्रतीक की मूलभूत शर्त है वस्तुगत पर आत्मगत का प्रक्षेपण या आरोपण। यह स्थिति आदिम मानव की जीवन-विधि का स्वाभाविक अंग थी। वह प्रतीक में ही भाषा में चीजों को जानता और उनके बारे में सोचता-समझता था। अभिव्यक्ति की मूल इकाई—भाषा—भी विकास की अवस्था में थी इसलिए तरह-तरह के संकेत उन प्रतीकों की अभिव्यक्ति के माध्यम थे। निम्नतर जीवों में यह स्थिति आज भी देखी जा सकती है। विभिन्न ध्वनि-संकेत, स्वर-प्रवाह की गतियाँ ही उनके प्रतीक हैं। वस्तुगत को वस्तुगत के रूप में जानना और उनके अमूर्तन से प्रत्ययों का विकास करना—यह विकसित मानव-मस्तिष्क की ही देन है। और इसका असर यह

१. 'युगमेहदी', पृ० २०–२१।
२. 'गर्म हवाएँ', पृ० ४६।

हुआ कि तरह-तरह के निरर्थक ध्वनि-प्रतीक सार्थक होकर भाषा में बदल गये। आधुनिक मनुष्य का बोध आत्मीकृत नहीं है—वह हर चीज को आत्मगत धरातल पर ही नहीं जानता, सप्राण और निष्प्राण का फर्क जानता है। आत्मगत चिन्तन-प्रक्रिया टूटने के बाद भी आदिम मानसिकता की भाषा को आज की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया जाय तो क्या इससे अभिव्यक्ति आदिम की ओर उन्मुख नहीं होगी? यह संयोग की बात नहीं है कि मध्य-युग में भी प्रतीकों पर आधारित सृजन नहीं हुआ। जहाँ हुआ वहाँ सम्प्रेषण को बाधित करने के लिए, जैसे तंत्र-मंत्र में। गोपनीयता बनाये रखने के लिए गूढ़ातिगूढ़ प्रतीकों का उपयोग तंत्र-मंत्र को लोक-जीवन के नजदीक नहीं लाया, बल्कि उससे दूर ले गया।

फिर प्रगतिशील कविता में प्रतीकों के व्यापक उपयोग का क्या औचित्य है? क्या इससे कविता जनता से दूर नहीं गयी? और क्या प्रतीक-मोह का परिणाम आदिम की ओर उन्मुखता में व्यक्त नहीं हुआ?

निस्सन्देह, आदिम की ओर उन्मुख प्रतीकवादी साहित्य की ही तरह प्रगतिशील कविता ने भी अपने अधिक शक्तिशाली प्रतीक आदिम अनुभवों से ही जुटाये हैं। किन्तु इससे उसका सम्प्रेषण-विरोधी होना प्रमाणित नहीं होता क्योंकि उसके प्रतीक जनता में स्वीकृत मूल्य-बोध के कारण और अपने पूरे अर्थ-सन्दर्भ एवं अभिप्राय के साथ व्यक्त होने के कारण, इतने स्पष्ट हैं कि उनके अर्थ-ग्रहण में व्यवधान नहीं आता। दूसरे, प्रगतिशील कविता के प्रतीक सामाजिक अन्तर्वस्तु को धारण करते हैं, इससे उनका चरित्र वैयक्तिक या आत्मगत नहीं रह जाता। उनका उपयोग मुख्यतः समकालीन जीवन के आकलन-मूल्यांकन करने और कलात्मक प्रभाव को सघन बनाने के लिए हुआ है। इसलिए वे प्रतीक से अधिक मिथक के रूप में विद्यमान हैं। आम-तौर पर, और जहाँ आदिम प्रतीक अथवा मिथक नहीं हैं वहाँ खास तौर पर, कोई भी प्रतीकार्थ बिम्ब-विशेष के अतिरिक्त आशय के रूप में व्यक्त हुआ है, बिम्ब या चित्र के रूप में उसका अपना स्पष्ट आशय है जो सम्प्रेषण के लिए पर्याप्त है।

उदाहरण के लिए, अपेक्षाकृत सर्वाधिक जटिलता से काम लेने वाले प्रगतिशील कवि मुक्तिबोध माने जाते हैं। उनके चिन्तन की भाषा जितनी प्रतीकधर्मी है, इसका अनुमान '[illegible]' आदि की व्याख्या को लेकर विद्वानों के मतभेद से लगाया जा सकता है। किन्तु यह और भी अधिक सच है कि उनकी प्रतीकात्मकता लोक-भाषा और लोक-रूढ़ियों पर अधिक निर्भर है और उनके प्रतीकों में इस आशय को पूरी जीवन्तता के साथ देखा जा सकता है। इस कारण उनके प्रतीक मुख्यतः बिम्ब बने रहते हैं जो हमारे बोध की दुनिया में प्रतीक तक एक सीढ़ी चढ़ते हैं। अस्तु,

प्रतीकार्थ में व्याख्या की गुंजाइश के बावजूद, मुक्तिबोध उनका अर्थ सम्प्रेषित करने की दिशा स्वयं बिम्ब द्वारा ही दे देते हैं। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता की पंक्तियाँ देखिये :

> "मद्धिम चाँदनी में एकाएक/खपरैलों पर ठहर गयी/बिल्ली
> एक चुपचाप/रजनी के निजी गुप्तचरों की प्रतिनिधि/पूँछ उठाये वह/
> जंगली तेज/आँख/फैलाये/यमदूत पुत्री-सी/।"...इत्यादि।[1]

मद्धिम चाँदनी है और बिल्ली खपरैलों पर आकर ठहर गयी है। खपरैलों वाला मकान किसी धनी पूँजीपति-जमींदार का नहीं है। बिल्ली 'रजनी के निजी गुप्तचरों की प्रतिनिधि' है इसलिए 'यमदूत-पुत्री' की तरह है। वह मुआयना कर रही है कि "मकानों की पीठ पर/अहातों की भीत पर/बरगद के अजगरी डालों के फन्दों पर/अँधेरे के कन्धों पर" बाँके तिरछे वर्ण और "लाल-नीले भयंकर" रंग वाले हड़ताली पोस्टर कौन चिपकाता है। यह इस बात की खुफियागिरी करती है खपरैलों वाले किसान-मजदूरों के घरों में। इसलिए वह मेहनतकश जनता के खिलाफ, अँधेरे की व्यवस्था के पक्ष से, मृत्यु की विभीषिका रचती है। चाँद की मद्धिम रोशनी में गाढ़े रंगों (लाल और नीले) का उद्भासित होना सघन दृश्य पर्यवलोकन से उत्पन्न कलात्मक वैशिष्ट्य का परिचय तो देता ही है, देखने की बात यह है शोषक व्यवस्था की गुप्तचर बिल्ली के लिए 'यमदूत-पुत्री-सी' का विशेषण किस तरह मिथक को आधुनिक सन्दर्भ से अनुकूलित कर रहा है। मुक्तिबोध जिस संश्लिष्ट चित्र या बिम्ब की रचना करते हैं वह सामाजिक स्तर पर घटित होते हुए वर्ग-संघर्ष को पूरी स्पष्टता और प्रभविष्णुता के साथ उद्घाटित करता है।

## बिम्ब और प्रत्यय

संक्षेप में, गतिशील संश्लिष्ट बिम्ब या चित्र के सहारे मुक्तिबोध प्रभाव और वातावरण की सृष्टि करते हैं और यही उनका अभीष्ट है; उसमें प्रतीकार्थ जितना है—जो है, उसकी दिशा वे स्वयं इंगित कर देते हैं। यह सत्य जितना मुक्तिबोध की कला पर लागू होता है, उतना ही अन्य प्रगतिशील कवियों की कला पर भी। इसलिए संक्षेप में प्रगतिशील कविता के बिम्ब-विधान की मुख्य विशेषताओं का अध्ययन करना आवश्यक है।

---

१. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० ११।

इन्द्रियग्राह्य बिम्बों के माध्यम से संश्लिष्ट वस्तु-बोध को जितना ही मूर्त करती है, उनके गुणों को जितनी प्रखरता से व्यक्त करती है, उसका कलात्मक मूल्य उतना ही श्रेष्ठ होता है। भाव और प्रत्यय इन प्रत्यक्ष संवेदनात्मक बिम्बों का ही आभ्यंतरीकृत प्रभाव है इसलिए कविता में भाव या प्रत्यय भी चित्र या बिम्ब का रूप धारण करके प्रकट होते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की ये पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में पर्याप्त प्रकाश डालती हैं :

> "ज्ञानेन्द्रियों से समन्वित मनुष्य जाति जगत् नामक अपार और अगाध रूप-समुद्र में छोड़ दी गयी है।...इसी की रूप-राशि से ही उसकी कल्पना का निर्माण और इसी की रूपगति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है। सौन्दर्य, माधुर्य, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि की भावनाएँ बाहरी रूपों और व्यापारों से ही निष्पन्न हुई हैं।"[1]

शुक्ल जी माधुर्य, सौन्दर्य आदि जिन गुणों को भाव या मनोविकार की संज्ञा देते हैं क्या उन्हें मधुर, सुन्दर आदि वस्तुओं के गुणों के विश्लेषण और संश्लेषण से अर्जित अमूर्त अवधारणाएँ नहीं कहा जा सकता? वस्तुतः शुक्ल जी ने भाव या मनोविकार कह कर यह निर्दिष्ट किया है कि अमूर्त भाव, प्रत्यय या अवधारणाएँ मूर्त जगत् के इन्द्रियग्राह्य रूपों का ही परिणाम हैं और कला में इनकी अभिव्यक्ति मूर्त चित्रों द्वारा ही होती है।

बिम्ब का संवेदनात्मक आधार स्पष्ट करते हुए गिरिजा कुमार माथुर ने कहा है कि बिम्ब वस्तुजगत् के क्रियाकलापों को अपनी वर्तमान चेतनाओं से छूकर उन्हें ग्रहण करने का पर्याय है।[2] ये वर्तमान चेतनायें हैं कवि की सर्जक कल्पनाएँ। कलात्मक बिम्ब को मूलतः कल्पनाश्रित मानने के कारण डॉ० कुमार विमल लिखते हैं, "बिम्ब-विधान कला का क्रियापक्ष है, जो कल्पना द्वारा उपस्थित होता है।" इसी प्रसंग में बिम्ब और 'कान्सेप्ट' का अन्तर बताते हुए वे लिखते हैं :

"विचार-चित्र प्रत्ययाश्रित धारणाओं—'कान्सेप्ट्स' को आधार प्रदान करता है। यह अर्थग्रहण का प्रकट दरवाजा होता है। किन्तु, बिम्बों का प्रत्यक्ष धारणा से

---

१. 'रस मीमांसा', पृ० २११।
२. 'धूप के धान', निवेदनम्।

कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता है।"'उत्पादक कल्पना से हमें विचार-चित्रों की प्राप्ति होती है और पुनरुत्पादक कल्पना से बिम्बों की।"[1]

डॉ० विमल की इस मान्यता का सम्बन्ध उसी धारणा से है जिसके अनुसार बिम्ब "पूर्वानुभूत किन्तु तत्काल अनुपस्थित" मनस्-चित्र है। ऐसी मिथ्या-धारणा के कारण डॉ० विमल आगे चल कर "मानसिक बिम्ब" की विशेषता बताते हैं कि "अनुभूति-रक्त व्यक्ति भी मानसिक बिम्बों की सृष्टि कर सकता है। मनुष्य के जीवन में कुछ ऐसे क्षण आते हैं, जिनमें अघटित अनुभूतियाँ भी बिम्ब का उपजीव्य बन जाती हैं।"[2] गौर करने की बात है कि अघटित घटनाएँ नहीं, अघटित अनुभूतियाँ भी बिम्बों का उपजीव्य बनती हैं। वस्तुजगत् के निषेध का यह चरम रूप है। किन्तु वास्तविकता में इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती। कल्पना में आयी अनुभूतियाँ भी घटित और वास्तविक ही हैं क्योंकि कल्पना भी (यही नहीं, स्वप्न भी) वस्तुगत प्रक्रिया है। उसका गहरा सम्बन्ध वस्तुगत अनुभवों से होता है और कल्पना या स्वप्न में वैचित्र्य चाहे जितना हो, दिखते हैं वस्तुजगत् के ही रंग-रूप।

कल्पना-विलास की प्रवृत्ति कला में रूपवादी प्रेरणाओं को जन्म देती है। क्रीडावृत्ति या रचना-वैचित्र्य के ध्येय से प्रतिपादित इन "काल्पनिक" सिद्धान्तों के खतरे को देखते हुए ही गिरिजा कुमार माथुर ने कहा था कि चमत्कार के लिए प्रयुक्त बिम्ब चमत्कारक नहीं होते क्योंकि वे उपमान और उपमेय में खाई पैदा करते हैं। फलतः बिम्ब वस्तु-छवि को अंकित करने की जगह उसे पूर्णतः मिटा देते हैं।[3] इसके विपरीत, प्रगतिशील कविता के प्रयोग वस्तु को लेकर हुए हैं इसलिए बिम्ब उसमें वस्तु के अभिव्यञ्जक हैं। मुक्तिबोध के रूपगत प्रयोगों के बारे में कवि शमशेर ने उचित लिखा है कि "मुक्तिबोध के सारे प्रयोग विषयवस्तु को लेकर हुए हैं।"[4]

### दृश्य बिम्ब

संक्षेप में, जहाँ "घटित अनुभूतियाँ" कला का विषय बनती हैं वहाँ बिम्ब संवेदनयुक्त होते हैं और उनकी चमत्कारक शक्ति भी अपूर्व होती है। और जहाँ "अघटित अनुभूतियाँ" बिम्बों का उपजीव्य बनती हैं वहाँ, अलबत्ता, निर्जीव रूपवाद

---

१. 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व', पृ० २०१।
२. उपर्युक्त, पृ० २०६।
३. 'अवन्तिका (काव्यालोचनांक, पटना, जून, १९५४), पृ० २४८।
४. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० २१।

विकसित होता है। प्रगतिशील कवियों ने कहीं भी रूप को वस्तु का बाधक नहीं बनने दिया है इसलिए उनके बिम्बों और चित्रों में रंग, गन्ध, ध्वनि आदि का अत्यन्त प्रखर बोध मौजूद है। केदारनाथ अग्रवाल की एक कविता है :

> "मैं बादल हूँ/आषाढ़ी जामुन के रंग का/लेकिन तप कर/मैं बादल हो गया कनक का/और तुम्हारा छत्र हो गया।"[1]

अथवा, शमशेर का यह 'कत्थई गुलाब' :

> "कत्थई गुलाब/दबाये हुए हैं/नर्म-नर्म/केसरिया सांवलापन मानो/शाम की/अंगूरी रेशम की झमक/कोमल/कोहरिल/बिजलियाँ-सी/लहराये हुए हैं।"[2]

रंगों का और स्पर्श का यह सधा हुआ प्रयोग वस्तु पर आरोपित न होकर वस्तु से उत्पन्न हुआ है। इसीलिए दोनों के कलात्मक प्रवाह और प्रभाव की गतियाँ भिन्न हैं।

कला को इन्द्रियबोध तक सीमित रखने का विरोध करते हुए डॉ० रमेश कुन्तल मेघ कहते हैं कि शुद्ध इन्द्रियबोध से उत्पन्न उद्वेलन क्षीण और क्षणिक होता है, हालांकि "कलाकृति की भौतिक सत्ता के ये पहले सन्देशवाहक हैं"; यह स्तर ऐन्द्रियिक होता है इसलिए अपने इन्द्रियबोधों और संस्कारों को अधिकाधिक प्रशिक्षित करना और तीक्ष्ण बनाना सृजन को स्थायी मूल्य प्रदान करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।[3]

डॉ० मेघ की मान्यता का आधार यही है कि इन्द्रियबोधात्मक रूप किसी वस्तु-सत्य के उद्घाटन का माध्यम बन कर आये, सहज खेल या चमत्कार के ढंग से उसका उपयोग कला को छिछला बनाता है। निश्चय ही, वही काव्य-बिम्ब सजीव-सप्राण होते हैं जिनका जागृत इन्द्रियबोध सघन भावजगत से प्रेरित और परिचालित होता है। इन्द्रियबोध और भावजगत से रहित बिम्ब चमत्कारिक चाहे जितने हों, काव्यात्मक नहीं हो सकते। कला और कलावाद के इस नाज़ुक अन्तर को समझकर ही बाउमगार्तेन ने भावजगत पर अधिक बल देते हुए कहा था कि बिम्बों की तुलना में भाव अधिक काव्यात्मक होते हैं। उनके कथन का स्पष्ट आशय है कि भावात्मक

---

१. 'फूल नहीं, रंग बोलते हैं', पृ० ५०।
२. 'इतने पास अपने', पृ० ३७।
३. 'सौन्दर्य-मूल्य और मूल्यांकन', पृ० ६२-६६।

शक्ति से क्षीण बिम्बों की कलात्मक क्षमता भी शून्य होती है। प्रगतिशील कविता के बिम्बों का वैशिष्ट्य यही है कि उनमें मानवीय अन्तर्वस्तु अत्यन्त सघन रूप में विद्यमान है। यह मानवीय भावशक्ति जनता के गुणों को समझने, उसके जीवन से जुड़ने और उसी की स्थिति से विचार करने का परिणाम है। डॉ० रामविलास शर्मा भारतीय गाँवों में संस्कारतः कितने रसे-बसे हैं, इसका उदाहरण है यह चित्र :

> "आया वसन्त/शिव के तप की पावन धरती पर पग रखता/सौरभ से पुलकित कर दिगन्त।"[1]

धरती की पावनता के साथ वसन्त का सौरभ जीवन में आस्था, उल्लास का कितना विश्वसनीय सन्दर्भ देता है।

इससे सर्वथा भिन्न भावचित्र त्रिलोचन के सॉनेट 'हँसता है अकाल' में दिखायी देता है। अकाल 'तारों के दाँत' निकाले हँसता है। सावन-भादों की बरसाती रात में बादलों की जगह आकाश में तारे टिमटिमा रहे हों तो सौन्दर्य का नहीं, किसी अकल्पित विभीषिका का संकेत मिलेगा। असामंजस्य की स्थिति में तारे मानो उस विभीषिका के दाँत हैं जो आदमी को चबाने वाले अकाल के रूप में प्रकट हो रही है।

रंग, गन्ध और ध्वनि के अनेकायामी प्रयोग प्रगतिशील कविता के बिम्ब-विधान को स्वरूप प्रदान करते हैं। 'मेरे सहचर मित्र' कविता में मुक्तिबोध कहते हैं "जिन्दगी के फूटे घुटनों से बहती/रक्तधारा का जिक्र न कर।"[2] किन्तु इस निषेध से ही जीवन-संघर्ष के वास्तविक प्रश्न उभरते हैं। संवेदना के अनुरूप शिल्प भी द्वन्द्वात्मक पद्धति पर विकसित होता है। यह आन्तरिक युद्ध मानो वस्तुजगत् में घटित हो रहा है :

> "वह घाव भरे चेहरे का कोई सैनिक है।/रण मैदानों की संध्या में/जब लाल विभा बैंगनी हुई/संवलायी लाली में डूबी सरिताओं को/मर्दादी लहरों के भीतर से उमक-उमक/सलमाहट भरी दिखी तकलीफों की बिजली।"[3]

सरिता उस अन्तस्संघर्ष की पीड़ा है जो निरन्तर प्रवहमान है और सैनिक का घायल अन्तर्मन के संघर्षरत विचार हैं। रंग-बोध कितना गहरा है यह लाल से

---

१. 'रूप-तरंग', पृ० ६७।
२. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० ८७।
३. उपर्युक्त, पृ० ८७।

बँधनी होने और उसे 'सँवलायी लाली' कहने में व्यक्त हुआ है। आगे जब आत्मा का गुहाद्वार खुलता है तब "अन्तर के उस गुहा-तिमिर में / एक सुदृढ़ / पत्थर की टेबिल पर रक्खे / रक्ताभ दीप की लौ / कुछ हिलती-डुलती है"।[1] आत्मा के गुहान्धकार में दीप के प्रकाश का रक्ताभ लगना न केवल प्रखर रंगबोध है बल्कि गहरी अर्थव्यंजना छिपाये हुए है। यह रक्ताभ 'लाल-मखमल-वाली अनार ज्योति' अन्धकार में हिलती-डुलती है और प्रकाश का विस्तार करती है। इसलिए पत्थर की कुर्सी पर बैठा जो अजानुबाहु क्रान्तिदर्शी मिलता है वह बहस द्वारा नहीं निष्कर्षों तक पहुँचाता है।

अन्धकार और प्रकाश का संघर्ष मुक्तिबोध के रचनाकर्म की विशेषता है जो उनके बिम्बों को आन्तरिक अन्विति प्रदान करता है। बिम्ब कवि के संवेदनात्मक ज्ञान मात्र को व्यंजित नहीं करते, बल्कि संवेदनात्मक उद्देश्य से संपृक्त होकर सघन और संश्लिष्ट भावचित्र में परिणत होते हैं। संवेदना और उद्देश्य का अन्तर बिम्बों के चरित्र में बुनियादी अन्तर ला देता है। भारती की कविता 'ये शरद के चाँद-से उजले धुले-से पाँव / मेरी गोद में'[2] और शमशेर की कविता : 'चाँद निकला बादलों से पूर्णिमा का। / गल रहा है आसमान। एक दरिया उमड़ कर पीले गुलाबों का / चूमता है चाँदनी के झिलमिलाते / स्वप्न जैसे पाँव।'[3] की रूमानियत और बिम्ब-विधान में जो अन्तर है वह संवेदनागत मूल भावों और द्वन्द्वों के कारण घटित हुआ है। इसलिए दोनों में 'चाँद' और 'पाँव' का प्रयोग दो भिन्न संवेदनात्मक दिशाओं की सूचना देता है।

सरसों की मदमाती गन्ध से आकुल होकर युग मन्दिर तायल लिखते हैं :

'ऊपर तो / दूर-दूर नीला है / धरती पर / पीला ही पीला है /
पछुआ सन / उड़ता अजब नशीला रंग / दसकों को बाँध करो।'[4]

प्रकृति में सहज व्यापक मौन-पीत का यह मनोरम बिम्ब को उद्दीप्त करता है और कवि बोध की संवेदना को रंग और गन्ध से मूर्त कर देता है।

---

1. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० ६८।
2. 'ठंडा लोहा', पृ० ३।
3. 'कुछ कविताएँ', पृ० १४।
4. 'सूरज रथ देखता है', पृ० ४४।

## गन्ध विम्ब

प्रगतिशील कवियों ने अपनी जमीन और अपने लोगों को केवल रंग और रूप में नहीं, गन्ध से भी जाना है। उनकी कविताओं में गन्ध-बोध का अत्यन्त व्यापक प्रसार है। उसमें कहीं चना-चबैना गमकता है तो कहीं किसान या मजदूर का पवित्र पसीना अपना अस्तित्व जताता है; कहीं "पत्थरों की रगड़ और आटे की गन्ध"[1] है तो कहीं "तम्बाकू के खेतों" की;[2] कहीं "कण्डे की लाल आग" पर सिकती हुई "सुगन्ध उस टिक्कड़ की"[3] उठती है तो कहीं वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में सिर चकरा देने वाली अत्यन्त उग्र "वह महक अजीबोगरीब द्रव्यों की"।[4] गन्दी बस्तियों से उठती दुर्गन्ध से लेकर तमाम तरह के फूलों की गन्ध तक, गोरस की खुशबू से लेकर फसलों और आम्र-मन्जरियों की सुगन्ध तक, तुरन्त जोती गयी जमीन की महक से लेकर धुएं-धक्कड़ वाले औद्योगिक केन्द्रों तक के गन्धों का अत्यन्त सूक्ष्म पर्यावलोकन है। जितना व्यापक और नानारूपी यथार्थ है, गन्ध में उसकी अनुभूति भी उतनी ही विविधता लिये हुए है।

सजग कवि साधारण लगने वाली वस्तुओं से भी जीवन के गहन पर्तों को उद्घाटित कर देते हैं। दहेजलोभी कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के प्रति तीव्र घृणा व्यक्त करने के लिए निराला ने 'सरोज-स्मृति' में लिखा था जो घृणित हैं उनके पाँवों को "हो प्राण-घ्राण से रहित व्यक्ति / पुजूँ मैं ऐसी नहीं शक्ति।" इन्द्रियबोध का उपयोग घृणा व्यक्त करने का साधन है, वह मानवीय शक्ति है। इस मानवीय शक्ति के प्रति आस्था का परिणाम है पाखण्डों और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, अपनी आस्था के प्रति विश्वास और अपने विश्वास की रक्षा के लिए संघर्ष। मनुष्य की चेतना के विभिन्न स्तर—इन्द्रियबोध, संस्कार, भाव और विचार—सब परस्पर सम्बद्ध हैं, उनमें अन्योन्यता है।

## ध्वनि बिम्ब

'डायरी' में सूनी गोष्ठ का दृश्यांकन करते हुए गिरिजा कुमार माथुर ने लिखा है :

---

१. 'जमीन पक रही है', पृ० १५।
२. उपर्युक्त, पृ० ६।
३. 'भूरी-भूरी खाक धूल', पृ० २६।
४. उपर्युक्त, पृ० २१।

"झींगुरों की खँजड़ी पर झाँझ-सा बीहड़ झनकता,
कण्टकित बेरी करौंदे, महकते हैं झाव-झोरे"[1]

झींगुर, खँजड़ी, झाँझ और झनकता में ध्वन्यात्मक प्रभाव द्वारा, शब्द के नाद सौन्दर्य द्वारा, झींगुरों से गूँजते वन का चित्र मूर्त किया गया है। 'झाव-झोरे' में झंकृति नहीं है, वह कण्टकित बेरी-करौंदे के विशिष्ट चित्र को साकार करता है। इसी प्रकार केदारनाथ अग्रवाल की कविता है :

"कैसे जियें कठिन है चक्कर / निर्बल हम बलीन हैं मक्कर
तिकड़म ताबड़तोड़ फटाफट / हड्डी की लोहे से टक्कर।"[2]

प्रकटतः अकाव्यात्मक लगने वाले 'तिकड़म ताबड़तोड़ फटाफट' हड्डी और लोहे की टक्कर में अपनी ध्वन्यात्मक शक्ति का अभूतपूर्व प्रदर्शन करते हैं। यह यथार्थवादी कलात्मक पद्धति की सफलता का परिणाम है कि सुन्दर और मृदु शब्द-ध्वनियों को ही कविता में देखने का आग्रह कम हुआ तथा उपयुक्ततम ध्वनि के माध्यम से अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त करने की कला विकसित हुई। गिरिजा कुमार माथुर के शब्दों में, "शब्द की नाद व्यंजना तथा अर्थ की अनेक सूक्ष्म संकृतियों के सामञ्जस्य में ही शिल्प की सार्थकता हो सकती है।"[3]

प्रगतिशील कविता ने यह नाद-व्यंजना दो रूपों में अर्जित की। एक तो, शब्दों और अक्षरों के विशिष्ट ध्वन्यात्मक चयन द्वारा वस्तु को मूर्त करके और दूसरे, ध्वनि के साथ मात्राओं और स्वर-प्रवाह की गति द्वारा क्रियात्मक रूपों को उनके पूरे कम्पन और स्पन्दन के साथ अंकित करके। पहले प्रकार के बिम्बों को हम पूर्वोक्त दोनों कविताओं में देख सकते हैं। निराला के दो चित्रों से हम दोनों तथ्यों को और भी स्पष्ट कर सकते हैं :

१. "अस्ताचल रवि, जल छल-छल छवि,
स्तब्ध विश्व कवि, जीवन उन्मन,"[4]

२. "श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय कर्म रत मन।

---

१. 'धूप के धान', पृ० ८६।
२. 'फूल नहीं, रंग बोलते हैं', पृ० १४६।
३. 'नयी कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ', पृ० २२।
४. 'गीतिका', पृ० ६८।

गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार—
सामने तरुमालिका अट्टालिका प्राकार।"[1]

दोनों चित्रों में ध्वनि और मात्राओं के प्रभाव से वस्तु और क्रिया के बिम्ब निर्मित हुए हैं। 'अस्ताचल रवि' में सूर्य के उगने, ऊपर उठने और डूबने की क्रियाओं के संकेत विद्यमान हैं — 'स्ता' में जो उठान है वह 'चल रवि' में उतर कर नीचे जाने की ध्वनि के साथ टूटता है। 'जल छल-छल' में मात्राएँ नहीं हैं, 'छवि' में लघु मात्रा है। इसमें जल की गति मूर्त होती है। दूसरी पंक्तियाँ भी अपनी ध्वनि से 'विश्व कवि' की स्थिति और आन्तरिक भावों को व्यक्त करती हैं। इसी प्रकार दूसरे चित्र में 'भर बंधा यौवन' की नाद-व्यंजना तो स्पष्ट ही है, 'नत नयन', 'प्रिय कर्म रत मन' की ध्वनि मजदूरनी की अन्तर्बाह्य स्थिति को चित्रित करती है। अगली पंक्ति में अचानक 'गुरु हथौड़ा हाथ' की सघोष ध्वनियों और 'बार-बार प्रहार' में लघु-दीर्घ मात्राओं के क्रमिक संयोजन द्वारा श्रम की गरिमा और क्रिया को क्रमशः ध्वनित किया गया है। अगली पंक्ति में 'तरुमालिका अट्टालिका' को उठा कर 'प्राकार' में उसे और गगनचुम्बी बना दिया गया है।

ध्वन्यात्मक स्वरों और गत्यात्मक प्रवाह द्वारा केदारनाथ अग्रवाल ने 'वसन्ती हवा'।[2] और शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने 'मजदूरनी'[3] के जो चित्र उपस्थित किये हैं उनमें भी पर्याप्त कलात्मक सामर्थ्य का पता चलता है। शब्दों से अधिक शब्द की ध्वनि और गति से निर्मित इन चित्रों के कलात्मक मूल्य की श्रेष्ठता की कसौटी यह है कि शब्द की ध्वनि और उनमें मन में बनने वाले चित्र के बीच कम-से-कम दूरी हो। इस सत्य को पाकर ही कवि संगीत, ध्वनि, नाद के संयोजन से अपेक्षित भावात्मक प्रभाव निर्मित करता है।

स्पर्श बिम्ब

अपेक्षाकृत सूक्ष्म प्रतीत होने वाले स्पर्श-बोध द्वारा भी कुशल कवि वस्तु की संवेदना में प्रवेश करता है। 'बादल को घिरते देखा है' कविता में नागार्जुन मिथिला की भूमि, संस्कृति, लोक-मान्यताओं आदि के साथ पौराणिक अनुषंगों को बांध कर

---

१. 'अनामिका' पृ० ८१।
२. 'फूल नहीं, रंग बोलते हैं', पृ० २०।
३. 'प्रलय-सृजन', पृ० १२।

जिस संश्लिष्ट चित्र की सृष्टि करते हैं उसमें स्पर्श का यह सूक्ष्म संवेदन कवि के निष्कुण्ठ इन्द्रियबोध को ही सूचित करता है :

"नरम निदाग बाल-कस्तूरी-मृगछालों पर पलथी मारे
मदिरारुण आँखों वाले उन उन्मद किन्नर-किन्नरियों की
मृदुल मनोरम उंगलियों को वंशी पर फिरते देखा है।"[1]

इसी प्रकार, जब 'बहुत दिनों के बाद' नागार्जुन "अपनी गँवई पगडण्डी की चन्दनवर्णी धूल" छूते हैं[2] तो अपूर्व मादक गन्ध का अनुभव करते हैं।

अन्य इन्द्रियबोधों की भाँति स्पर्श-बोध भी भावचित्र की संवेदना की संगति में होने पर ही प्रामाणिक बनता है। मुक्तिबोध में आत्मग्रस्तता और सामाजिक-चेतना के साथ जिस तरह अन्धकार और प्रकाश के बिम्ब मौजूद हैं उसी तरह ठण्डे और गरम के भी :

"आता है अकस्मात् शीतदार रास्ता
लम्बा व चौड़ा व स्याह व ठण्डा"[3]

तिलक की पाषाण मूर्ति न स्याह है न ठण्डी। उससे किरणीले नीले इलेक्ट्रॉन गिरते हैं तो नासिका में से 'लाल-लाल गरमीला रक्त टपकता'[4] है। गांधी जी द्वारा दिया गया शिशु रोता है तो 'गरम-गरम अश्रु टपकते हैं।'[5] अन्धकार के साथ ठण्डेपन का बोध और उसे तोड़ने के संकेतों में गरमाहट के बिम्ब—यह मुक्तिबोध की कला का वैशिष्ट्य है।

प्रगतिशील कविता ने स्पर्श के साथ आनन्द और कष्ट व्यंजक अनुभवों को व्यक्त करने में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। केदारनाथ सिंह गर्व साथ से पूछते हैं, "स्पर्श हाथों का / या सर्द पानी-सी छुअन निर्मम / पाओगे ! क्या पाओगे !"[6] त्रिलोचन की 'गमन यात्रा' में आधी परछाईं और कुहरा और बड़ा

---

१. 'हताम्बरा', पृ० २७९।
२. 'कविता कुञ्ज', पृ० १२७।
३. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० २८२।
४. उपर्युक्त, पृ० २८९।
५. उपर्युक्त, पृ० २९०।
६. 'तीसरा सप्तक', पृ० १९०।

तो 'सर्दी नाखूनों में चुभने लगी'।[१] इसी प्रकार, 'दूब' में शमशेर दूब, मखमल और धूप को छूते हैं :

> "मोटी, धुली लान की दूब,
>
> साफ मखमल की कालीन।
>
> ठण्डी धुली सुनहरी दूब।"[२]

और मुक्तिबोध शासन के आतंक को कम्पन में अनुभव करते हैं :

> "इतने में आसमान काँपा व धायँ-धायँ
>
> बन्दूक धड़ाका..."[३]

केदारनाथ अग्रवाल बालक को जब ताल में कंकड़ फेंकते देखते हैं तो अनु करते हैं कि उसने 'ताल को नहीं अनन्त काल को कँपा दिया।'[४]

अपने जिस्म की थिरकन से लेकर आकाश और अनन्त काल तक के स्पन्द को महसूस करने वाली कविता के लिए यह स्वाभाविक है कि प्रेमिका के हा और होंठों की नर्म गरमाहट के साथ-साथ कालर पकड़ कर गला दबाते खूँख्व हाथों का दबाव और गाल पर पड़ते चाँटों और पीठ पर बरसते कोड़ों का दर्द व्यक्त करे। प्रगतिशील कविता ने स्पर्श के जितने नानारूपी बिम्ब दिये हैं उन उसके स्वस्थ इन्द्रिय संवेदन; विराट् जनाधार और विपुल भावराशि का ही अनुम लगता है।

## संश्लिष्ट और प्रत्ययात्मक बिम्ब

पंच-संवेदनात्मक इन्द्रियबोधों की सूक्ष्मता को पकड़ने और अपने भाव-सन्द में उनका अनुकूलतम उपयोग करने के नाते ही प्रगतिशील कविता संश्लिष्ट चि योजना करने में सफल हुई है। इन संश्लिष्ट चित्रों में उसने भाव-सन्दर्भों के सा प्रत्ययों या अवधारणाओं को बड़ी खूबी से बुना है। इस प्रकार के चित्र मुख्य वातावरण-निर्माण और प्रतीकात्मक संकेतों के लिए उपयोग में आये हैं।

---

१. 'बादेवी', पृ० ५०३।
२. 'कुछ कविताएँ', पृ० २८।
३. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० २८७।
४. 'फूल नहीं, रंग बोलते हैं', पृ० ४१।

नेमिचन्द्र जैन का एक भाव-चित्र देखें : 'पचमढ़ी की एक शाम'—

> "जब अर्थहीन चंचलता से उत्तेजित मन/थक जाता है/लम्बी
> उदास छायाओं से ढँक जाता है / हो जाता है फीका-फीका/
> जैसे सूरज के उगने के पहले आसमान।"[1]

एक मनःस्थिति के लिए दो चित्र हैं। पहले में है अर्थहीन चंचलता के बाद की थकन और थके मन को ढँकती छायाओं का लम्बा होना। और दूसरे में फीकापन सूरज के उगने से पूर्व के आकाश-सा मालूम होता है। पहला चित्र मन की पीड़ा को जितना घनीभूत करता है दूसरा चित्र शाम के साथ असंगत होने के नाते उसे उतना ही क्षीण कर देता है। भाव के साथ देश-काल के सन्दर्भ को भी ध्यान में रखकर चित्र देते समय यह कल्पना-विलास नहीं आता।

सामान्यतः प्रगतिशील कविता में काल्पनिक उड़ान की ऐसी असंगतियाँ कम ही हैं। कारण यह है कि प्रत्येक कवि की रचना का अपना एक अन्तःसंसार है जिसमें बाह्य जगत् के रूप-गन्ध-ध्वनि आदि मिल कर विकासशील संश्लिष्ट चित्र बनाते हैं। अवधारणात्मक प्रत्ययों का अध्ययन इन संश्लिष्ट भाव-चित्रों से अलग करके नहीं किया जा सकता। निराला और मुक्तिबोध के रचना-संसार का संक्षिप्त विवेचन इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकता है।

निराला को रंग और गन्ध के बिम्बों में गन्ध का बोध ही अधिक भाता रहा है। रंगों में भी चटक लाल-हरे-पीले का आकर्षण है, किन्तु नीला रंग ही उन्हें सर्वाधिक प्रिय है। उसे वह सुख और दुःख दोनों स्थितियों का व्यञ्जक बनाते हैं। डॉ० राम-विलास शर्मा के अनुसार इसका कारण है नीले रंग की अन्धकार से निकटता। निराला के काव्य-विधान में अन्धकार के जितने सशक्त और सघन चित्र हैं, प्रकाश के उतने नहीं हैं।[2] यही बात गन्ध-बोध के बारे में भी लागू होती है। रातरानी जैसे उनके सर्वप्रिय फूल रात में ही खिलते हैं। अँधेरे में वस्तुओं को रूप और रंग से अधिक गन्ध और ध्वनि से पहचाना जाता है।

मुक्तिबोध के रचना-संसार में अधिकांश क्रिया-व्यापार का मूल केन्द्र तो अन्धकार है, लेकिन यही अन्धकार और प्रकाश का अनवरत संघर्ष बनता है, अन्धकार में प्रकाश की किरणों के चटख रंग उभारते हैं। मुक्तिबोध में ध्वनि और रंग के

---

१. 'एकान्त', पृ० ५७।

२. 'निराला की साहित्य साधना', खण्ड-२, पृ० ११५–१६।

१५

बिम्ब अधिक हैं, निराला में गन्ध और स्पर्श के। निराला के दोनों बोध अन्धकार से सम्बद्ध हैं तथा मुक्तिबोध का ध्वनि-बोध अन्धकार से और रंग-बोध प्रकाश से सम्बद्ध है। निराला के यहाँ भी ध्वनि-बोध अँधेरे से ही सम्बद्ध है। रावण का खल-खल अट्टहास अँधेरे की ध्वनि है। मुक्तिबोध के यहाँ भी अँधेरे में ध्वनियों के बुलबुले उभरते हैं।

निराला के यहाँ सांस्कृतिक सूर्य के अस्त होने पर 'तमस्तूर्य दिङ्मण्डल'[१] का जितना गहन प्रभाव है उतना 'श्वेत पटल'[२] खुलने का नहीं है। धूप और प्रकाश के बिम्ब भी कोमलता से अधिक सम्बद्ध हैं :

१. "आज मन पावन हुआ है, जेठ में सावन हुआ है।"[३]

२. "याद है दिवस की प्रथम धूप/थी पड़ी हुई तुम पर अनूप।"[४]

जहाँ धूप तेज है वहाँ 'झुलसाती हुई लू' और 'रुई ज्यों जलती हुई भू'[५] अधिक है। कहीं-कहीं तो "है निरी पैनी छुरी रवि की छटा।"

लेकिन मुक्तिबोध के यहाँ जितना अन्धकार का आतंक है उतना ही रंगों का उल्लास भी। अँधियारे पीपल के पहरे में हवाओं की निस्संग लहरों में काँपती हुई धुलों की दूर-दूर अलग-अलग आवाज सियारों की ध्वनि से टकराती है। वातावरण का एक पहलू यह है जो अन्धकार से सम्बद्ध है और पशुओं की अलग-अलग ध्वनि, किसी के रोने की पतली आवाज, अँधेरे के बुलबुले, पदचाप, दरवाजे की साँकल और दूर किसी बैण्ड की क्रमागत तान धुन की उदास ध्वनि-तरंगों और दीर्घ लहरियों द्वारा मूर्त होता है। दूसरा पहलू है जहाँ इस अन्धकार को तोड़ने वाला प्रकाश दिखाई देता है और यह पक्ष मूर्त होता है किला-द्वार खुलने पर लाल-लाल मशाल, हरे-हरे पेड़ आदि दिखने में। द्वन्द्व की स्थिति में अन्धकार छाया रहता है, विवेक की स्थिति में वह टूटता है और फौजी तानाशाही की नग्न वास्तविकताएँ दिखाई देती हैं। अँधेरे में भी रोशनी की कैसी छटपटाहट है यह प्रकट होता है, यह भी द्रष्टव्य है : कहीं दियासलाई की रोशनी में सैनिक के 'ताँबे के चेहरे' की ऐंठ

---

१. 'तुलसीदास', पृ० ११।
२. उपर्युक्त, पृ० ६१।
३. 'आराधना' पृ० १०।
४. 'अनामिका' पृ० १२६।
५. उपर्युक्त, पृ० ८१-८२।

सापकी' है[1] तो कहीं 'तड़ित्तरंगीय गतिमयता'[2] है; कहीं बन्दूक दगने पर मकानों के ऊपर गेरुआ प्रकाश छा जाता है[3] और कहीं 'पीतालोक प्रसार में काल चल रहा है।'[4] यही नहीं हृदय को 'बिजली के झटके' देने वाले रक्तालोक स्नात पुरुष के "चेहरे पर खिलती हैं सुबहें/गालों पर चट्टानी चमक पठार की / आँखों में किरणीली शान्ति की लहरें' हैं"।[5]

अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ने वाले मुक्तिबोध के बिम्ब उनके काव्य की दिशावाचक गति का संकेत देते हैं। इसीलिए निराकार घण्टाघर में जब चार का गजर बजता है तो हृदय धड़कता है। यह अन्तिम संग्राम से पूर्व की धड़कन है। इसके बाद क्रान्ति का दिन है। क्रान्ति के स्वप्न में ध्वनियों से अधिक चित्र हैं क्योंकि मुक्तिबोध जिस क्रान्ति का स्वप्न देखते हैं वह प्रकाशगामी है।

निराला और मुक्तिबोध के इन्द्रियबोध और काव्य-संरचना में यह जो फर्क है, निराला का अन्धकार के प्रति और मुक्तिबोध का गहनतम अन्धकार में संघर्षरत प्रकाश के प्रति जो तीव्र आकर्षण है, वह इन दो कवियों के युग-सत्य और इस युग-सत्य के कारण घटित भिन्न बिम्ब-बोध के अन्तर को स्पष्ट करता है। इस अन्तर का दोनों के सृजन में निहित अवधारणात्मक वस्तु से बहुत गहरा सम्बन्ध है।

ऐसी बात नहीं है कि सर्वत्र ये अवधारणाएँ इतने जटिल रूप में अन्तर्व्याप्त हैं। कहीं-कहीं एक सरल-चित्र अवधारणात्मक वस्तु के वाहक बने हैं। उदाहरणार्थ, नागार्जुन हमारी सांस्कृतिक अस्मिता के विरुद्ध साम्राज्यवादी षड्यन्त्र को गोरी चमड़ी वालों के 'बाइबिल बाँटने' के चित्र द्वारा व्यक्त करते हैं और शमशेर विश्व के मुक्तिकामी जनगण की आकांक्षाओं को 'लाखों का लाल तारा' और 'अमरीका का लिबर्टी स्टैचू' के प्रतीक में मूर्त करते हैं। कहीं-कहीं चीजों में कार्य-कारण सम्बन्ध निर्दिष्ट करके तथ्यों की व्याख्या की गयी है। नरेन्द्र शर्मा की बहुउद्धृत पंक्तियाँ हैं —

"यहाँ राज है पंचायत का, यहाँ नहीं है बेकारी,
यहाँ न दाढ़ी-चोटी लड़ती, यहाँ नहीं मक्कारी।"[6]

---

१. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० २८४।
२. उपर्युक्त, पृ० ३०१।
३. उपर्युक्त, पृ० २८१।
४. उपर्युक्त, पृ० २६८।
५. उपर्युक्त, पृ० २६२।
६. 'हंस', अगस्त, १९४२।

पंचायत राज, दाढ़ी-चोटी, साहूकारी प्रत्ययात्मक बिम्ब हैं। चीजों के कार्य-कारण सम्बन्ध पंक्ति-पंक्ति में व्यक्त हुए हैं—जिस तरह पंचायत राज में बेकारी नहीं होती उसी तरह साहूकारी न रहने पर दाढ़ी-चोटी का झगड़ा नहीं होता।

यथार्थ का गहन और व्यापक पर्यवेक्षण करने तथा वास्तविकता के मर्म की आन्तरिक पहचान होने के नाते प्रगतिशील कवियों ने जिस चित्रात्मकता का परिचय दिया है वह अन्ततः एक नैतिक दृष्टि के रूप में काव्य-कर्म का अंग बन गयी है। वास्तविकता के बिम्बों या चित्रों की जितनी सूक्ष्म पकड़ है, उनके सन्दर्भों और स्पन्दनों की जितनी परख है उसी के अनुरूप उनके उपयोग में उतनी जीवन्तता और समग्रता है। यह समग्रता और जीवन्तता अनेकरूपता में व्यक्त हुई है। निराला ने जीवन-स्थितियों की विविधता के अनुरूप अपने बिम्बों की रचना की; मुक्तिबोध मूलतः वातावरण-निर्माण के लिए बिम्ब-योजना करते हैं; केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन जीवन के रूप-रस-गन्ध में निष्कुण्ठ उन्मुक्तता के साथ डूबने के लिए बिम्बों का उपयोग करते हैं; शमशेर बिम्ब-रचना करते हैं एक भावचित्र—एक इम्प्रेशन देने के लिए; केदारनाथ सिंह के बिम्ब वस्तु के भावात्मक प्रभाव और चारित्रिक वैशिष्ट्य को उद्घाटित करते हैं।

वस्तुतः कोई भी कवि अपने संवेदनात्मक ज्ञान को संवेदनात्मक उद्देश्य से सम्पृक्त किये बिना सृजन नहीं करता। इसलिए किसी भी साहित्य का दृश्यपक्ष और उसकी कल्पना का जनाधार उसके रूपगत प्रयोगों को बहुत गहराई से प्रभावित करता है। प्रगतिशील कविता में प्रकृति, समाज और मनुष्य के सभी पहलुओं को यथासम्भव सभी कोणों से देखने और प्रस्तुत करने का प्रयत्न है। इससे उसकी विषय-सामग्री, वस्तु और संवेदना में जो व्यापकता आयी है उसे हम उसके बिम्बों और चित्रों द्वारा भी देख सकते हैं।

प्रगतिशील कविता का ध्यान कलात्मक चमत्कार उत्पन्न करने की दिशा में कभी नहीं रहा। उसमें यह विवेक आद्योपान्त विद्यमान है कि बिम्ब, वस्तुतः अंकित भावचित्र, कवि और पाठक के रिश्ते के सेतु हैं इसलिए उनका अवधारणात्मक वस्तु से गहरा सम्बन्ध है। ये, अनिवार्यतः, निजी नहीं हो सकते। इसीलिए प्रगतिशील कविता के बिम्ब प्रतीकोन्मुख न होकर भावचित्र बनने की दिशा में उन्मुख हैं। इस भावात्मक वस्तु और चित्रात्मक रूप-विधान के कारण प्रगतिशील कविता जीवन्त कलात्मक भाषा की सुरक्षा और बिम्बवाद-प्रतीकवाद आदि से बचाव, दोनों एक साथ कर सकी।

---

# व्यंग्य की संरचना

जिन ऐतिहासिक दबावों ने साहित्य के क्षेत्र में यथार्थ की प्रखर चेतना को जन्म दिया और छायावाद का अन्त करके वास्तविकता के प्रत्यक्ष साक्षात्कार को साहित्य में प्रतिष्ठित किया, उसका यह स्वाभाविक तर्क था कि यथार्थ के ज्वलन्त पहलुओं की अभिव्यक्ति के लिए नये रूपों की तलाश की जाय। व्यंग्य यथार्थ के दबाव से उत्पन्न एक ऐसा ही माध्यम है। 'आधुनिक हिन्दी कविता में व्यंग्य' की आवश्यकता पर विचार करते हुए केदारनाथ अग्रवाल ने लिखा था कि २०वीं सदी के जीवन में दिखायी देने वाली विरोधात्मक प्रक्रियाएँ, परिवर्तन, विषमताएँ और स्थायी द्वन्द्व तथा विश्व की गति को देखते हुए भविष्य के प्रति कुतूहलपूर्ण आशंका—"इस सदी की यही मूल भावनाएँ, जीवन की प्रक्रियाओं के रूप में व्यंग्य की पुष्टि करती हैं।"[1] सारा जीवन इतने बड़े व्यंग्य में परिणत हो रहा है कि साहित्य में उसका प्रवेश एक ऐतिहासिक अनिवार्यता बन गया है।

सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई ने प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के साथ एक भेंटवार्ता में कहा था : "व्यंग्य जीवन की विसंगति, अनुपातहीनता, असामंजस्य, शोषण, दम्भ, अन्याय आदि का अन्वेषण करता है और इस अन्वेषण के लिए उसे गहरे जाना पड़ता है।" तथा "यह जीवन में गहरे जाता है और आत्म-साक्षात्कार, आत्मसमीक्षा और आत्मालोचन के लिए प्रेरित करता है।"[2]

इस प्रकार व्यंग्य एक साथ दो स्तरों पर चोट करता है। एक तो सीधे स्थिति पर या व्यक्ति पर। दूसरा स्तर पहले स्तर का अंतिम परिणाम है। व्यंग्य से

---

१. 'हंस', नवम्बर, १९४१।
२. 'जनयुग', ७ मार्च, १९७५।

मर्माहत होकर व्यक्ति अपने भीतर और बाहर व्याप्त पाखण्ड और अन्याय के रहस्यों को जानने की, उनके निदान और उपचार की दिशा में प्रवृत्त होता है। यही सच्चे व्यंग्य की पहचान है। व्यंग्य का मूल अहंकार मे नही, करुणा में है; उसकी मार दुश्मन के चाबुक की नही, दोस्त के फटकार की होती है। जरूरत पड़ने पर व्यंग्य चाबुक भी लगाता है; लेकिन अपमानित करने के ध्येय से नहीं, मानवीय करुणा और आत्मचेतना जगाने के ध्येय से। कहने की जरूरत नही कि अपनी इस जटिल संरचना के कारण "व्यंग्य अभिजात-वर्ग और परम्परागत जीवन-मूल्यों के लिए एक चुनौती होता है।"[1]

अपने विश्वबोध और अपनी दायित्व चेतना के नाते प्रगतिशील कविता आरम्भ से ही जीवन की विसंगति, असन्तुलन, पाखण्ड, अन्याय के उन्मूलन का संकल्प लेकर आयी। सांस्कृतिक स्तर पर जनता परम्परागत जीवन-मूल्यों और मिथ्या चेतना मे फँसी हुई है। इस जटिल स्थिति मे यह स्वाभाविक था कि प्रगतिशील कविता के व्यंग्यों मे अनेक स्तर और रूप विद्यमान हों।

सामाजिक जीवन के जटिल अन्तर्विरोधों और तज्जन्य बौद्धिक तनावों को चुटीले ढंग से व्यक्त करने के लिए व्यंग्य की यह अनिवार्य माँग है कि रचनाकार उनके शिल्प में तटस्थ रहे, अपने आवेश को संयत रखे और स्थितियों के वैपरीत्य से अर्थ व्यंजित करे। कलात्मक तटस्थता ही व्यंग्य की शक्ति का आधार है। उल्लेखनीय है कि प्रगतिशील कविता ने जीवन की विसंगतियों के उद्घाटन में जितनी सफलता व्यंग्य-चित्रों में प्राप्त की है उतनी इतिवृत्तात्मक विवरणों वाली भावावेशपूर्ण कविताओं मे नहीं।

अन्तर्वस्तु में कवि की गहरी सम्पृक्ति और चित्रण में पूर्ण तटस्थता की कठिन साधना के बाद ही केदारनाथ अग्रवाल 'गाँव के महाजन' को "गोरख का गोबर गनेश"[2] कह कर भी कलात्मक प्रभाव अर्जित कर पाते हैं। इस उपमा मे जो तिरस्कार का भाव है वह "समाज के ग्रस्त क्षेत्र के मस्त महाजन" से जुड़ कर गम्भीर सामाजिक व्यंग्य में परिणत हो जाता है।

निराला ने जहाँ भी किसी तरह के पाखण्ड के दर्शन किये वहाँ व्यंग्य का ही प्रहार किया। भक्तों द्वारा भिक्षुक की करुण पुकार को अनसुना करके बन्दरों को

---

१. 'जनयुग', ७ मार्च, १९७६।
२. 'फूल नहीं, रंग बोलते हैं', पृ० ८२।

पुए गिनाने का व्यंग्य बहुत जाना-माना हुआ है। 'हिन्दी के सुमनों के प्रति' भी तिलमिला देने वाला व्यंग्य है :

"ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही वसन्त का अग्रदूत,
ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि।"[1]

'झींगुर डटकर बोला' का व्यंग्य अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। गांधीवादी कांग्रेसमैन (भाई जी) किसान सभा के लोगों को समझाता है कि 'देशभक्ति और निर्विरोध शक्ति' से स्वदेश आयेगा जिसमें 'जमींदार, साहूकार अपने कहलाएँगे।'[2] जब वह 'प्रचार' चल रही थी तभी कान्स्टेबल को साथ लेकर जमींदार का गोइंदा आया और दोनली बन्दूक से गोली चलाने लगा। झींगुर यह 'भेद' समझाता है कि किसान-सभा के सदस्यों पर भाई जी के मददगार जमींदार ने गोली चलवाई है।

व्यंग्य क्या है ? किसान और जमींदार के हितों में इतना विरोध है फिर भी गांधीवादी कहता है कि वे अपने हैं। व्यवहार और सिद्धान्त में कर्म और वचन में इतनी बड़ी खाई है कि उसे पाटना सम्भव नहीं है। झींगुर की निष्कर्षात्मक टिप्पणी से यह व्यंग्य क्षीण होने की जगह और तीक्ष्ण हो जाता है। सिर्फ इसलिए नहीं कि वह गांधीवादी कांग्रेसमैन के राजनीतिक नेतृत्व में जमींदार-साहूकार-पुलिस के गँठजोड़ के जरिये सरकारी दल के चरित्र को बेनकाब करता है, बल्कि इसलिए भी कि व्यंग्य वस्तुतः कविता की वस्तु में अन्तर्निहित है। जिस वस्तुस्थिति को निराला लेते हैं वह है समाज और राजनीति में व्याप्त छद्म और विसंगति। किसान के अनुभव और 'भाई जी' के उपदेश की विरोधी स्थितियों द्वारा यह व्यंग्य संघटित होता है। इस-लिए झींगुर की निष्कर्षात्मक टिप्पणी इस व्यंग्य को तिलमिलाहट प्रदान करती है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि व्यंग्य एक ही साथ व्यंग्य भी है और करुणा भी; वह स्थितियों की विडम्बना का उद्घाटन भी करता है और उनके निराकरण की दिशा का संकेत भी देता है। कविता में व्यंग्य वस्तु से अन्तर्निहित होकर ही तिलमिलाहट पैदा करने में समर्थित होता है, अन्यथा कोरा हास्य बनकर रह जाता है।

---

1. 'अनामिका', पृ० ११८।
2. 'नये पत्ते', पृ० ६१।

इस दृष्टि से जिन प्रगतिशील कवियों ने सशक्त व्यंग्य दिये हैं उनमें निराला के अतिरिक्त केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और रामविलास शर्मा अग्रणी हैं। रामविलास और नागार्जुन के व्यंग्य अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष हैं और केदार के व्यंग्य जटिल। रामविलास शर्मा यथार्थ के सम्बन्धों और टकरावों को प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति देते हैं इसलिए उनका लहजा भी व्यंग्यात्मक होता है। 'अगिया बैताल', 'निरंजन', आदि नामों से लिखे उनके राजनीतिक व्यंग्यों से लेकर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' जैसी सुप्रसिद्ध कविता तक यह तथ्य अबाध रूप से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए 'तुम और मैं' कविता को लें जिसमें किसान-मजदूर प्रजा पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी की नेताशाही पर व्यंग्य है :

"तुम सत्याग्रह के योग, मैं सुखद वर्ग सहयोग।
तुम समझौते की चाह और मैं उसका मधुर सुयोग
तुम शान्ति विरोधी वीर, मैं क्रान्ति-विरोध अधीर
तुम गांधी जी के धनुष और मैं बिड़ला जी का तीर।"[1]

नागार्जुन के व्यंग्य में सामान्यतः उपहास-वृत्ति अधिक है। 'भैया, लन्दन ही पसन्द है आजादी की मौसी को'[2] से लेकर 'बापू के भी ताऊ निकले तीनों बन्दर बापू के। सरल सूत्र उलझाऊ निकले तीनों बन्दर बापू के।'[3] तक में उनकी परिहास वृत्ति ही व्यंग्य में तटस्थता और सीधापन लाती है।

कहीं-कहीं उनके व्यंग्य का स्वर बिल्कुल बदल जाता है। हास-वृत्ति कम हो जाती है और स्नेहाकुल करुणा ही वक्रोक्ति बन जाती है। 'शासन की बन्दूक' के दोहे इसका आदर्श उदाहरण हैं :—

"खड़ी हो गयी चाँप कर कंकालों की हूक।
नभ में विपुल विराट्-सी शासन की बन्दूक।"[4]

मूर्ति-विधान का जो कौशल है वही व्यंग्य का प्राण है। कंकालों की हूक को चाँपकर शासन की 'विपुल-विराट्' बन्दूक खड़ी हो गयी है। दमन के इस 'विपुल-

---

१. 'जनयुग' ('अगिया बैताल'), ७ सितम्बर, १६५२।
२. 'हंस', जून, १६४६, पृ० ४६२।
३. 'प्रगतिशील कविता के मील के पत्थर', पृ० २८।
४. 'निकष', मार्च-अप्रैल, १६७१, पृ० ३।

विराट् रूप के आगे फैली हुई कंकालों की हूक क्या परिस्थिति के व्यंग्य को उद्घाटित करने के लिए पर्याप्त नहीं है ? यह करुणा ही उन्हें एक ओर 'दुखरन झा' जैसे बेबस ड्योढ़ी मास्टर के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यंग्य के लिए प्रेरित करती है और दूसरी ओर चुनावों को 'आये दिन बहार के' समझने वाले गुमानदी अवसरवादी नेताओं का बेलौस उपहास करने के लिए भी। ये नेतागण सेवा करते हैं 'जयति नख रंजिनियों' की ओर करामातों को गाते हैं। दुखरन झा दोनों के बीच की स्थिति में है इसलिए नागार्जुन उनकी बेबसी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाते हैं और 'बेबस बच्चों को मिनट-मिनट में पाँच तमाचे' लगा कर 'आदम के साँचे' ढालने की उनकी तरकीब का उपहास करते हैं। 'शासन की बन्दूक' और 'दुखरन झा' के व्यंग्य 'प्रभु जी, तुम दीपक हम बाती' जैसे व्यंग्यों से भिन्न कोटि के हैं। दुखरन की खीझ जीवन की अभावग्रस्त स्थितियों से उत्पन्न है : घुन खाये शहतीर, चूती छत, फटी भीत। इस स्थिति से मुक्ति का कोई रास्ता नहीं दीखता। इस असहाय निरीहता के कारण वह बच्चों पर अपना गुस्सा निकालता है और आदम के विकृत साँचे गढ़ता है। स्थितिजन्य खीझ और आभ्यन्तर तनाव तथा व्यक्ति की निरीह असहायता की भिड़न्त से नागार्जुन दुखरन पर व्यंग्य नहीं करते, उस व्यंग्य की चोट पड़ती है उसे इस स्थिति में पहुँचाने वाली व्यवस्था पर। जटिलता नागार्जुन की संरचना में नहीं है, इसलिए उनके कथन का बेबाकपन बहुत बड़ा नहीं जान पड़ता। उनकी कला-त्मकता का पता तब चलता है जब हम उनकी भंगिमा को उनकी वस्तु के माध्यम से देखते हैं।

व्यंग्य में जटिल-से-जटिल अन्तर्विरोधी स्थितियों को बहुत सीधेपन और निर्वैयक्तिक तटस्थता के साथ व्यक्त करने की क्षमता होती है। आधुनिक जीवन को बौद्धिक तनावों से ग्रस्त कहा जाता है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि आधुनिक जीवन में मनुष्य की बौद्धिक भूमिका बहुत बढ़ गयी है। जीवन-स्थितियों का तनाव ऐसा है कि :

"बेहिचे-सा/भयंकर हो गया है/ यथार्थ
न कोई बचाव / न कोई सुझाव।"[1]

इस विडम्बना की स्थिति में जरूरी हो गया है कि हम कला विकास के समूचे तनाव को गहराई से पकड़ें। व्यंग्य रचना में तनाव की यह पकड़ किस प्रकार की

---

१. 'आग का आईना', पृ० २७।

इस दृष्टि से जिन प्रगतिशील कवियों ने सशक्त व्यंग्य दिये हैं उनमें निराला के अतिरिक्त केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और रामविलास शर्मा अग्रणी हैं। रामविलास और नागार्जुन के व्यंग्य अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष हैं और केदार के व्यंग्य जटिल। रामविलास शर्मा यथार्थ के सम्बन्धों और टकरावों को प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति देते हैं इसलिए उनका सहजा भी व्यंग्यात्मक होता है। 'अगिया बैताल', 'निरजन', आदि नामों से लिखे उनके राजनीतिक व्यंग्यों से लेकर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' जैसी सुप्रसिद्ध कविता तक यह तथ्य अबाध रूप से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए 'तुम और मैं' कविता को लें जिसमें किसान-मजदूर प्रजा पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी की नेताशाही पर व्यंग्य है :

"तुम सत्याग्रह के योग, मैं सुखद वर्ग सहयोग।
तुम समझौते की चाह और मैं उसका मधुर सुयोग
तुम शान्ति विरोधी वीर, मैं क्रान्ति-विरोध अधीर
तुम गांधी जी के धनुष और मैं बिड़ला जी का तीर।"[1]

नागार्जुन के व्यंग्य में सामान्यतः उपहास-वृत्ति अधिक है। 'भैया, लन्दन ही पसन्द है आजादी को सीधा बो'[2] से लेकर 'बापू के भी ताऊ निकले तीनों बन्दर बापू के। सरल सूत्र उलझाऊ निकले तीनों बन्दर बापू के।'[3] तक में उनकी परिहास वृत्ति ही व्यंग्य में तटस्थता और तीखापन लाती है।

कहीं-कहीं उनके व्यंग्य का स्वर बिल्कुल बदल जाता है। हास-वृत्ति कम हो जाती है और स्नेहपूर्ण करुणा ही वक्रोक्ति बन जाती है। 'शासन की बन्दूक' के दोहे इसका आदर्श उदाहरण है :—

"खड़ी हो गयी चाँप कर कंकालों की हूक।
नभ में विपुल विराट्-सी शासन की बन्दूक।"[4]

मूर्ति-विधान का जो कौशल है वही व्यंग्य का प्राण है। कंकालों की हूक को चाँपकर शासन की 'विपुल-विराट्' बन्दूक खड़ी हो गयी है। दमन के इस 'विपुल-

---

१. 'नवयुग' ('अगिया बैताल'), ७ दिसम्बर, १९५२।
२. 'हंस', जून, १९४८, पृ० ४९२।
३. 'प्रगतिशील कविता के मील के पत्थर', पृ० २८।
४. 'निकष', मार्च-अप्रैल, १९७१, पृ० १।

विराट् रूप के आगे बँधी हुई कंकालों की हूक क्या परिस्थिति के व्यंग्य को उद्घाटित करने के लिए पर्याप्त नहीं है ? यह करुणा ही उन्हें एक ओर 'दुखरन झा' जैसे बेबस क्रोधी मास्टर के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यंग्य के लिए प्रेरित करती है और दूसरी ओर चुनावों को 'चार दिन बहार के' समझने वाले खुशामदी अवसरवादी नेताओं का बेमोल उपहास करने के लिए भी। ये नेतागण सेवा करते हैं 'जयति नख रंजिनियों' की और कलामों को गलाते हैं। दुखरन झा दोनों के बीच की स्थिति में है इसलिए नागार्जुन उनकी बेबसी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाते हैं और 'बेबस बच्चों को मिनट-मिनट में पाँच लगाये' तथा कर 'आदम के साँचे' ढालने की उनकी तकनीक का उपहास करते हैं। 'शासन की बन्दूक' और 'दुखरन झा' के व्यंग्य 'प्रभु जी, तुम दीपक हम बाती' जैसे व्यंग्यों से भिन्न कोटि के हैं। दुखरन की खीज जीवन की अभावग्रस्त स्थितियों से उत्पन्न है : घुन खाये शहतीर, चूती छत, फटी भीत। इस स्थिति से मुक्ति का कोई रास्ता नहीं दीखता। इस असहाय निरीहता के कारण वह बच्चों पर अपना गुस्सा निकालता है और आदम के विद्रूप साँचे गढ़ता है। स्थितिजन्य खीज और आभ्यन्तर तनाव तथा व्यक्ति की निरीह असहायता की स्थिति से नागार्जुन दुखरन पर व्यंग्य नहीं करते; उस व्यंग्य की चोट पड़ती है उसे इस स्थिति में पहुँचाने वाली व्यवस्था पर। जटिलता नागार्जुन की संरचना में नहीं है, इसलिए उनके कथन का वैविध्य बहुत कम नहीं जान पड़ता। उनकी कला-त्मकता का पता तब चलता है जब हम उनकी भंगिमा को उनकी वस्तु के माध्यम से देखते हैं।

व्यंग्य में जटिल-से-जटिल अन्तर्विरोधी स्थितियों को बहुत तीखेपन और निर्वैयक्तिक तटस्थता के साथ व्यक्त करने की क्षमता होती है। आधुनिक जीवन को बौद्धिक तनावों से ग्रस्त कहा जाता है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि आधुनिक जीवन में मनुष्य की बौद्धिक भूमिका बहुत बढ़ गयी है। जीवन-स्थितियों का तनाव ऐसा है कि :

"घेहिंदे-सा/भयंकर हो गया है/ यथार्थ
न कोई बचाव / न कोई सुझाव।"[1]

इस विडम्बना की स्थिति में जरूरी हो गया है कि हम वास्तविकता के समूचे तनाव को गहराई से पकड़ें। व्यंग्य रचना में तनाव की यह पकड़ किस प्रकार की

---

१. 'आग का आईना', पृ० २७।

होगी क्योंकि व्यंग्य में भावावेश के आस्फालन की जगह वस्तुस्थिति की विडम्बना का प्रकटीकरण होता है। केदार में व्यंग्यपूर्ण स्थितियों और वस्तुगत द्वन्द्व से उत्पन्न मानसिक तनाव की गहरी पकड़ विद्यमान है। उनके व्यंग्य में बाह्य स्थितियों और मानसिक तनावों का ऐसा विनियोजन है कि कथ्य में स्वभावतः जटिलता आ जाती है :

"थक गया है
जीने से ज्यादा न जीना
और आदमी है कि हँसना नहीं भूलता।"[1]

जीवन में व्याप्त विडम्बना सघन मानवीय यन्त्रणा से सम्पृक्त होकर इस कविता में व्यक्त हुई है। जिजीविषा मनुष्य में सर्वाधिक है; किन्तु वह जिन स्थितियों में जी रहा है उनमें उसका जीना न जीने के समान है। उसकी स्थिति उसकी कामनाओं और मानवीय सम्भावनाओं की मौत का प्रतीक है और उसकी हँसी इस स्थिति पर जिजीविषा का व्यंग्य। इस पूरे तनाव को केदार ने जितनी गहराई से पकड़ा है उतने ही कौशल से व्यक्त भी कर दिया है। कहने की जरूरत नहीं कि वास्तविक स्थितियों की गहरी समझ के अभाव में श्रेष्ठ व्यंग्य की रचना सम्भव नहीं है।

प्रगतिशील कविता में व्यंग्य की जो अन्तर्धारा विकसित हुई वह यथार्थवादी तस्वीर के विकास का परिणाम थी। उसकी इस नयी आधारभूमि का स्वाभाविक परिणाम हुआ एक ओर परम्परागत साहित्य-मूल्यों से विच्छेद, अभिजात-संस्कारों को चुनौती और भावनाहीन काल्पनिकता का परित्याग। तथा दूसरी ओर, शुद्ध प्रतिक्रिया की जगह व्यंग्य की प्रकटतः मजाकी मुद्रा का अपनाया जाना। सम्भवतः इसीलिए जीवन में व्याप्त "विसंगति और विडम्बना" की अभिव्यक्ति के लिए अपनायी गयी व्यंग्य की तस्वीर को क्रीड़ा-वृत्ति मान कर डॉ० नामवर सिंह उसे "छायावादी-गम्भीरता" के जवाब के रूप में देखते हैं : "अकस्मात् एक हल्की-सी बात कह कर गम्भीरता को झटके के साथ तोड़ने की प्रवृत्ति छायावादोत्तर काव्य के गद्यीकरण की व्यापक प्रवृत्ति थी।"[2]

---

1. 'आग का आईना', पृ० ७३।
2. 'कविता के नये प्रतिमान', पृ० १११।

व्यंग्य को मात्र क्रीड़ा-वृत्ति मान कर चलने के नाते नामवर के लिए वह गम्भीरता तोड़ने वाली 'हल्की बात' हो गयी और चूंकि छायावाद काल में 'हल्की बात' कहने की प्रथा न थी इसलिए इसकी धार छायावाद-विरोधी हो गयी। यह ठीक है कि नामवर ने रघुवीर सहाय आदि की जिन कविताओं को अपने इस प्रतिमान का आधार बनाया है उनमें "रोता हूँ। ठ नहीं ट" के तेलवाड़ से गम्भीरता तोड़ने के लिए 'हल्की बात' का अर्थ-चमत्कार होगा। किन्तु क्या कारण है कि जिसे नामवर 'हल्की बात' कह कर निराला की 'सरोज-स्मृति' और कुकुरमुत्ता' तक से पुष्ट करने का भगीरथ प्रयत्न करते हैं उनमें निहित व्यंग्य की अन्तर्धारा को देख नहीं पाते? क्या पुत्री-शोक के अवसर पर 'वे जो यमुना के-से कछार/पद फटे बिवाई के, उधार/ खाये के मुख ज्यों, पिये तेल/ चमरौधे के जूते सकेल/निकले, "/ ऐसे शिव से गिरिजा विवाह/ करने की मुझको नहीं चाह।'[1] जैसा प्रसंग "गम्भीर भाव-भूमि में अगम्भीर प्रसंग लाना" भर है? और क्या 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' जैसे रामविलास शर्मा के व्यंग्य छायावाद-विरोधी अभियान के अंग हैं?

क्या कारण है कि जिसे क्रीड़ा-भाव और हल्की बात कह कर नामवर छायावाद-विरोध का अस्त्र बनाते हैं उसके प्रणेता स्वयं निराला हैं जो छायावाद के सौंदर्य कवि थे? नामवर के मूल्यांकन में असंगति यह है कि वे व्यंग्य के ऐतिहासिक सन्दर्भों को नजरंदाज करके चलते हैं। इसीलिए वह छायावाद के कलावादी (गम्भीरतावादी!) पक्ष को अतिरंजित करते हैं और यह स्वीकार करने से कतराते हैं कि जिस ऐतिहासिक युग-सन्धि में व्यंग्य का विकास हुआ वह रोमांटिसिज्म के टूटने और यथार्थवाद के उदय की युग-सन्धि है। निराला का व्यक्तित्व विराट् इसलिए नहीं हो गया कि वे 'हल्की बात' कहने की क्रीड़ा-वृत्ति से इतने अभिभूत थे कि पुत्री-शोक के अवसर पर भी उससे बच न सके। उनके ऐतिहासिक महत्त्व का कारण यह है कि वे रोमान्टिक युग से लेकर यथार्थवादी युग में सङ्क्रमण तक के समूचे ऐतिहासिक दौर के जीवन्त प्रतिनिधि हैं। 'सरोज-स्मृति' में जो 'अगम्भीर प्रसंग' है वह वस्तुतः उस व्यंग्यात्मक अन्तर्धारा का ही प्रस्फुटन है जिसने कविता को पिलपिला होने से बचा लिया है। भावुकता से बचाव का कारण है आत्मदया की भावना से मुक्त होना। निराला ने आत्मदया की भावना से मुक्त होकर करुणा को व्यंग्य में बदल दिया है। इस कार्य के सम्पादन में उन्होंने यथार्थवादी तकनीक को – तटस्थता की सिद्धि-

1. 'अनामिका', पृ० ११२-१४।

होगी क्योंकि व्यंग्य में भावावेश के आस्फालन की जगह वस्तुस्थिति की विडम्बना का प्रकटीकरण होता है । केदार में व्यंग्यपूर्ण स्थितियों और वस्तुगत द्वन्द्व से उत्पन्न मानसिक तनाव की गहरी पकड़ विद्यमान है। उनके व्यंग्य में बाह्य स्थितियों और मानसिक तनावों का ऐसा विनियोजन है कि व्यंग्य में स्वभावतः जटिलता आ जाती है :

"वक्त गया है
जीने से ज्यादा न जीना
और आदमी है कि हँसना नहीं भूलता ।"[1]

जीवन में व्याप्त विडम्बना सघन मानवीय करुणा से सम्पृक्त होकर इस कविता में व्यक्त हुई है। जिजीविषा मनुष्य में सर्वाधिक है; किन्तु वह जिन स्थितियों में जी रहा है उनमें उसका जीना न जीने के समान है। उसकी स्थिति उसकी कामनाओं और मानवीय सम्भावनाओं की मौत का प्रतीक है और उसकी हँसी इस स्थिति पर जिजीविषा का व्यंग्य। इस पूरे तनाव को केदार ने जितनी गहराई से पकड़ा है उतने ही कौशल से व्यक्त भी कर दिया है। कहने की जरूरत नहीं कि कारुणिक स्थितियों की गहरी समझ के अभाव में श्रेष्ठ व्यंग्य की रचना सम्भव नहीं है।

प्रगतिशील कविता में व्यंग्य की जो अन्तर्धारा विकसित हुई वह यथार्थवादी तकनीक के विकास का परिणाम थी। उसकी इस नयी आधारभूमि का स्वाभाविक परिणाम हुआ एक ओर परम्परागत साहित्य-मूल्यों से विच्छेद, अभिजात-संस्कारों को चुनौती और भावनाहीन काल्पनिकता का परित्याग। तथा दूसरी ओर, शुद्ध प्रतिक्रिया की जगह व्यंग्य की प्रकटतः मजाकी मुद्रा का अपनाया जाना। सम्भवतः इसीलिए जीवन में व्याप्त "विसंगति और विडम्बना" की अभिव्यक्ति के लिए अपनायी गयी व्यंग्य की तकनीक को क्रीड़ा-वृत्ति मान कर डॉ० नामवर सिंह उसे "छायावादी-गम्भीरता" के भंजक के रूप में देखते हैं : " अकस्मात् एक हल्की-सी बात कह कर गम्भीरता को झटके के साथ तोड़ने की प्रवृत्ति छायावादोत्तर काव्य के नवनिर्माण की व्यापक प्रवृत्ति थी।"[2]

---

१. 'आग का आईना', पृ० ७१ ।
२. 'कविता के नये प्रतिमान', पृ० १६१ ।

व्यंग्य को मात्र क्रीड़ा-वृत्ति मान कर चलने के नाते नामवर के लिए वह गम्भीरता तोड़ने वाली 'हल्की बात' हो गयी और चूँकि छायावाद काल में 'हल्की बात' कहने की प्रथा न थी इसलिए हल्की बात छायावाद-विरोधी हो गयी। यह ठीक है कि नामवर ने रघुवीर सहाय आदि की जिन कविताओं को अपने इस प्रतिमान का आधार बनाया है उनमें "टोता हूँ। ठ नहीं ट" के लोगवाद से गम्भीरता तोड़ने के लिए 'हल्की बात' का अर्थ-चमत्कार होगा। किन्तु क्या कारण है कि जिसे नामवर 'हल्की बात' कह कर निराला की 'सरोज-स्मृति' और 'कुकुरमुत्ता' तक से पुष्ट करने का मनोरथ प्रदान करते हैं उनमें निहित व्यंग्य की अन्तर्धारा को देख नहीं पाते? क्या पुत्री-शोक के अवसर पर 'वे जो यमुना के-से कछार/पद फटे बिवाई के, उधार/ खाये के मुख ज्यों, पिये तेल/ चमरौधे जूते से सकेल/निकले, "/ ऐसे शिव से गिरिजा विवाह/ करने की मुझको नहीं चाह।'[1] जैसा प्रसंग "गम्भीर भाव-भूमि में अगम्भीर प्रसंग लाना" मात्र है? और क्या 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' जैसे रामविलास शर्मा के व्यंग्य छायावाद-विरोधी अभियान के अंग हैं?

क्या कारण है कि जिसे क्रीड़ा-भाव और हल्की बात कह कर नामवर छायावाद-विरोध का अस्त्र बनाते हैं उसके प्रणेता स्वयं निराला हैं जो छायावाद के शीर्षस्थ कवि थे? नामवर के मूल्यांकन में असंगति यह है कि वे व्यंग्य के ऐतिहासिक सन्दर्भों को नजरंदाज करके चलते हैं। इसीलिए वह छायावाद के कलावादी (गम्भीरतावादी!) पक्ष को अतिरंजित करते हैं और यह स्वीकार करने से कतराते हैं कि जिस ऐतिहासिक युग-सन्धि में व्यंग्य का विकास हुआ वह रोमांटिसिज्म के टूटने और यथार्थवाद के उदय की युग-सन्धि है। निराला का व्यक्तित्व विराट् इसलिए नहीं हो गया कि वे 'हल्की बात' कहने की क्रीड़ा-वृत्ति से इतने अभिभूत थे कि पुत्री-शोक के अवसर पर भी उससे बच न सके। उनके ऐतिहासिक महत्त्व का कारण यह है कि वे रोमांटिक युग से लेकर यथार्थवादी युग में संक्रमण तक के समूचे ऐतिहासिक दौर के जीवन्त प्रतिनिधि हैं। 'सरोज-स्मृति' में जो 'अगम्भीर प्रसंग' है वह वस्तुतः उस व्यंग्यात्मक अन्तर्धारा का ही प्रस्फुटन है जिसने कविता को लिजलिजा होने से बचा लिया है। भावुकता से बचाव का कारण है आत्मदया की भावना से मुक्त होना। निराला ने आत्मदया की भावना से मुक्त होकर कविता को व्यंग्य में बदल दिया है। इस कार्य के सम्पादन में उन्होंने यथार्थवादी तकनीक को – नाटकता की स्थिति

---

१. 'अनामिका', पृ० १११-१४।

होगी क्योंकि व्यंग्य में भावावेश के आस्फालन की जगह वस्तुस्थिति की विडम्बना का प्रकटीकरण होता है। केदार मे व्यंग्यपूर्ण स्थितियों, और वस्तुगत द्वन्द्व से उत्पन्न मानसिक तनाव की गहरी पकड़ विद्यमान है। उनके व्यंग्य में बाह्य स्थितियों और मानसिक तनावों का ऐसा विनियोजन है कि कथ्य में स्वभावतः जटिलता आ जाती है :

> "बढ़ गया है
> जीने से ज्यादा न जीना
> और आदमी है कि हँसना नहीं भूलता।"[१]

जीवन में व्याप्त विडम्बना सघन मानवीय करुणा से सम्पृक्त होकर इस कविता में व्यक्त हुई है। जिजीविषा मनुष्य में सर्वाधिक है; किन्तु वह जिन स्थितियों में जी रहा है उनमें उसका जीना न जीने के समान है। उसकी स्थिति उसकी क्षमताओं और मानवीय सम्भावनाओं की मौत का प्रतीक है और उसकी हँसी इस स्थिति पर जिजीविषा का व्यंग्य। इस पूरे तनाव को केदार ने जितनी गहराई से पकड़ा है उतने ही कौशल से व्यक्त भी कर दिया है। कहने की जरूरत नहीं कि कारुणिक स्थितियों की गहरी समझ के अभाव में श्रेष्ठ व्यंग्य की रचना सम्भव नहीं है।

प्रगतिशील कविता में व्यंग्य की जो अन्तर्धारा विकसित हुई वह यथार्थवादी तकनीक के विकास का परिणाम थी। उसकी इस नयी आधारभूमि का स्वाभाविक परिणाम हुआ एक ओर परम्परागत साहित्य-मूल्यों से विच्छेद, अभिजात-संस्कारों को चुनौती और भावनाहीन काल्पनिकता का परित्याग। तथा दूसरी ओर, क्रुद्ध प्रतिक्रिया की जगह व्यंग्य की प्रकटतः मजाकी मुद्रा का अपनाया जाना। सम्भवतः इसीलिए जीवन मे व्याप्त "विसंगति और विडम्बना" की अभिव्यक्ति के लिए अपनायी गयी व्यंग्य की तकनीक को क्रीड़ा-वृत्ति मान कर डॉ० नामवर सिंह उसे "छायावादी-गम्भीरता" के भंजक के रूप मे देखते हैं : "अकस्मात् एक हल्की-सी बात कह कर गम्भीरता को झटके के साथ तोड़ने की प्रवृत्ति छायावादोत्तर काव्य के सन्धिकाल की व्यापक प्रवृत्ति थी।"[२]

---

१. 'आग का आईना', पृ० ७३।
२. 'कविता के नये प्रतिमान', पृ० १६३।

व्यंग्य को मात्र क्रीड़ा-वृत्ति मान कर चलने के नाते नामवर के लिए वह गम्भीरता तोड़ने वाली 'हल्की बात' हो गयी और चूँकि छायावाद काल में 'हल्की बात' कहने की प्रथा न थी इसलिए इसकी धार छायावाद-विरोधी हो गयी। यह ठीक है कि नामवर ने रघुवीर सहाय आदि की जिन कविताओं को अपने इस प्रतिमान का आधार बनाया है उनमें "टोता हूँ। ढ नहीं ट" के सेमवाद से गम्भीरता तोड़ने के लिए 'हल्की बात' का अर्थ-चमत्कार होगा। किन्तु क्या कारण है कि जिसे नामवर 'हल्की बात' कह कर निराला की 'सरोज-स्मृति' और 'कुकुरमुत्ता' तक से पुष्ट करने का भगीरथ प्रयत्न करते हैं उसमें निहित व्यंग्य की अन्तर्धारा को देख नहीं पाते? क्या पुत्री-शोक के अवसर पर 'वे जो यमुना के-से कछार/पद फटे बिवाई के, उधार/ खाये के मुख ज्यों, पिये तेल/ चमरौधे जूते से सकेल/निकले, "/ ऐसे शिव से गिरिजा विवाह/ करने की मुझको नहीं चाह।'[1] जैसा प्रसंग "गम्भीर भाव-भूमि में अगम्भीर प्रसंग लाना" भर है? और क्या 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' जैसे रामविलास शर्मा के स्वयं छायावाद-विरोधी अभियान के अंग हैं?

क्या कारण है कि जिसे क्रीड़ा-भाव और हल्की बात कह कर नामवर छायावाद-विरोध का अस्त्र बनाते हैं उसके प्रणेता स्वयं निराला हैं जो छायावाद के शीर्षस्थ कवि थे? नामवर के मूल्यांकन में असंगति यह है कि वे व्यंग्य के ऐतिहासिक सन्दर्भों को नजरंदाज करके चलते हैं। इसीलिए वह छायावाद के कलावादी (गम्भीरतावादी!) पक्ष को अतिरंजित करते हैं और यह स्वीकार करने से कतराते हैं कि जिस ऐतिहासिक युग-सन्धि में व्यंग्य का विकास हुआ वह रोमांटिसिज्म के टूटने और यथार्थवाद के उदय की युग-सन्धि है। निराला का व्यक्तित्व विराट् इसलिए नहीं हो गया कि वे 'हल्की बात' कहने की क्रीड़ा-वृत्ति से इतने अभिभूत थे कि पुत्री-शोक के अवसर पर भी उससे बच न सके। उनके ऐतिहासिक महत्त्व का कारण यह है कि वे रोमांटिक युग से लेकर यथार्थवादी युग के आरम्भ तक के समूचे ऐतिहासिक दौर के जीवन्त प्रतिनिधि हैं। 'सरोज-स्मृति' में जो 'अगम्भीर प्रसंग' है वह वस्तुतः उस व्यंग्यात्मक अन्तर्धारा का ही प्रस्फुटन है जिसने कविता को निर्जीव होने से बचा लिया है। भावुकता से बचाव का कारण है आत्मदया की भावना से मुक्त होना। निराला ने आत्मदया की भावना से मुक्त होकर कविता को व्यंग्य में बदल दिया है। इस कार्य के सम्पादन में उन्होंने यथार्थवादी तकनीक को — स्वच्छन्दता की सिद्धि

---

१. 'अनामिका', पृ० १३३-३४।

को अपनाया है। उनका शोक आत्मदया न होकर वैयक्तिक तटस्थता की सूचना देता है — इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा :

"जाना तो अर्थागमोपाय, पर रहा सदा संकुचित काय
लख कर अनर्थ आर्थिक पथ पर, हारता रहा मैं स्वार्थ समर।"[१]

तटस्थ आत्मालोचना आत्मदया नहीं है; यथार्थवाद और भाववाद में यही अन्तर है।

---

१. 'अनामिका', पृ० १२२।

# काव्य-भाषा और प्रगतिशील कविता

भाषा को 'सेकण्ड सिग्नलिंग सिस्टम' की संज्ञा देकर पावलोव ने उसे हमारे अन्तर्गामी अनुभवों और उनकी बहिर्गामी अभिव्यक्ति—परिभाषा और सम्प्रेषण—के बोध एक ऐसे समर्थ माध्यम के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया था जो मनुष्य की अतिविकसित बौद्धिक क्षमता का सूचक है। अमरीकी भाषावैज्ञानिक एडवर्ड सपीर के निष्कर्षों और हिन्दी के प्रयोगवादी कवियों के अनुभवों को माध्यम बना कर डॉ॰ नामवर सिंह ने काव्य-भाषा के सम्बन्ध में लिखा है कि "कविता की भाषा का विश्लेषण करके उसके अनुभव की शक्ति को भी मापा जा सकता है।"[1] इसका कारण यह है कि "....परिवेश का बोध भाषा की क्षमता पर निर्भर है। किसी की भाषा-शक्ति उसकी बोध-शक्ति का प्रमाण है: व्यक्ति का अपना भाषा-संसार ही अनुभव का संसार है; इसलिए अनुभव संसार के विस्तार के लिए भाषा-संसार का प्रसार आवश्यक शर्त है।"[2]

डॉ॰ नामवर सिंह भाषा के बोध-पक्ष पर बल देकर वस्तुतः यह रेखांकित करना चाहते हैं कि भाषा केवल अभिव्यक्ति का नहीं, ज्ञान का भी माध्यम है। भाषा की दोहरी भूमिका की इस मान्यता को वैज्ञानिक आधार पर अधिक सामान्य रूप से इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: भाषा हमारे अन्तर्गामी अनुभवों को परिभाषित करने और इस परिभाषित बोध को अभिव्यक्त करने का दुहरा माध्यम है।

---

१. 'कविता के नये प्रतिमान', पृ॰ ११३।
२. उपर्युक्त, पृ॰ १११।

भाषा का माध्यम सामाजिक स्वीकृति पर आधारित है। इसलिए काव्य-भाषा का प्रयोग सृजन के पक्ष से निजी होते हुए भी सम्प्रेषण के पक्ष से उसका दूसरा धरातल सामाजिक दायित्व-बोध से जुड़ा है। अपनी इस द्विविध अथवा द्वन्द्वात्मक स्थिति के कारण भाषा एक ओर सामाजिक जीवन की सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग होती हैं और दूसरी ओर इस सांस्कृतिक माध्यम को कवि अपने वैयक्तिक सन्दर्भ में इस्तेमाल करता है। काव्य-भाषा के सृजन की प्रक्रिया में कवि भाषा के स्वीकृत अर्थों और मूल्यों से स्वयं नये अर्थ ग्रहण करता है और साथ ही, व्यक्तिगत अनुभूति-सन्दर्भ से युक्त करके वह भाषा को अपने खुद के नये अर्थ भी प्रदान करता है। फलतः कवि के निजी अनुभव-संसार के साथ-साथ सामाजिक अनुभवों में भी अभिवृद्धि होती है। काव्य-भाषा की तलाश या रचना से वस्तुतः कवि और समाज के अनुभवों तथा भाषा की सामाजिक परम्परा, दोनों में विस्तार होता है। कविता या अन्य सृजन-रूपों से सम्बद्ध होकर भाषा में जो द्वन्द्वात्मक गतिशीलता आती है उससे पता चलता है कि आखिर काव्य सम्बन्धी मान्यताओं के साथ काव्य-भाषा सम्बन्धी मान्यताओं में भी क्यों परिवर्तन घटित होता है। सामाजिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में व्यापक और समाज के बीच की विभिन्न सम्बद्ध-स्थितियों से काव्य-भाषा सम्बन्धी अनेक दृष्टियों का विकास स्वाभाविक है। काव्य-भाषा के इस ऐतिहासिक दृश्यफलक से स्पष्ट होता है कि प्रगतिशील साहित्य में भाषा सम्बन्धी मूल्य-बोध का सर्वथा नवीन धरातल आकस्मिक नहीं था।

सृजनकर्म में भाषा चूँकि कविता की बुनियादी संरचना का एक ऐसा माध्यम है जो कवि और पाठक के संवाद का सेतु बनता है इसलिए प्रगतिशील कविता के नये भाव-बोध और नये जनाधार के कारण भाषा का भी नवीन संस्कार आवश्यक हो उठा था। वैज्ञानिक मानववाद से लैस प्रगतिशील कविता जनता के नजदीक पहुँच कर उससे अधिक प्रत्यक्ष संवाद कायम करने और उसमें तदाकार होने में ही अपनी सार्थकता का अनुभव करती है। 'जिन्दगी की भीड़' में 'जनता के मोर्चे की प्रति-ध्वनि' होने के नाते प्रगतिशील कविता ने जिस भाषा को आदर्श बनाया वह केदारनाथ अग्रवाल के शब्दों में "किसान की वाणी, मजदूर की वाणी और जन-जन की वाणी" है।[१]

भाषा को साधारण जन के निकट लाकर कविता को लोक-निर्णय के लिए प्रस्तावित कर देना अत्यन्त क्रान्तिकारी और नैतिक साहस का काम था। भाषा

१. 'गुलमेंहदी', पृ० १६८।

सम्बन्धी प्रगतिशील दृष्टिकोण ने अध्यात्मवादी, रूढ़िवादी, साम्प्रदायिक और कुलीनतावादी भाषा संस्कारों को निर्णायक चुनौती दी। परिणामस्वरूप, डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों में, "प्रगतिवाद ने भाषा को गेय रोमाण्टिकता की परिधि से निकाल कर सड़कों और पगडण्डियों पर चलने को विवश किया। इससे उसमें एक खुलापन आया; उसने आसपास की लोक-भाषाओं से अपना शब्द-भण्डार समृद्ध किया।"[1]

गहन सकर्मक दायित्व-बोध से उत्पन्न भाषा सम्बन्धी यह प्रगतिशील दृष्टिकोण कि कविता की भाषा बोलचाल के निकट हो, भाषा का निर्माण जीवन से सीधे सम्पर्क कायम करने में सहायक हो, दो कारणों से विकसित हुआ। पहला, यथार्थ के प्रखर दबावों और जीवन के प्रामाणिक स्पन्दनों को व्यक्त करने वाली लय को, जनता के जीवन्त आन्तरिक छन्दों को गहराई से पकड़े बिना काव्य-भाषा को जन-मन में कवि के विचार-वहन करने का विश्वसनीय साधन नहीं बनाया जा सकता था। दूसरा, कवि अपनी कविता में जो दुनिया रचता है—जीवन का जो पुनः सृजन करता है—उसे दुनिया से, संवेद्य वस्तुजगत् से तटस्थ रह कर नहीं, बल्कि उसमें सक्रिय हिस्सेदारी अदा करते हुए सम्पन्न करता है। अपने प्रसिद्ध सानेट 'दर्शन-प्राइस' में त्रिलोचन शास्त्री ने लिखा है :

> "बदला हुआ समाज, नयी आशा-अभिलाषा
> नये चित्र के साथ नयी देता हूँ भाषा।"[2]

चूँकि काव्य-भाषा समाज की ऐतिहासिक आवश्यकताओं और कवि की आन्तरिक अनिवार्यताओं का संश्लिष्ट परिणाम होती है इसलिए प्रगतिशील कविता के सामने भाव और भाषा के अन्तस्सम्बन्ध को लेकर एक कठिन चुनौती प्रस्तुत हुई। भाव-व्यंजना और सरल शैली (जिसे जनता समझ सके) का सवाल उठाते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा : "भावों की गहनता, सूक्ष्मता या उच्चता के साथ भाषा सरल रहे, साथ ही, शिथिल भी न हो यह अत्यन्त दुष्कर है। इसकी सफलता का उदाहरण 'रामचरित-मानस' है। गर्जन-तर्जन करने वाले शब्दों से उसके समान-भाव भरना आसान नहीं।"[3] भाव और भाषा के सामंजस्य की यह दूसरी चुनौती समाज की नयी आवश्यकताओं और प्रगतिशील साहित्य की नयी भाषा-दृष्टि के जटिल द्वन्द्व से उत्पन्न हुई और इस चुनौती से टकराते हुए अनेक कवियों ने अपनी

---

१. 'नयी कविता', अंक ५-६ संयुक्तांक, पृ० १२।
२. 'दिगन्त', पृ० २२।
३. 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य', पृ० ७७।

समझ, जीवन की पकड़ और सामर्थ्य के अनुरूप सफलता या असफलता हासिल करते हुए प्रगतिशील कविता की भाषा-संरचना को स्वरूप प्रदान किया। गहन भाव-व्यंजना के साथ सरल शैली के निर्वाह का उदाहरण यदि नागार्जुन की 'हरिजन गाथा' है तो गर्जन-तर्जन करने वाले छन्द में उसके अनुरूप भाव न भर पाने का उदाहरण है शिवमंगल सिंह 'सुमन' की 'मास्को अब भी दूर है'।

'हरिजन गाथा' में जिस बालक की तदबीरों से 'शोषण की बुनियाद हिलेगी' उसे 'कलुआ' जैसे मामूली विशेषण से सम्बोधित किया गया है। सामाजिक विडम्बना और कथ्य की दिशावाचक मानवीयता के अन्तर्विरोध को नागार्जुन ने जितनी गहराई से जज्ब किया है उतनी ही सफलता से उपेक्षा, उलाहना के स्वर में बोलते हुए भी अपनी संवेदना की पक्षधरता और उद्देश्य की गरिमा को पाठक की चेतना में अंकित कर दिया है। बालक के प्रति बाबा के स्वर में नागार्जुन कितनी आत्मीयता भर देते हैं। और फिर भी १६-१६ मात्राओं वाली पंक्तियों के सरल छन्द में कितना गहन ओज एवं प्रभाव बनाये रखते हैं इसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

"धरे भगाओ इस बालक को/होगा यह भारी उत्पाती
जुलुम मिटाएँगे धरती से/ इसके साथी और संघाती

× × ×

जनबल धनबल सभी जुटेगा/हथियारों की कमी न होगी
लेकिन अपने लेखे इसको/ हर्ष न होगा, गमी न होगी
सबके दुःख में दुःखी रहेगा/ सबके सुख में सुख मानेगा
समझ-बूझ कर ही समता का/असली मुद्दा पहचानेगा।"[1]

इस प्रकार की कविताओं को अतिरिक्त व्याख्या की आवश्यकता नहीं होती। 'सुमन' की कविता आकार-प्रकार में 'हरिजन गाथा' से कम नहीं है। उसका छन्द २८ मात्राओं का है ताकि प्रवाह और वेग बनाये रखते हुए द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका और उसमें सोवियत संघ की दुर्जेय शक्ति के गहन, दिक्‌मण्डलव्यापी प्रभाव को ध्वनित किया जा सके। कविता का आरम्भ इस प्रकार होता है :

"घहर-घहर घर बादल गरजे, घनन घनन घन तोपें
ज्वालामुखी सजीव टैंक बन, सब धरती पर कोपे
हिली धरा, हिल गया आसमाँ, हिला विश्व का कोना

---

१. 'हरिजन गाथा', पृ० ६-७।

"राम जी के आसरे जी गया अगर यह
कौन-सी माटी गोड़ेगा ?
कौन-सा ढेला फोड़ेगा ?"[१]

प्रचारधर्मी कविताओं को छोड़कर अधिकांश प्रगतिशील कविताओं में परम्परा और जन-जीवन से प्राप्त भाषा का संवेदनात्मक वस्तु के सन्दर्भ में सृजनात्मक उपयोग दिखायी देता है। कविता के मूर्ति-विधान का प्रमुख माध्यम भाषा है, इसलिए काव्य-भाषा के सृजनात्मक चरित्र को रेखांकित करते हुए निराला ने यह समर्थ चित्र प्रस्तुत किया है :

"अति गहन विपिन में जैसे
गिरि के तट काट रही हैं
नव-जल धाराएँ, वैसे
भाषाएँ सतत बही हैं।"[२]

भाषा की विशेषता का उल्लेख-मात्र नहीं, उसका सृजनात्मक उपयोग करके निराला ने काव्य-भाषा का आदर्श प्रस्तुत किया है। पूरा छन्द एक वाक्य है ; पहली और तीसरी तथा दूसरी और चौथी पंक्तियों में तुक है, किन्तु तुक सहज तार्किक वाक्य-गठन पर हावी नहीं होता। भाषा संरचना की यह विशेषता केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, नागार्जुन, त्रिलोचन शास्त्री आदि कवियों में बड़े पैमाने पर विद्यमान है। इसमें त्रिलोचन शास्त्री का विशेष उल्लेख आवश्यक है। सॉनेट के कसे हुए छन्द के कड़े अनुशासन में भी तार्किक वाक्य-गठन का निर्वाह करके उन्होंने असामान्य कवि-प्रतिभा का ही परिचय नहीं दिया, अर्थगर्भ भाषा की रक्षा में अमूल्य योगदान भी किया है :

"सीख बीन कर खाता है अब वह बंगाली
जो दूकान चलाता था, तन कर चलता था,
स्निग्ध प्रार्थनाओं के स्वर सुन कर ढलता था
और कृपा करता था, लेकिन अब कंगाली
ने श्रीहीन कर दिया है।"[३]—इत्यादि।

---

१. 'हरिजन गाथा', पृ० ४।
२. 'परिमल', पृ० ७३।
३. 'दिगन्त', पृ० ४६।

कहने की जरूरत नहीं कि 'हरिजन गाथा' के प्रयोग से यह प्रयोग कितना भिन्न है। यहाँ सीधे जनता की भाषा का प्रयोग नहीं है। क्या तार्किक वाक्य-गठन के साथ जनता की भाषा का निर्वाह सम्भव नहीं था? वस्तुतः दोनों में कोई विरोध नहीं है। जनता की भाषा का अर्थ उस भाषा से उतना नहीं जो जनता की बोल-चाल की भाषा है, जितना उस भाषा से जिसे जनता साहित्य में पाना चाहती है। जनता के बीच नाट्य-आन्दोलन के अपने लम्बे अनुभव से उत्पल दत्त ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "लोग जो नाटक देखने आते हैं, वे केवल वह बोली सुनने के लिए नहीं आते जो वे बोलते हैं, वरन् सीधे-सादे गद्य से यदि सम्भव हो तो, लच्छेदार भाषा सुनना ही उनका अभीष्ट होता है।"[1] इस सूत्र से प्रमाणित होता है कि कला के साथ-साथ भाषा का भी सृजन होता है और वास्तविक जन-भाषा और कला की जन-भाषा के बीच निरन्तर एक द्वैत की स्थिति बनी रहती है। जहाँ जनभाषा और काव्यभाषा के बीच की इस द्वन्द्वात्मकता को नजरंदाज किया जाता है वहाँ कलावाद या प्रचारवाद का आग्रह मुखरित होता है।

कथ्य की व्यापकता के समानान्तर प्रगतिशील कविता की भाषा का प्रसार भी एक ओर प्रचारवाद की सीमा का स्पर्श करता है तो दूसरी ओर कलावाद के बिन्दु को भी छूता है। मुक्तिबोध में ही नहीं, केदारनाथ अग्रवाल तक में कला के प्रति अतिरिक्त सजगता के दर्शन होते हैं :

"खिला है अमित प्रकाश/गन्धाकाश में;/
कमलवन की तरह नयनाभिराम,/प्रकाश पंखुरियों
के सम्पुट खोले,/तल-तर-ताल/बिम्बित-प्रतिबिम्बित
होता/दिगम्बरी दिशाओं के दर्पण में।"[2]

कला के प्रति अतिरिक्त सजगता के बावजूद मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल और यहाँ तक कि शमशेर की भाषा को कलावादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनके भाषिक प्रयोगों का गहरा सम्बन्ध उनकी काव्यात्मक वस्तु से है। उल्लेखनीय बात यह है कि इन कवियों में कला के प्रति सजगता वस्तुतः आरम्भिक दौर की कला-हीनता और प्रचारात्मकता की प्रतिक्रिया के तौर पर विकसित हुई है। कला के आग्रह में वस्तु की उपेक्षा की प्रवृत्ति कविता के लिए कितनी आत्मघातिक है इसका अनुमान रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, विजयदेव नारायण साही, नरेश

---

१. 'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया', नई दिल्ली, १ दिसम्बर, १९७८।
२. 'फूल नहीं, रंग बोलते हैं', पृ० १५२।

मेहता आदि स्वय को प्रगतिशील धारा से तटस्थ मानने वाले कवियों की सपाटबयानी की भंगिमा से लगाया जा सकता है। मुक्तिबोध की भी जो पंक्तियाँ सर्वाधिक उद्धृत हुई हैं वे 'कविता में कहने की आदत नही/पर कह दूँ ''' आदि सीधी सपाटबयानी की ही पक्तियाँ हैं। स्पष्ट है कि वस्तु के सघन प्रवाह के कारण भाषा का सीधापन, 'सपाटपन' ही काव्यात्मक प्रभाव अर्जित करता है।

भाषा में सहजता का आग्रह, जनता की भाषा मे, अर्थात् जनता की इच्छित भाषा में सृजन का आग्रह प्रगतिशील कविता मे केवल नैतिक आग्रह नही था, उसका स्पष्ट सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्य भी था। यह उद्देश्य हिन्दू रूढ़िवाद और मुस्लिम कट्टरतावाद की साम्प्रदायिक भाषा-नीति के विरुद्ध जवाहरलाल नेहरू और प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तावित 'हिन्दुस्तानी' के माध्यम से हिन्दी-उर्दू-एकता ही नही, हिन्दू-मुस्लिम एकता के भी मानवीय ध्येय से प्रेरित था। भाषा सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का आधारभूत घटक है इसलिए जनता के सांस्कृतिक एकीकरण और भाषागत एकता को अलग करके नही देखा जा सकता। जो लोग हिन्दुस्तानी भाषा के विरुद्ध संस्कृतनिष्ठ तत्समवादी हिन्दी और अरबी-फारसीवादी उर्दू के समर्थक थे वे हिन्दी-उर्दू मे लिपि-भेद और भाषा-भेद बनाये रखने का ही समर्थन नही कर रहे थे, जाने-अनजाने जनता की जातीय एकता को धर्म के नाम पर बाधित भी कर रहे थे। हिन्दुस्तानी के विरोधियों मे जहाँ एक ओर राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, अम्बिकादत्त वाजपेयी, महामना मदनमोहन मालवीय आदि हिन्दू रूढ़िवाद और पुनरुत्थानवाद के समर्थक लोग थे वही हिन्दी-उर्दू की दो भाषाओं के साथ-साथ दो लिपियों की वकालत करने वाले मौलवी अब्दुल हक, अली सरदार जाफरी आदि प्रगतिशील कहे जाने वाले लोग भी थे।

इस अन्तर्बाह्य संघर्ष में प्रगतिशील कविता ने सफलतापूर्वक एक सुनिश्चित भाषा इसलिए विकसित कर ली कि सिद्धान्त और व्यवहार में वह जनता की जातीय एकता की समर्थक थी। जाति-धर्म आदि के आधार पर राष्ट्रीयता (जातीयता) को स्वीकार न कर प्रगतिशीलों ने जातीयता के प्रश्न को मूलतः सांस्कृतिक प्रश्न माना। इस सम्बन्ध में प्रगतिशील दृष्टि यह थी कि भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों में विकसित सांस्कृतिक विशिष्टताओं के कारण विभिन्न जातियों (नेशनैलिटीज) का निर्माण हुआ है। भाषा इस जातीय संगठन का मूल घटक है। इसलिए धर्म के नाम पर जाति और भाषा का बँटवारा अस्वाभाविक और अमानवीय कार्य है। हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानों की दो जातियाँ हैं—इसका कोई व्यावहारिक प्रमाण नहीं मिलता। किसान या मजदूर जनता की एक जाति, एक भाषा

होती है, व्यवहार में हम ऐसा ही जानते हैं। हाँ, धनी और कुलीन हिन्दू-मुसलमानों में भाषा और संस्कृति का बड़ा अन्तर विद्यमान है। इसलिए जातीय एकता और स्वभावतः भाषागत एकता का समर्थन श्रमिक जनता के हितों से सम्बद्ध है और इसका विरोध जनता के दुश्मनों के हितों से।

यह सैद्धान्तिक प्रस्थापना प्रगतिशील साहित्य की भाषा में व्यावहारिक स्तर पर देखी जा सकती है। 'भगतसिंह से' कविता में शंकर शैलेन्द्र ने लिखा है :

"भगतसिंह इस बार न लेना काया भारतवासी की,
देश-भक्ति के लिए आज भी सजा मिलेगी फाँसी की।

× × ×

मत समझो पूजे जाओगे क्योंकि लड़े थे दुश्मन से,
रुत ऐसी है, आँख लड़ी है, अब दिल्ली की लन्दन से,
कामन-वेल्थ कुटुम्ब देश को खींच रहा है मन्तर से,
प्रेम विभोर हुए नेतागण रस बरसा है अम्बर से,
भोगी हुए वियोगी दुनिया बदल गयी बनवासी की।"[1]

रुत, कामनवेल्थ, अम्बर आदि में हिन्दी-उर्दू-अंग्रेजी के शब्दों का निर्बन्ध व्यवहार ही नहीं, रुत के साथ आँख लड़ने के पूरे प्रसंग में दरबारी और रवां उर्दू शायरी के मिजाज का और बनवासी के प्रसंग में जनता के पूर्वजों से अनुप्राणित भक्ति-साहित्य की आत्मा का कितना सधा हुआ प्रयोग है—यह दर्शनीय है। संघर्ष के चित्रण में, जनता के सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यक्ति में हिन्दी-उर्दू का भेद-भाव अधिक नहीं रह जाता। इस दिशा में प्रगतिशील लेखक संघ के प्रयासों के सम्बन्ध में डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है, "सन् '३६ के बाद हिन्दी और उर्दू लेखकों की एक बहुत बड़ी संख्या जितना एक-दूसरे के निकट आयी उतना पहले कभी न आयी थी।"[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रगतिशील कविता के भाव-विषयक संघर्ष ने न केवल शुद्धतावादी नारों को तोड़ कर भाषा की सहजता का मार्ग प्रशस्त किया वरन् बहुत बार ग्राम भाषा के निकट खिसक कर उसे निकट [illegible]

---

1. 'हंस', नवम्बर, १९४८, पृ० ११८।
2. 'भाषा और समाज', पृ० ३१९।

मेहता आदि स्वयं को प्रगतिशील धारा से तटस्थ मानने वाले कवियों की सपाटबयानी की भंगिमा से लगाया जा सकता है। मुक्तिबोध की भी जो पंक्तियाँ सर्वाधिक उद्धृत हुई हैं वे 'कविता में कहने की आदत नहीं/पर कह दूँ ...' आदि सीधी सपाटबयानी की ही पंक्तियाँ हैं। स्पष्ट है कि वस्तु के सघन प्रवाह के कारण भाषा का सीधापन, 'सपाटपन' ही काव्यात्मक प्रभाव अर्जित करता है।

भाषा में सहजता का आग्रह, जनता की भाषा में, अर्थात् जनता की इच्छित भाषा में सृजन का आग्रह प्रगतिशील कविता में केवल नैतिक आग्रह नहीं था, उसका स्पष्ट सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्य भी था। यह उद्देश्य हिन्दू रूढ़िवाद और मुस्लिम कट्टरतावाद की साम्प्रदायिक भाषा-नीति के विरुद्ध जवाहरलाल नेहरू और प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तावित 'हिन्दुस्तानी' के माध्यम से हिन्दी-उर्दू-एकता ही नहीं, हिन्दू-मुस्लिम एकता के भी मानवीय ध्येय से प्रेरित था। भाषा सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का आधारभूत घटक है इसलिए जनता के सांस्कृतिक एकीकरण और भाषागत एकता को अलग करके नहीं देखा जा सकता। जो लोग हिन्दुस्तानी भाषा के विरुद्ध संस्कृतनिष्ठ तत्समवादी हिन्दी और अरबी-फारसीवादी उर्दू के समर्थक थे वे हिन्दी-उर्दू में लिपि-भेद और भाषा-भेद बनाये रखने का ही समर्थन नहीं कर रहे थे, जाने-अनजाने जनता की जातीय एकता को धर्म के नाम पर बाधित भी कर रहे थे। हिन्दुस्तानी के विरोधियों में जहाँ एक ओर राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, अम्बिकादत्त वाजपेयी, महामना मदनमोहन मालवीय आदि हिन्दू रूढ़िवाद और पुनरुत्थानवाद के समर्थक लोग थे वहीं हिन्दी-उर्दू की दो भाषाओं के साथ-साथ दो लिपियों की वकालत करने वाले मौलवी अब्दुल हक, अली सरदार जाफरी आदि प्रगतिशील कहे जाने वाले लोग भी थे।

इस अन्तर्बाह्य संघर्ष में प्रगतिशील कविता ने सफलतापूर्वक एक सुनिश्चित भाषा इसलिए विकसित कर ली कि सिद्धान्त और व्यवहार में वह जनता की जातीय एकता की समर्थक थी। जाति-धर्म आदि के आधार पर राष्ट्रीयता (जातीयता) को स्वीकार न कर प्रगतिशीलों ने जातीयता के प्रश्न को मूलतः सांस्कृतिक प्रश्न माना। इस सम्बन्ध में प्रगतिशील दृष्टि यह थी कि भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों में विकसित सांस्कृतिक विशिष्टताओं के कारण विभिन्न जातियों (नेश-नैलिटीज) का निर्माण हुआ है। भाषा इस जातीय संगठन का मूल घटक है। इसलिए धर्म के नाम पर जाति और भाषा का बँटवारा अस्वाभाविक और अमानवीय कार्य है। हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानों की दो जातियाँ हैं—इसका कोई व्याव-हारिक प्रमाण नहीं मिलता। किसान या मजदूर जनता की एक जाति, एक भाषा

होती है, व्यवहार में हम ऐसा ही जानते हैं। हाँ, धनी और कुलीन हिन्दू-मुसलमानों में भाषा और संस्कृति का बड़ा अन्तर विद्यमान है। इसलिए जातीय एकता और स्वभावतः भाषागत एकता का समर्थन श्रमिक जनता के हितों से सम्बद्ध है और इसका विरोध जनता के दुश्मनों के हितों से।

यह सैद्धान्तिक प्रस्थापना प्रगतिशील साहित्य की भाषा में व्यावहारिक स्तर पर देखी जा सकती है। 'भगतसिंह से' कविता में शंकर शैलेन्द्र ने लिखा है :

"भगतसिंह इस बार न लेना काया भारतवासी की,
देश-भक्ति के लिए आज भी सजा मिलेगी फाँसी की।
× × ×
मत समझो पूजे जाओगे क्योंकि लड़े थे दुश्मन से,
रुत ऐसी है, आँख लड़ी है, अब दिल्ली की लन्दन से,
कामन-वेल्थ कुटुम्ब देश को खींच रहा है मन्तर से,
प्रेम विभोर हुए नेतागण रस बरसा है अम्बर से,
भोगी हुए वियोगी दुनिया बदल गयी वनवासी की।"[1]

रुत, कामनवेल्थ, अम्बर आदि में हिन्दी-उर्दू-अंग्रेजी के शब्दों का निर्बन्ध व्यवहार ही नहीं, रुत के साथ आँख लड़ने के पूरे प्रसंग में दरबारी और स्वयं उर्दू शायरी के मिज़ाज का और वनवासी के प्रसंग में जनता के मूल्यों से अनुप्राणित भक्ति-साहित्य की भाषा का कितना सधा हुआ प्रयोग है—यह स्पष्ट है। संघर्ष के चित्रण में, जनता के सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यक्ति में हिन्दी-उर्दू का भेद-भाव अधिक नहीं रह जाता। इस दिशा में प्रगतिशील लेखक संघ के प्रयासों के सम्बन्ध में डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है, "सन् '४६ के आसपास हिन्दी और उर्दू लेखकों की एक बहुत बड़ी संख्या जितना एक-दूसरे के निकट आयी उतना पहले कभी न आयी थी।"[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रगतिशील कविता के भाव-विस्तार एवं ने न केवल छायावादी संस्कारों को तोड़ कर भाषा की संरचना का नया स्वरूप दिया बल्कि बहुत बार जन भाषा के निकट खिसक कर उसे निकट देशज संस्कार-

1. 'हंस', नवम्बर, १९४८, पृ० ११८।
2. 'भाषा और समाज', पृ० ३३९।

मेहता आदि स्वय को प्रगतिशील धारा से तटस्थ मानने वाले कवियो की सपाटबयानी की भंगिमा से लगाया जा सकता है। मुक्तिबोध की भी जो पक्तियाँ सर्वाधिक उद्धृत हुई हैं वे 'कविता मे कहने की आदत नही/पर कह दूँ ...' आदि सीधी सपाटबयानी की ही पक्तियाँ हैं। स्पष्ट है कि वस्तु के सघन प्रवाह के कारण भाषा का सीधापन, 'सपाटपन' ही काव्यात्मक प्रभाव अर्जित करता है।

भाषा में सहजता का आग्रह, जनता की भाषा मे, अर्थात् जनता की इच्छित भाषा में सृजन का आग्रह प्रगतिशील कविता मे केवल नैतिक आग्रह नही था, उसका स्पष्ट सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्य भी था। यह उद्देश्य हिन्दू रूढिवाद और मुस्लिम कट्टरतावाद की साम्प्रदायिक भाषा-नीति के विरुद्ध जवाहरलाल नेहरू और प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तावित 'हिन्दुस्तानी' के माध्यम से हिन्दी-उर्दू-एकता ही नही, हिन्दू-मुस्लिम एकता के भी मानवीय ध्येय से प्रेरित था। भाषा सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का आधारभूत घटक है इसलिए जनता के सांस्कृतिक एकीकरण और भाषागत एकता को अलग करके नही देखा जा सकता। जो लोग हिन्दुस्तानी भाषा के विरुद्ध सस्कृतनिष्ठ तत्समवादी हिन्दी और अरबी-फारसीवादी उर्दू के समर्थक थे वे हिन्दी-उर्दू मे लिपि-भेद और भाषा-भेद बनाये रखने का ही समर्थन नही कर रहे थे, जाने-अनजाने जनता की जातीय एकता को धर्म के नाम पर बाधित भी कर रहे थे। हिन्दुस्तानी के विरोधियो मे जहाँ एक ओर राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, अम्बिकादत्त वाजपेयी, महामना मदनमोहन मालवीय आदि हिन्दू रूढिवाद और पुनरुत्थानवाद के समर्थक लोग थे वही हिन्दी-उर्दू की दो भाषाओं के साथ-साथ दो लिपियों की वकालत करने वाले मौलवी अब्दुल हक, अली सरदार जाफरी आदि प्रगतिशील कहे जाने वाले लोग भी थे।

इस अन्तर्बाह्य सघर्ष में प्रगतिशील कविता ने सफलतापूर्वक एक सुनिश्चित भाषा इसलिए विकसित कर ली कि सिद्धान्त और व्यवहार मे वह जनता की जातीय एकता की समर्थक थी। जाति-धर्म आदि के आधार पर राष्ट्रीयता (जातीयता) को स्वीकार न कर प्रगतिशीलों ने जातीयता के प्रश्न को मूलतः सांस्कृतिक प्रश्न माना। इस सम्बन्ध में प्रगतिशील दृष्टि यह थी कि भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियो मे विकसित सांस्कृतिक विशिष्टताओ के कारण विभिन्न जातियो (नेशनैलिटीज) का निर्माण हुआ है। भाषा इस जातीय संगठन का मूल घटक है। इसलिए धर्म के नाम पर जाति और भाषा का बँटवारा अस्वाभाविक और अमानवीय कार्य है। हिन्दुस्तान के हिन्दुओ और मुसलमानों की दो जातियाँ हैं—इसका कोई व्यावहारिक प्रमाण नही मिलता। किसान या मजदूर जनता की एक जाति, एक भाषा

होती है, व्यवहार से हम ऐसा ही जानते हैं। हाँ, धनी और कुलीन हिन्दू-मुसलमानों मे भाषा और संस्कृति का बड़ा अन्तर विद्यमान है। इसलिए जातीय एकता और स्वभावत: भाषागत एकता का समर्थन श्रमिक जनता के हितों से सम्बद्ध है और इसका विरोध जनता के दुश्मनों के हितों से।

यह सैद्धान्तिक प्रस्थापना प्रगतिशील साहित्य की भाषा मे व्यावहारिक स्तर पर देखी जा सकती है। 'भगतसिंह से' कविता में शकर शैलेन्द्र ने लिखा है :

"भगतसिंह इस बार न लेना काया भारतवासी की,
देश-भक्ति के लिए आज भी सजा मिलेगी फांसी की।

× × ×

मत समझो पूजे जाओगे क्योंकि लड़े थे दुश्मन से,
रुत ऐसी है, आँख लड़ी है, अब दिल्ली की लन्दन से,
कामन-वेल्थ कुटुम्ब देश को खींच रहा है मन्तर से,
प्रेम विभोर हुए नेतागण रस बरसा है अम्बर से,
भोगी हुए वियोगी दुनिया बदल गयी बनवासी की।"[1]

रुत, कामनवेल्थ, अम्बर आदि मे हिन्दी-उर्दू-अंग्रेजी के शब्दों का निर्बंध व्यवहार ही नही, रुत के साथ आँख लड़ने के पूरे प्रसंग मे दरबारी और स्वयं उर्दू शायरी के मिजाज का और बनवासी के प्रसग मे जनता के मूल्यों से अनुप्राणित भक्ति-साहित्य की आत्मा का कितना सधा हुआ प्रयोग है—यह स्वयसिद्ध है। सघर्ष के चित्रण मे, जनता के सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यक्ति में हिन्दी-उर्दू का भेद-भाव अधिक नही रह जाता। इस दिशा में प्रगतिशील लेखक संघ के प्रयत्नों के सम्बन्ध मे डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है, "सन् '३६ के आसपास हिन्दी और उर्दू लेखकों को एक बहुत बड़ी सख्या जितना एक-दूसरे के निकट आयी उतना पहले कभी न आयी थी।"[2]

कहने की आवश्यकता नही कि प्रगतिशील कविता के भाषा-विषयक संघर्ष ने न केवल शुद्धतावादी संस्कारों को तोड़ कर भाषा की सकरता का मार्ग प्रशस्त किया वरन् बहुत बार ग्राम भाषा के निकट खिसक कर उसने निपट गँवारू संस्कार-

१. 'हंस', नवम्बर, १९४८, पृ० ११२।
२. 'भाषा और समाज', पृ० ३२६।

मेहता आदि स्वय को प्रगतिशील धारा से तटस्थ मानने वाले कवियों की सपाटबयानी की भंगिमा से लगाया जा सकता है। मुक्तिबोध की भी जो पंक्तियाँ सर्वाधिक उद्धृत हुई हैं वे 'कविता में कहने की आदत नहीं/पर कह दूँ ...' आदि सीधी सपाटबयानी की ही पंक्तियाँ हैं। स्पष्ट है कि वस्तु के सघन प्रवाह के कारण भाषा का सीधापन, 'सपाटपन' ही काव्यात्मक प्रभाव अर्जित करता है।

भाषा में सहजता का आग्रह, जनता की भाषा मे, अर्थात् जनता की इच्छित भाषा में सृजन का आग्रह प्रगतिशील कविता मे केवल नैतिक आग्रह नही था, उसका स्पष्ट सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्य भी था। यह उद्देश्य हिन्दू रूढ़िवाद और मुस्लिम कट्टरतावाद की साम्प्रदायिक भाषा-नीति के विरुद्ध जवाहरलाल नेहरू और प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तावित 'हिन्दुस्तानी' के माध्यम से हिन्दी-उर्दू-एकता ही नही, हिन्दू-मुस्लिम एकता के भी मानवीय ध्येय से प्रेरित था। भाषा सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का आधारभूत घटक है इसलिए जनता के सांस्कृतिक एकीकरण और भाषागत एकता को अलग करके नहीं देखा जा सकता। जो लोग हिन्दुस्तानी भाषा के विरुद्ध संस्कृतनिष्ठ तत्समवादी हिन्दी और अरबी-फारसीवादी उर्दू के समर्थक थे वे हिन्दी-उर्दू मे लिपि-भेद और भाषा-भेद बनाये रखने का ही समर्थन नही कर रहे थे, जाने-अनजाने जनता की जातीय एकता को धर्म के नाम पर बाधित भी कर रहे थे। हिन्दुस्तानी के विरोधियों मे जहाँ एक ओर राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, अम्बिकादत्त वाजपेयी, महामना मदनमोहन मालवीय आदि हिन्दू रूढ़िवाद और पुनरुत्थानवाद के समर्थक लोग थे वहीं हिन्दी-उर्दू की दो भाषाओं के साथ-साथ दो लिपियों की वकालत करने वाले मौलवी अब्दुल हक, अली सरदार जाफरी आदि प्रगतिशील कहे जाने वाले लोग भी थे।

इस अन्तर्बाह्य संघर्ष में प्रगतिशील कविता ने सफलतापूर्वक एक सुनिश्चित भाषा इसलिए विकसित कर ली कि सिद्धान्त और व्यवहार मे वह जनता की जातीय एकता की समर्थक थी। जाति-धर्म आदि के आधार पर राष्ट्रीयता (जातीयता) को स्वीकार न कर प्रगतिशीलो ने जातीयता के प्रश्न को मूलतः सांस्कृतिक प्रश्न माना। इस सम्बन्ध में प्रगतिशील दृष्टि यह थी कि भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों में विकसित सांस्कृतिक विशिष्टताओं के कारण विभिन्न जातियों (नेशनैलिटीज) का निर्माण हुआ है। भाषा इस जातीय संगठन का मूल घटक है। इसलिए धर्म के नाम पर जाति और भाषा का बँटवारा अस्वाभाविक और अमानवीय कार्य है। हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानों की दो जातियाँ हैं—इसका कोई व्यावहारिक प्रमाण नही मिलता। किसान या मजदूर जनता की एक जाति, एक भाषा

होती है, व्यवहार से हम ऐसा ही जानते हैं। हाँ, धनी और कुलीन हिन्दू-मुसलमानों में भाषा और संस्कृति का बड़ा अन्तर विद्यमान है। इसलिए जातीय एकता और स्वभावतः भाषागत एकता का समर्थन श्रमिक जनता के हितों से सम्बद्ध है और इसका विरोध जनता के दुश्मनों के हितों से।

यह सैद्धान्तिक प्रस्थापना प्रगतिशील साहित्य की भाषा में व्यावहारिक स्तर पर देखी जा सकती है। 'भगतसिंह से' कविता में शंकर शैलेन्द्र ने लिखा है :

"भगतसिंह इस बार न लेना काया भारतवासी की,
देश-भक्ति के लिए आज भी सजा मिलेगी फाँसी की।
× × ×
मत समझो पूजे जाओगे क्योंकि लड़े थे दुश्मन से,
रुत ऐसी है, आँख लड़ी है, अब दिल्ली की लन्दन से,
कामन-वेल्थ कुटुम्ब देश को खींच रहा है मन्तर से,
प्रेम विभोर हुए नेतागण रस बरसा है अम्बर से,
भोगी हुए वियोगी दुनिया बदल गयी बनवासी की।"[1]

रुत, कामनवेल्थ, अम्बर आदि में हिन्दी-उर्दू-अंग्रेजी के शब्दों का निर्बन्ध व्यवहार ही नहीं, रुत के साथ आँख लड़ने के पूरे प्रसंग में दरबारी और स्वयं उर्दू शायरी के मिजाज का और बनवासी के प्रसंग में जनता के मूल्यों से अनुप्राणित भक्ति-साहित्य की आत्मा का कितना सधा हुआ प्रयोग है—यह स्वयसिद्ध है। संघर्ष के चित्रण में, जनता के सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यक्ति में हिन्दी-उर्दू का भेद-भाव अधिक नहीं रह जाता। इस दिशा में प्रगतिशील लेखक संघ के प्रयत्नों के सम्बन्ध में डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है, "सन् '३६ के आसपास हिन्दी और उर्दू लेखकों की एक बहुत बड़ी संख्या जितना एक-दूसरे के निकट आयी उतना पहले कभी न आयी थी।"[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रगतिशील कविता के भाषा-विषयक संघर्ष ने न केवल शुद्धतावादी संस्कारों को तोड़ कर भाषा की संकरता का मार्ग प्रशस्त किया वरन् बहुत बार ग्राम भाषा के निकट खिसक कर उसने निपट गँवारू संस्कार-

---

१. 'हंस', नवम्बर, १९४८, पृ० १३२।
२. 'भाषा और समाज', पृ० ३५६।

हीनता तक का परिचय दिया। पढ़ीस, सुदर्शन चक्र, वंशीधर शुक्ल आदि ने तो मुख्यतः ग्रामभाषा में ही रचनाएँ की। भाषा की यह संकरता और संस्कारहीनता सम्भ्रान्त रुचि वाले कुलीनों के लिए असह्य थी; किन्तु प्रगतिशील कवियों ने कलात्मक स्तर पर सृजनात्मक भाषा के निर्माण और विकास के क्रम मे इन सभी प्रकार के प्रयोगों को अपनाया। यह सयोग की बात नही है कि कविता के प्रति कुलीनतावादी दृष्टि रखने वाले अज्ञेय तक ने भाषा की सृजनशीलता के लिए उसकी संकरता का जोरदार समर्थन किया है।[1]

काव्य-भाषा के प्रति यह नया सस्कार वस्तुतः अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण को अधिक समर्थ बनाने के प्रयत्नों के कारण विकसित हुआ। कवियों का आदर्श उत्कट भावस्फालन से हट कर यह हुआ जैसा कि शमशेर ने कहा है :

"बात बोलेगी
हम नही
भेद खोलेगी
बात ही।"[2]

कविता मे कवि का अनपेक्षित हस्तक्षेप न हो, कविता स्वयं अपने अन्तर्बाह्य सन्दर्भों को ध्वनित करे, यह कलावाद का आग्रह नही है, कविता को जनता के साथ जोड़ते हुए कला की रक्षा करने का संकल्प है। इस साधना मे कवि तभी सफल हो सकता है जब वह भाषा के प्रति व्यापक जीवन-दृष्टि से प्रेरित हो तथा शब्दों के चुनाव में मुख्य ध्यान शुद्धता पर न देकर शब्दो के अर्थ, उनकी उपयुक्ततम अर्थच्छाया, संवेदनात्मक अन्तर्वस्तु और ध्वनि एवं नाद-सगीत पर दे। "शब्दो में चित्र और संगीत कला के भी तत्त्व निहित हैं और सूक्ष्म मनोवृत्तियो वाला कवि उनका प्रयोग करता है।"[3] इस कथन के बाद जब रामविलास शर्मा शब्दों के प्रयोग में किसी प्रकार की सीमा को स्वीकार नही करते तो वे वस्तुतः समर्थ और शक्तिशाली भाषा के निर्माण की आवश्यकता पर ही बल देते हैं : "परन्तु प्रतिभाशाली कवि सदा से कविता के योग्य न समझे जाने वाले शब्दों का साहस के साथ प्रयोग करते चले आये हैं। ऐसा न करने से कविता का जीवन नष्ट हो जाय और थोड़े-से शब्दों को कवित्वपूर्ण जान कवि उन्ही का लौट-फेर प्रयोग किया करें। कवि का स्पर्श पा क्षुद्र-से-क्षुद्र शब्द भी

---

१. दे० 'लिखि कागद कोरे', पृ० ७२-३।
२. 'दूसरा सप्तक', पृ० ८१।
३. 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य', पृ० ७४।

जाग कर चमत्कार कर सकते हैं।"[1] क्या 'हरिजन गाथा' के 'रैदासी कुटिया के अधेड़ संत गरीबदास' की 'बकरी वाली गंगा-जमनी दाढ़ी', गले में लटकता 'अँगूठानुमा जरा-सा टुकड़ा तुलसीकाठ का', उनके 'कपार पर, बायी तरफ घोड़े के खुर का निशान', 'धुच्ची आँखें' और 'कठमस्त बदन'[2] आदि कविता के योग्य न समझे जाने वाले शब्द या बिम्ब कवि के स्पर्श से जाग कर सचमुच चमत्कार नही करते ?

कहने का तात्पर्य यह कि प्रगतिशील कविता के सामने मुख्य प्रश्न काव्यात्मक समझे जाने वाले शब्दों से निर्मित एक ऐसी काव्य-भाषा के प्रयोग का कभी नही रहा जो गुणदोषवाचकता से निरपेक्ष शुद्ध कविता की रचना मे सहायक हो। उसके सामने मुख्य प्रश्न रहा है जनता के साथ जीवन्त घात-प्रतघात को मूर्त कर सकने वाली ऐसी भाषा के प्रयोग का जो कवि और पाठक के बीच फासले को कम करे, जनता में संघर्षशील एकता लाये और जीवन के कथ्य को पूरी-पूरी प्रामाणिकता और जीवन्तता के साथ प्रतिबिम्बित करे। संक्षेप मे, काव्य-भाषा की सृजनशीलता का प्रश्न एक तरफ काव्य-सृजन का आन्तरिक प्रश्न भी था और दूसरी तरफ कविता के उद्देश्य सम्बन्धी मूल्यों का भी। कलावादियो और प्रगतिवादियों में मुख्य अन्तर यही है कि कलावादी पहले प्रश्न को काव्य का आन्तरिक प्रश्न मानते हुए दूसरे प्रश्न को काव्येतर मानता है और इस प्रकार काव्य-भाषा अथवा उसकी सृजनशीलता के प्रश्न को निरपेक्ष और स्वयभू बना देता है, जबकि प्रगतिवादी दोनो को समान रूप से काव्य-सृजन की आन्तरिक समस्या के रूप मे अंगीकार करता है। निश्चय ही, व्यापक दृश्य-परिधि की जटिल द्वन्द्वात्मकता के नाते प्रगतिशील कवि का भाषा सम्बन्धी संघर्ष अधिक पेचीदा रहा है। इस अन्तस्संघर्ष मे प्रगतिशील कवियो ने अनेक प्रकार के भाषिक प्रयोग किये हैं जिन्हे डॉ० कैलाश वाजपेयी भाषा-शैली के तीन वर्गों मे बाँटते हैं :

१. उद्बोधनात्मक : इसने सहजता, प्रवाह और गेयता के बावजूद प्रचारात्मक उद्देश्य होने के नाते "किसी भी प्रकार की बौद्धिकता, कलात्मकता एव शिल्प-कौशल का प्रयोग नही होने दिया।"
२. वर्णनात्मक : कथात्मक विषयों अथवा दृश्यों के चित्रण के लिए उपयुक्त मानी गयी भाषा-शैली।

---

१. 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य', पृ० ७५।
२. 'हरिजन गाथा', पृ० ६।

३. विचारात्मक : इसमें समर्थ और समृद्ध भाषा के साथ "काव्य के तत्त्व भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं।"[१]

यदि वर्गीकरण के दृष्टिकोण से देखें तो उद्‌बोधनात्मक, वर्णनात्मक और विचारात्मक के अलावा सूक्ति-शैली, अन्तरग संगीतात्मक भाषा, मुहावरेदार भाषा, आदि अनेक वर्गों-उपवर्गों की कल्पना की जा सकती है। किन्तु, प्रगतिशील कविता की भाषा के बारे मे समस्या वर्गीकरण की उतनी नही जितनी सास्कृतिक गतिशीलता के बीच सक्रिय हिस्सेदारी अदा करने की है।

कहने की जरूरत नही कि भाषा-सम्बन्धी प्रगतिशील विवेक का सम्बन्ध कविता और जन-जीवन के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धो से है। भावात्मक स्तर पर प्रगतिशील कविता जनता से जुड़ी हुई है। वह कला को जनता से जोड़ने, अर्थात् कवि और पाठक के बीच की खाईं पाटने का उपक्रम करती है। विशिष्ट ऐतिहासिक और वैचारिक बोध के कारण वह जनता के अस्वाभाविक बिखराव को दूर करने, उसमे जुझारू सांस्कृतिक एकता लाने का प्रयत्न करती है। दूसरी तरफ, सृजनात्मक धरातल पर उसका सघर्ष कला की स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए भाव के अनुरूप उपयुक्ततम भाषा-सरचना की दिशा मे है। इस द्विविध सघर्ष मे प्रगतिशील कविता ने जिस भाषा का विकास किया उसने जनता और कवि के सम्बन्धों को, भाषा की व्यजना-क्षमता और अनुभव-राशि को विकसित किया, कुलीनतावादी, सम्प्रदायवादी भाषा-सस्कारो को निर्णायक चुनौती दी; समर्थ और सृजनात्मक काव्य-भाषा की रचना मे महत्त्वपूर्ण पहलकदमी की।

---

१. 'आधुनिक हिन्दी कविता मे शिल्प', पृ० २५३-५४।

# प्रगतिशील कविता : आलोचनाएँ और आलोचना दृष्टियाँ

काव्य सृजन की आन्तरिक चुनौतियाँ एक गतिशील द्वन्द्व से सम्बद्ध हैं और ये मूलतः दो स्तरों पर प्रकट होती हैं :

१. सृजनबिन्दु से—कला में रूप और वस्तु के उपयुक्त सन्तुलन का स्तर, और

२. सम्प्रेषण बिन्दु से—रचनाकार और पाठक के बीच अन्तस्सम्बन्ध का स्तर।

किसी साहित्य के स्वभाव और स्वरूप तथा गुण और दोष को इन्हीं दो कोणों से परखा जा सकता है। प्रगतिशील कविता पर मुख्यतः नारेबाजी, कलाहीनता, भद्देपन, बौद्धिकता, दलगत राजनीतिक प्रचार, विदेशी अनुकरण, आर्थिक पक्ष की प्रमुखता आदि के आरोप लगाये जाते हैं। यह सच है कि इस प्रकार के आरोप सर्वथा निराधार नहीं हैं। किन्तु यह और भी सच है कि बहुत अंशों में ऐसे आरोप स्वतः भी आग्रहों-दुराग्रहों से प्रेरित हैं। जहाँ तक उनमें सत्य का अंश है, हम उपर्युक्त दोनों कोणों से विचार करके प्रगतिशील काव्य की इन कमजोरियों के वास्तविक कारणों तक पहुँच सकते हैं।

चूँकि सृजनकर्म की जटिल आन्तरिक प्रक्रिया में रचनाकार से सम्बद्ध अनेक संवादी और विवादी तत्त्व एक साथ गतिमान रहते हैं, इसलिए रूप और वस्तु तथा अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण सम्बन्धी विवेचन को किसी स्थिर-सनातन रेखा द्वारा विभक्त नहीं किया जा सकता। इन सभी तत्त्वों में परस्पर अन्योन्यता का सम्बन्ध

है। कला की सफलता-असफलता का सम्बन्ध इन तत्त्वों की सन्तुलन-स्थिति से है। कवि और काल के सन्दर्भ में अधिकांश प्रगतिशील कविताएँ वहीं असफल हुई हैं जहाँ कवि वस्तुजगत् को अपनी वैचारिक समझ के अनुरूप समंजस रूप में ग्रहण नहीं कर सके हैं तथा उसे रागात्मक स्तर पर आत्मसात् करके सृजनात्मक स्रोत के रूप में प्रस्फुटित होने की प्रक्रिया सम्पन्न नहीं कर पाये हैं। इसीलिए इन रचनाओं में गहरा बेमेलपन नजर आता है, कहीं कवि की अपनी आत्मनिष्ठ धारणाएँ पूरी रचना पर हावी हो जाती हैं, कहीं वस्तु प्रकृत रूपाकार ग्रहण नहीं कर पाती। इस स्थिति में कविता नामधारी जिस चीज का जन्म होता है वह मात्र वक्तव्य या काव्याभास या नारा होती है, अथवा कवि कुछ कहता है लेकिन भावक भौचक्का देखता रह जाता है कि आखिर कौन-सी काव्योचित बात कही गयी है। अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण में यह तनाव कृति की रचनात्मकता को नष्ट करता है।

काव्य रचना का अपना एक आन्तरिक तर्क होता है जिसमें प्रत्ययात्मक बौद्धिक अनुशासन तथा संवेदनगत रागात्मक अनुशासन का अविकल संश्लेषण होता है। इस सामासिक, संश्लिष्ट अनुशासन का व्यतिक्रम कलात्मक सृष्टि में व्यतिक्रम उत्पन्न कर देता है। उदाहरण के लिए राजीव सक्सेना की कुछ पंक्तियाँ उद्धरणीय हैं :

> प्यार करना ही काफी तो नहीं है,
> प्यार के अधिकार की रक्षा भी जरूरी है।
> युद्ध की ज्वालाएँ दिशि सुलगाये है,
> आओ इन्हें बुझा दें !
> भूख-बेकारी के साँप फन उठाये हैं,
> आओ इन्हें कुचल दें।[1]

यह आह्वान भावक की रागात्मक सत्ता को आन्दोलित कर, अपने सृजनात्मक वेग के साथ बहा ले जाने में असमर्थ है। इसमें बौद्धिक अनुशासन एकदम दुरुस्त है, वैचारिक समझ ठीक मार्गदर्शन दे रही है, पर संवेदन के साथ इस सबका विलय नहीं हुआ है। राजीव सक्सेना की यह "कविता" प्रगतिशील अवश्य है, पर क्या यह कविता भी है ?

जहाँ वस्तु की संवेदना कवि की निजता में परिणत नहीं हो पाती, दोनों में पार्थक्य की स्थिति बनी रहती है, वहाँ कवि का स्वीकृत उद्देश्य अथवा आशय

---

१. 'नया पथ', नवम्बर, १९५४, पृ० २०।

कुछ भी हो, कविता उसकी संगति में होने की सूचना नहीं देती। "कस्मै देवाय ?" प्रभाकर माचवे की प्रसिद्ध कविता है। इसकी ख्याति का सम्बन्ध माचवे जी के इस संकल्प से था :

हम उनके गायेंगे गाने !
जिनका जीवन किन्हीं कारणों
से है आज हुआ बेमाने ![1]

यह कविता सन् '४१ की है। '३६ में "अर्थशास्त्र" शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा था कि चना-चबेना खाने वाला कवि किसानों के घर जाता है और उसका "सोशलिस्ट" मित्र अर्थशास्त्र का ग्रन्थ घोटता रह जाता है।[2] इस कविता को माचवे जी "इम्प्रेशनिस्ट" कविता कहते हैं। यह प्रभाववाद "कस्मै देवाय" में उन लोगों के गीत गाने के सकल्प में विकसित हुआ "जो निज अधिकारों से वंचित/जो हैं शोषित, लुण्ठित, मुञ्चित"। आगे भी कुञ्चित और सिञ्चित की तुक मिलाते हुए उन्होंने अपनी सहानुभूति के पात्रों की व्याख्या की है। ये "मल्लाह, उडाके, पैदल श्रम सत्ता के दल हैं जो रणवर्षा में धनसत्ता के दीवानों को चुनौती देते हैं।[3] कह सकते हैं कि इस कविता में कवि केवल अपनी सहानुभूति और घृणा के पात्रों को पहचानने की कोशिश कर रहा है और "वञ्चित मुञ्चित" लोगों के गीत गाने का निर्णय ले रहा है, इसलिए उसकी भाषा, शैली और काव्य-वस्तु में किसानों-श्रमजीवियों का जीवन-यथार्थ न आना कोई दोष नहीं है। किन्तु समस्या तब उत्पन्न होती है जब कवि जनता को निकट से जानने का दावा करता है और कविता में कहीं भी इस परिचय की झलक नहीं मिलती। अज्ञेय मानते हैं कि "कविता ही कवि का परम वक्तव्य है, अतः यदि कविता के स्पष्टीकरण के लिए स्वयं उसके रचयिता को गद्य का आश्रय लेकर कुछ कहना पड़े तो साधारणतया इसे उसकी पराजय ही समझना चाहिए।"[4] दूसरे शब्दों में, ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब अनुभूत यथार्थ और अभिव्यक्त यथार्थ में फासला हो और यह फासला कविता की शक्ति को क्षीण करता है।

---

१. 'अनुक्षण', पृ० ५२।
२. 'विशाल भारत', जनवरी, १९३९।
३. 'अनुक्षण', पृ० ५२-५३।
४. 'तार-सप्तक', पृ० ७४।

उदाहरण के लिए स्वयं प्रभाकर माचवे की "एक दृश्य" कविता को लें। कविता का आरम्भ है :

> उन काले अछोर खेतों मे
> हलवाहों के बालकगण कुछ खेल रहे हैं;
> पहली झड़ियो से निर्मित कर्दम की गेंदें झेल रहे है !

'शिक्षा-संस्कृतिविहीन, दीन-मलीन, निठल्ले" ये "कर्दम-मिट्टी के राजदुलारे" प्रकृति के रम्य-सौन्दर्य का आस्वादन करने की जगह धक्कमधक्का कर रहे हैं :

> सद्य:स्नाता हरित-श्यामता, शस्य बालियों में प्रफुल्लता,
> प्रकृति में सौन्दर्य फैलता;
> किन्तु गांव वालो के लड़के ये मटमैले, करते धक्कमधक्का !

आखिर इन्होने "विद्यामृत कब चक्खा ?" स्वभावतः कवि की भावना जाग गयी। वह इनकी स्थिति का कारण जानना चाहता है। कारण यह है :

> इसका उत्तर स्वय हमी में, हमने ही उनको यों रक्खा,
> जो अब उनकी गिनती है प्रेतों मे।[1]

समस्या वास्तविक है, प्रश्न वाजिब है और उत्तर भी ठीक है। यहाँ "हम" का प्रयोग निश्चय ही मानवीय दायित्व को रेखांकित करने के लिए हुआ है। किन्तु सृजनात्मक धरातल पर समस्या यह है कि कवि प्रकृति के रम्य सौन्दर्य का आनन्द न ले पाने वाले देहाती लड़को को कीचड़ मे खेलते देखता है और उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर देता है। वह उन लड़को के साथ शामिल नही होता, उनके जीवन में नही जाता। इसलिए "धक्कमधक्का" को ही उनकी शिक्षा संस्कृति-हीनता का पर्याय समझता है। दूर से यथार्थ को देख कर साहित्यिक शिल्प मे आत्मगत प्रतिक्रिया व्यक्त कर देना प्रगतिशील कविता को उसके सास्कृतिक आधार पर प्रतिष्ठित करना नहीं है। यह प्रवृत्ति जिस "बौद्धिक सहानुभूति" पर आधारित है उसका सम्बन्ध जनता के जीवन, उसकी संस्कृति से कवि के अपरिचय से है।

इस प्रकार की प्रवृत्तियो को लक्ष्य करके डॉ० केसरी नारायण शुक्ल ने लिखा था "अधिकांश प्रगतिवादी रचनाओं में बौद्धिकता अधिक, रागात्मकता कम है...।"[2]

---

१. 'तार-सप्तक', पृ० ३३।

२. 'आधुनिक काव्यधारा का सास्कृतिक स्रोत', पृ० २०४।

अधिकांश प्रगतिवादी रचनाओं पर यह बात लागू नहीं होती, किन्तु इस प्रवृत्ति का वस्तुगत आधार क्या है, इस सम्बन्ध में डॉ० शुक्ल ने लिखा : "क्रान्तिकारी भावनाओं का स्रोत मध्यवर्ग की बढ़ी हुई चेतनता में है उसी प्रकार उसके प्रचार और प्रभाव की संकीर्णता का कारण भी उसकी परवशता में है। बात यह है कि मध्यवर्ग और जन-सामान्य के बीच जो खाई है वह अभी तक पाटी नहीं जा सकी है।"[1]

जो कवि मध्य वर्ग से आये और जन-सामान्य के साथ अपनी इस खाई को पाटने का गम्भीर प्रयत्न नहीं किया उनकी कविताओं में जनता से सहानुभूति है, उसके कल्याण की चिन्ता भी है, लेकिन उसके जीवन की झाँकी नहीं, आत्मगत प्रतिक्रियाएँ हैं, जनता की भाषा नहीं "राक्षसी, बुभुक्षिता, महाबृताम्नपूतिका"[2] जैसा निर्जीव साहित्यिक वाग्जाल है। शुक्ल जी मध्य वर्ग की बढ़ी हुई चेतना को क्रान्तिकारी भावनाओं का स्रोत कहते समय यह ध्यान में नहीं रखते कि जनता से अपने इस पार्थक्य के कारण ही मध्यवर्गीय कवि जन-जीवन के चित्रों को अंतरंग परिचय और गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत नहीं कर पाते। अनुभव की रिक्तता और बौद्धिक प्रेरणा का यह अन्तर्विरोध निस्सन्देह मध्यवर्गीय कवियों की सीमा को प्रतिध्वनित करता है, किन्तु डॉ० शुक्ल की असंगति का कारण यह है कि वे समस्त प्रगतिशील कविता को मध्यवर्ग से जोड़ने का उपक्रम करते हैं। केदार, नागार्जुन, त्रिलोचन, रामविलास आदि कवि जन-जीवन से निकट का परिचय रखने के कारण, मुख्यतः ग्रामीण परिवेश से सम्बद्ध होने के कारण अपनी भाषा और काव्य-वस्तु में जनता के निकट पहुँचते हैं। वे कविता को कवि और जनता के बीच सीधे संवाद का माध्यम बनाते हैं। इसलिए यह समझ संगत नहीं है कि प्रगतिशील कविता मूलतः मध्यवर्ग की कविता है। मध्यवर्ग के कवियों में जिन्होंने जनता के सांस्कृतिक जीवन से अपने को घनिष्ठ रूप में जोड़े बिना, दूर-दूर से देख-सुन कर उन पर कविताएँ लिखीं, उनमें वस्तु में अमूर्त बौद्धिकता और शिल्प में कलावाद या प्रचार-वृत्ति के दर्शन होते हैं। यह संयोग की बात नहीं है कि ज्येष्ठ के चिलचिलाते द्विप्रहर में "खिलखिलाता श्रेष्ठवर्णी गुलमुहर" देखते ही कवि कहता है—

> पढ़ रहा हूँ लाल परचम की विजय;
> गढ़ रहा हूँ मृत्तिका में रक्तमय—
> कल्पना का प्राणमय वह मूर्ति पट, आदि।[3]

---

१. 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत', पृ० २०५।
२. 'हंस', अक्टूबर ४२, माचवे की कविता : "दा ज्दास्त्युते गोवियात्स्की सोयूज"।
३. 'अनुगत', पृ० ५४।

उदाहरण के लिए स्वयं प्रभाकर माचवे की "एक दृश्य" कविता को लें। कविता का आरम्भ है :

> उन काले अछोर खेतों में
> हलवाहों के बालकगण कुछ खेल रहे हैं;
> पहली झड़ियों से निर्मित कर्दम की गेंदें झेल रहे हैं!

'शिक्षा-संस्कृतिविहीन, दीन-मलीन, निठल्ले" ये "कर्दम-मिट्टी के राजदुलारे" प्रकृति के रम्य-सौन्दर्य का आस्वादन करने की जगह धक्कमधक्का कर रहे हैं :

> सद्यःस्नाता हरित-श्यामता, शस्य बालियों में प्रफुल्लता,
> प्रकृति में सौन्दर्य फैलता;
> किन्तु गाँव वालों के लड़के ये मटमैले, करते धक्कमधक्का!

आखिर इन्होंने "विद्यामृत कब चक्खा ?" स्वभावतः कवि की भावना जाग गयी। वह इनकी स्थिति का कारण जानना चाहता है। कारण यह है।

> इसका उत्तर स्वयं हमीं में, हमने ही उनको यों रक्खा,
> जो अब उनकी गिनती है ढ़ोरों में।[1]

समस्या वास्तविक है, प्रश्न वाजिब है और उत्तर भी ठीक है। यहाँ "हम" का प्रयोग निश्चय ही मानवीय दायित्व को रेखांकित करने के लिए हुआ है। किन्तु सृजनात्मक धरातल पर समस्या यह है कि कवि प्रकृति के रम्य सौन्दर्य का आनन्द न ले पाने वाले देहाती लड़कों को कीचड़ में खेलते देखता है और उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर देता है। वह उन लड़कों के साथ शामिल नहीं होता, उनके जीवन में नहीं जाता। इसलिए "धक्कमधक्का" को ही उनकी शिक्षा संस्कृति-हीनता का पर्याय समझता है। दूर से यथार्थ को देख कर साहित्यिक शिल्प में आत्मगत प्रतिक्रिया व्यक्त कर देना प्रगतिशील कविता को उसके सांस्कृतिक आधार पर प्रतिष्ठित करना नहीं है। यह प्रवृत्ति जिस "बौद्धिक सहानुभूति" पर आधारित है उसका सम्बन्ध जनता के जीवन, उसकी संस्कृति से कवि के अपरिचय से है।

इस प्रकार की प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके डॉ० केसरी नारायण शुक्ल ने लिखा था "अधिकांश प्रगतिवादी रचनाओं में बौद्धिकता अधिक, रागात्मकता कम है...।"[2]

---

१. 'तार-सप्तक', पृ० ३३।
२. 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत', पृ० २०४।

अधिकांश प्रगतिवादी रचनाओं पर यह बात लागू नहीं होती, किन्तु इस प्रवृत्ति का वस्तुगत आधार क्या है, इस सम्बन्ध में डॉ० शुक्ल ने लिखा : "क्रान्तिकारी भावनाओं का स्रोत मध्यवर्ग की बढ़ी हुई चेतनता में है उसी प्रकार उसके प्रचार और प्रभाव की सङ्कीर्णता का कारण भी उसकी परवशता में है। बात यह है कि मध्यवर्ग और जन-सामान्य के बीच जो खाईं है वह अभी तक पाटी नहीं जा सकी है।"[1]

जो कवि मध्य वर्ग में आये और जन-सामान्य के साथ अपनी इस खाईं को पाटने का गम्भीर प्रयत्न नहीं किया उनकी कविताओं में जनता से सहानुभूति है, उसके कल्याण की चिन्ता भी है, लेकिन उसके जीवन की झाँकी नहीं, आत्मगत प्रतिक्रियाएँ हैं, जनता की भाषा नहीं "राक्षसी, बुभुक्षिता, महावृत्तान्तपूतिका"[2] जैसा निर्जीव साहित्यिक वाग्जाल है। शुक्ल जी मध्य वर्ग की बढ़ी हुई चेतना को क्रान्तिकारी भावनाओं का स्रोत कहते समय यह ध्यान में नहीं रखते कि जनता से अपने इस पार्थक्य के कारण ही मध्यवर्गीय कवि जन-जीवन के चित्रों को अतरंग परिचय और गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत नहीं कर पाते। अनुभव की रिक्तता और बौद्धिक प्रेरणा का यह अन्तर्विरोध निस्सन्देह मध्यवर्गीय कवियों की सीमा को प्रतिध्वनित करता है, किन्तु डॉ० शुक्ल की असंगति का कारण यह है कि वे समस्त प्रगतिशील कविता को मध्यवर्ग से जोड़ने का उपक्रम करते हैं। केदार, नागार्जुन, त्रिलोचन, रामविलास आदि कवि जन-जीवन से निकट का परिचय रखने के कारण, मुख्यतः ग्रामीण परिवेश से सम्बद्ध होने के कारण अपनी भाषा और काव्य-वस्तु में जनता के निकट पहुँचते हैं। वे कविता को कवि और जनता के बीच सीधे संवाद का माध्यम बनाते हैं। इसलिए यह समझ संगत नहीं है कि प्रगतिशील कविता मूलतः मध्यवर्ग की कविता है। मध्यवर्ग के कवियों में जिन्होंने जनता के सांस्कृतिक जीवन से अपने को घनिष्ठ रूप में जोड़े बिना, दूर-दूर से देख-सुन कर उन पर कविताएँ लिखीं, उनमें वस्तु में अमूर्त बौद्धिकता और शिल्प में कलावाद या प्रचार-वृत्ति के दर्शन होते हैं। यह संयोग की बात नहीं है कि ज्येष्ठ के चिलचिलाते द्विप्रहर में "खिलखिलाता श्रेष्ठवर्णी गुलमुहर" देखते ही कवि कहता है—

पढ़ रहा हूँ लाल परचम की विजय;
गढ़ रहा हूँ मृत्तिका में रक्तमय—
कल्पना का प्राणमय वह मूर्ति पट, आदि।[3]

---

१. 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत', पृ० २०५।
२. 'हंस', अक्टूबर ४२, माचवे की कविता : "दा ज्दास्त्वुते सोवियत्स्की सोयूज"।
३. 'अनुगन', पृ० ५४।

और "मनु के वंशज" के प्रसंग मे आधुनिक समाज की असंगतियों से अधिक "ताता-बिर्ला योजना" और "कूपलैण्ड प्लान" जैसी अखबारी कविताएँ ढल कर आती हैं।[१] इसलिए यदि कुछ विद्वानों को प्रगतिशील कविता में सामयिक उत्साह दिखता है तो यह अकारण नही है।

इसका यह आशय नहीं कि सामयिक विषय कविता मे रूपान्तरित नही हो सकते। हो सकते हैं, बशर्ते कवि सतही दृष्टि से बच कर जनता की वास्तविकताओं के बीच अपनी संवेदनाओ को घनीभूत करे। जनता से थोड़ा ही परिचय स्थापित करके सर्वेश्वर ने दिखा दिया है कि एक "आग" के भीतर आकर "पगार", "दरख्वास्त", "फाके" और "घेराव" किस तरह कविता बनते हैं।[२]

मध्य वर्ग से आये प्रगतिशील कवियों ने सैद्धान्तिक स्तर पर मार्क्सवाद को स्वीकार किया और मजदूर-किसान से बौद्धिक स्तर पर जुड़ने का संकल्प भी किया। किन्तु जनता के संस्कारो को आत्मसात् करने का जैसा प्रचण्ड संघर्ष मुक्तिबोध के काव्य मे दिखायी देता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। नागार्जुन का काव्य-संस्कार मध्य-वर्गीय नही है इसलिए वे बेलौस होकर मध्यवर्ग की आलोचना करते हैं, उनकी आलोचना में फटकार है और सहानुभूति भी, चुनौती है और प्रेरणा भी। मुक्तिबोध आत्मसजग हैं इसलिए अपने वर्ग के लोगो को सलाह और उद्बोधन के स्वर में सम्बोधित करते हैं। जिन कवियों की संवेदना नागार्जुन और मुक्तिबोध से भिन्न मध्यवर्गीय जीवन-स्थिति से परिचालित है वे "निम्न मध्यवर्ग" की आलोचना करते समय खुद को सर्वहारा कल्पित अवश्य करते हैं, किन्तु मजदूर-वर्गीय वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का परिचय नही देते, शिष्टाचार के साथ कड़ी भाषा का मध्यवर्गीय संस्कार ही व्यक्त करते हैं :

> लहू नहो, गो-मूत्र बहता इन जिस्मों में,
> इसी से सदा डरते क्रान्ति से, नवीनता से घबड़ाते।
> पीटते लकीर।[३]

तात्पर्य यह कि जिन कवियों मे जनता के संस्कार अर्जित करने का कठिन आत्मसंघर्ष नही है उनकी सहानुभूति सामाजिक-सांस्कृतिक विषयों से सम्बन्धित

---

१. 'अनुक्षण', पृ० ७१।
२. 'जंगल का दर्द', पृ० ६५।
३. 'तार सप्तक', पृ० ५६।

कविताओं में जीवन के प्रामाणिक और प्राणवान् स्पन्दनों से युक्त नहीं है। आत्मगत सन्दर्भों को उद्घाटित करने वाली कविताओं में अवश्य जीवन्तता के दर्शन होते हैं। "मार्क्स और गांधी" ऐसी ही कविता है। इस कविता में दोनों महापुरुषों के दार्शनिक निष्कर्षों को लेकर कवि का अन्तर्द्वन्द्व चित्रित हुआ है। गांधीवाद वैयक्तिक नैतिकता को केन्द्र में रख कर समाज-सुधार का रास्ता दिखाता है और मार्क्सवाद व्यक्ति को सामाजिक पृष्ठभूमि में देखता है। इसलिए कवि के अनुसार "एक अश्रु को पोने वाला, एक अश्रु को देश-निकाला !" है। व्यक्ति का क्षेत्र सीमित है और समाज का क्षेत्र विस्तृत, दोनों में सामंजस्य का अर्थ है कुछ अनुशासन, कुछ गड़बड़। इस समझ में जो भ्रान्ति निहित है वह कवि को इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि,

> गांधी दिल के सहजार्पण, मार्क्स दिमाग की "ओवरप्रोथ"।[1]

विचारों के साथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दो विरोधी दबावों को झेलने और उनमें सन्तुलन लाने, किसी पक्ष को अतिरञ्जित करके जानने, समझने और प्रस्तुत करने की यह प्रवृत्ति मध्यवर्गीय जीवन-दृष्टि का ही परिणाम है। अपनी सैद्धान्तिक भ्रान्तियों और शिल्प में गतिशीलता के अभाव के बावजूद कवि के आन्तरिक द्वन्द्व को चित्रित करने के कारण कविता में प्रभाव आ गया है। साथ ही, कविता में कवि के वैचारिक संक्रमण के बीज भी अंकुरित होते दिखायी देते हैं। भावप्रवण कवि के लिए स्वाभाविक है कि उसका झुकाव "दिल के सहजार्पण" की ओर हो, "दिमाग के ओवरप्रोथ" की ओर नहीं।

आगे चल कर जब प्रभाकर माचवे "दिमाग के ओवरप्रोथ" से अलग हो गये, विकल्प और दुविधा से मुक्त होकर "दिल के सहजार्पण" के प्रवाह में चले गये, तब उन्होंने खुद को मार्क्सवादी मानना बन्द कर दिया, प्रगतिवाद को "परपीड़न-प्रेम और प्रचार" की कविता कहा।[2] "परपीड़न" का सम्बन्ध वर्ग शत्रु की आलोचना से है—

> बताऊँ / कैसे लगते हैं / दरिद्र देश के धनिक ?
> जैसे कोढ़ी—कुढब तन पर मणिमय आभूषण।[3]

---

१. 'अनुदाण', पृ० ४०-४३।
२. उद्धृत : 'हिन्दी साहित्य के प्रमुख "वाद" और उनके प्रवर्तक', पृ० १६६।
३. नागार्जुन, 'नया पथ', अगस्त, १९५३, पृ० १४।

और "प्रचार" का सम्बन्ध "राजनीतिक पक्ष-विशेष की माइक" कविता बनाने की प्रवृत्ति से। कम्युनिस्ट पार्टी ने कहा आजादी झूठी है, तो कवि ने लिखा :

> इतने से पानी से बुझने वाली किसकी यहाँ तृषा ?
> पहिले से ही गरजने वाली यह आजादी मृषा-मृषा ![1]

निश्चय ही दोनों प्रवृत्तियाँ निन्दनीय हैं। किन्तु आश्चर्य तब होता है जब अपने मार्क्सवादी दौर में कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रमों को पद्यबद्ध करके प्रचारवृत्ति को बढावा देने के बाद व्यक्तिगत नैतिकता पर आधारित "सहजाकर्पण" में अभिभूत होने पर आत्मालोचना की ईमानदारी दिखाने की जगह माचवे जी पूरे प्रगतिशील काव्य को "राजनीतिक पक्ष-विशेष की माइक" कहते हैं।

नागार्जुन की आलोचना में जो तीखापन है वह मजदूरवर्गीय घृणा का परिणाम है। मध्यवर्ग की सम्भ्रान्त रुचि के लिए यह घृणा स्वीकार्य नहीं है। माचवे जी की आलोचनाओं की नागार्जुन की आलोचनाओं से तुलना करने पर साधारण जनता और मध्य वर्ग की रुचियों का फर्क पता चलता है। इससे यह भी पता चलता है कि जीवन-यथार्थ, वैचारिक निष्कर्ष और काव्य-वस्तु की संवेदना जहाँ कवि की निजता में परिणत नहीं हो पाती, दोनों में दूरी बनी रहती है वहाँ सहज आत्मतत्त्वों और सजग विचारधारा के बीच भी दूरी बनी रहती है। कवि के व्यक्तित्व का यह विभाजन कविता में विघटन का रूप धारण करता है इसलिए राजनीतिक या सामाजिक विषयों से सम्बन्धित कविताओं में केवल "दिमाग का ओवरथ्रोप" परिलक्षित होता है और व्यक्तिगत सन्दर्भों पर लिखी गयी कविताओं में 'दिल का सहजाकर्पण' व्यक्त होता है। 'आजादी मृषा-मृषा' के साथ "मैंने जितना *नारी तुमको याद किया है, प्यार किया है।*......"[2] जैसी कविताओं को ध्यान में रखने पर इस तथ्य को भली-भाँति समझा जा सकता है।

जनता से दूर रह कर कवि जीवनानुभवों से अपनी विचारधारा को पुष्ट नहीं कर पाता इसलिए उसकी विचारधारा रचना से आभा की तरह फूटने की बजाय अलंकार की तरह उस पर आरोपित होती है। परिणामस्वरूप कविता को सांस्कृतिक आधार प्रदान करने की गम्भीर चुनौती को नजरदाज करके कवि बहुत

---

१. प्रभाकर माचवे, 'हंस', मई, १९४७।
२. 'तार-सप्तक', पृ० ५३।

बार शुष्क सिद्धान्त निरूपण में प्रवृत्त होता है। आरम्भिक दौर की कलाहीन इति-वृत्त वाली कविताओं के अलावा, कुछ कला सजग कवियों में भी इसके उदाहरण सरलता से मिल जाते हैं। नेमिचन्द्र जैन की एक कविता है 'चलो आगे चलें'। इसमें मानव अस्तित्व के विकास की प्रक्रिया के रूपक में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त की व्याख्या है। द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया 'निषेध का निषेध' और 'विरुद्धों की एकता' के रूप में परिभाषित है। कवि 'इस मार्ग के छोर पर किसी को मिलने की' आशा न होने पर भी बिना किसी 'आन्तरिक आकर्षण' के (यन्त्रवत्!) चलना अनिवार्य समझता है "क्योंकि तुममें है मेरे अस्तित्व का विरोध,/पा कर तुम्हारा सम्पर्क/इस जीवन का नियम/संघर्ष का/सक्रिय हो उठता है/ "तुम और मैं इस द्वन्द्व में होंगे समाप्त/…और तब उसमें से होगा निर्माण/एक नूतन अस्तित्व का/…जो स्वयं किसी एक-दूसरे के सहारे/फिर होगा गतिशील/उन्मुख अदम्य नयी शक्ति में।"[1]

स्पष्ट है कि विचारधारा को जीवन से पुष्ट और संयुक्त किये बिना मात्र बौद्धिक रूप में ग्रहण करने पर कवि जीवन-स्थितियों के आयोजन द्वारा अपनी विचारधारा की अनिवार्यता व्यञ्जित करने की जगह सैद्धान्तिक व्याख्या के लिए कविता का आयोजन करता है। सिद्धान्तों को रागात्मक स्तर पर जज्ब न कर पाने और अपनी जनता को न जानने-समझने के कारण कला अतिरिक्त बौद्धिकता के भार से दब जाती है। कवि यह विवेक नहीं रखता कि वह किससे प्रेरित है और किसे सम्बोधित कर रहा है। वह 'जनता के बीच से बोलने' के बजाय 'जनता को समझाने' की मुद्रा में बोलता है। 'चलो आगे चलें' में नेमिचन्द्र जैन बुद्धिजीवियों को 'समझाते' हैं तो 'लाल चीन' में अचल अपनी जनता—मजदूर-किसान—को। चीन की जनता में मुक्ति की भावना थी, वह स्वतंत्र हुई। यह प्रेरणा कवि अपनी जनता को भी देना चाहता है। चीन की विजय से 'हमारा मस्तक ऊँचा' हुआ है और दुश्मन में प्रतिहिंसा उत्पन्न हुई है। लेकिन यह 'दुश्मन' कौन है?

> लाल चीन लड़ रहा उसी सरमायादारी से दिन-रात
> जिसका अधम रूप है यह 'फैसिज्म' हो रही जिसकी बात।[2]

कविता जनता को क्रान्तिकारी प्रशिक्षण देती है, लेकिन उपदेशों से नहीं, जीवन और यथार्थ के सजीव चित्रों, आदर्शों और चरित्रों के मूर्त चित्रण के जरिये

---

१. 'एकान्त', पृ० २६।
२. 'हंस', जुलाई, १९४२।

संस्कारित करके। तारीफ यह कि 'लाल चीन' मे फासिज्म की 'अधमता' की कोई जीवित मिसाल नही है।

'मानवपन' कविता मे पंत जी ने लिखा था :

> पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके-ककड-पत्थर,
> कूड़ा-करकट सब कुछ भू पर लगता सार्थक सुन्दर।[१]

पत के लिए मनुष्य से सम्बंधित होकर कूड़ा-करकट भी सार्थक और सुन्दर हो गया। यह मानव-लोक अपरिचित नरक भी है और इस धरती के रोम-रोम मे भरी सहज सुन्दरता भी है। किन्तु कुछ कवियो के लिए यह धरती केवल नरक है। ये कवि अपने आवेश को रोक कर जब दुनिया को, इन्सानो को देखते है तो उन्हें चारो ओर नरक के दर्शन होते है। "किरण बेला" का कवि अचल देखता है :

> वह मजदूर की अन्धी लडकी/खून जम गया जिसका काला-काला/
> सड़ी प्राणघातक नमकीन हवा मे/दृष्टिहीन दुर्गन्ध भरी वह/भूख,
> गन्दगी नग्न गरीबी में। /कही नही मेहनत—मजदूरी भी कर
> सकती। /अन्धकार में पड़ी रत्न-सी आँखें/बासी रोटी बासी
> पानी/बीत रही धुँधली-धुँधली जिन्दगानी।[२]

कुरूप, बल्कि बीभत्स के पर्यवलोकन मे कवि ने कितनी सूक्ष्मता से काम लिया है यह 'जमे काले खून' और 'प्राणघातक नमकीन हवा' से स्पष्ट है। यदि यथार्थ-चित्रण के नाम पर उपर्युक्त वर्णन कलाहीनता का सबूत है तो अन्धी लड़की की अन्धकारमय जिन्दगी को 'धुँधली-धुँधली' कहना संवेदनहीनता का। कलाहीनता संवेदनहीनता का परिणाम है। इसीलिए कविता की वस्तु वास्तविक होकर भी कला मे विश्वसनीय कथ्य नही बनती।

अपनी जनता, अपने देश की वर्गीय-संरचना, अपने ऐतिहासिक सन्दर्भों को ठीक-ठीक न समझने वाले कवि वास्तव में मार्क्सवाद को भी सही ढंग से समझ पाने मे असमर्थ रहे। वे यथार्थ की असगतियो और पाशविकताओ के उद्घाटन के नाम पर कूड़ा-करकट बटोर कर अपने भीतर निहित अनास्था, संशयालुता और अविश्वास को ही प्रकट कर रहे थे। जीवनानुभव के खोखलेपन से उत्पन्न यह भाव-बोध जनता के सांस्कृतिक जीवन मे निहित स्वस्थ मूल्यों और परम्पराओ की

---

१. 'युगवाणी, सुमित्रानन्दन पंत ग्रन्थावली—२', पृष्ठ ८८।
२. उद्धृत : डॉ० दुर्गा प्रसाद झाला, 'प्रगतिशील हिन्दी कविता', पृ० १८६।

अवहेलना करता है, सभी मूल्यों को अस्वीकार करने वाले निषेधवाद की ओर बढ़ता है। परिणाम यह होता है कि कवि जब क्रान्ति का स्वप्न देखता है तो उसे दिनकर की भाँति 'विपथगा' बना देता है। यह महानाशवाद वस्तुतः उसी निषेधवादी दृष्टि का प्रस्फुटन है जो समाज और मार्क्सवाद सम्बन्धी भ्रान्तियों से उत्पन्न होती है। आरसी प्रसाद सिंह के 'रक्तपर्व' में यह प्रवृत्ति बड़े सशक्त रूप में व्यक्त हुई है। कविता 'साम्यवाद गान'[1] से आरम्भ होती है और शीघ्र ही 'सर्वनाश गीत'[2] गाने लगती है। वह मृत्युञ्जय से 'अपनी गतिका कराल' खोल कर 'पेट में समेट लो तत्क्षण समस्त विश्व' का आह्वान[3] करता है और क्रान्ति सम्बन्धी अपनी धारणाएँ सूचित करते हुए लिखता है :

> इतना परिवर्तन; लीलामय ,/एक ही निमिष तो / कुटिल रही
> भृकुटी तुम्हारी, /और उस रोष ज्वाला में क्षणिक/ताण्डव
> त्रिलोचन की /भस्मसात् हो गया त्रिलोक ।/ .. रचे गये
> वर्षों में जो पुर-सौध,/बने थे युगों में जो विलास निकेतन,
> शताब्दियों की संचित सम्पत्ति/क्षण में कर दी तुमने/
> अन्तर्हित, नष्ट, तिरोहित स्वाहा !![4]

शोषक संस्कृति का नाश हो, यह कामना सर्वथा उचित है। किन्तु वर्ग समाज की सभ्यता और संस्कृति की प्रत्येक अस्तित्ववान् वस्तु पुर-सौध और विलास-निकेतन है इसलिए तत्क्षण समस्त विश्व का नाश हो जाय, यह क्रान्तिकारी धारणा नहीं है। इस भावना से हम वर्ग समाज के भीतर से विकसित होने वाली क्रान्तिकारी शक्तियों को अस्वीकार करते हैं और क्रान्ति-विरोधी निराशावाद के लिए भूमि तैयार करते हैं। ऐसा ही जोश था कि प्रतिक्षण 'पूँजी के युग का अस्तकाल' देखने वाले माचवे जी यथास्थितिवाद का प्रचार करते हुए लिखने लगे :

> क्या होना चाहिए और क्या नहीं ?
> प्रश्नतन्द्रा यह टूटे और जागरण के संग 'है' की जय हो।[5]

---

१. 'हंस', जनवरी, १६३८, पृ० ३१७।
२. उपर्युक्त, पृ० ३१६।
३. उपर्युक्त, पृ० ३२०।
४. उपर्युक्त, पृ० ३२१।
५. 'अनुक्षण', पृ० ६५।

कहने की आवश्यकता नही कि मध्यवर्गीय कवि मुख्यतः मार्क्सवाद को वैचारिक स्तर पर अपना कर प्रगतिशील समझी जाने वाली कविता रचते थे। किन्तु अपने मध्यवर्गीय संस्कारों के कारण वे मार्क्सवाद को आत्मसात् नही कर पाते थे। मार्क्सवादी चेतना स्वयं मध्यवर्गीय सीमाओं का अतिक्रमण करने वाली चेतना है। इसलिए अनेक अन्तर्मुखी कवि अपने मध्यवर्गीय सस्कारो से मुक्ति के लिए संघर्ष करते दिखायी देते हैं। किन्तु जो कवि आत्म-सजग नही थे या कम थे वे संस्कारों के स्तर पर जनता से एकमेक होने के बजाय बौद्धिक स्तर पर मार्क्सवाद को अपनाने मे ही प्रगतिशीलता की इति समझते थे। उनके काव्य मे मार्क्सवाद या तो अंगीकृत होकर नही, आरोपित होकर आया और इस प्रकार प्रगतिशील कथ्य के साथ प्रयोगवादी शिल्प का आग्रह विकसित हुआ, या फिर मार्क्सवाद स्वयं विकृत होकर व्यक्त हुआ और इस प्रकार कविता कथ्य और शिल्प दोनों ही स्तरो पर विकृत हुई। दोनो ही स्थितियो में कविता जनता की चेतना, उसके जीवन-यथार्थ से दूर हुई क्योंकि कविगण जनता की समस्याओं को लेकर जो रचना करते थे वह मुख्यतः मध्यवर्ग को सम्बोधित होती थी। इन कविताओं की विशेषता यह है कि सतही ज्ञान और प्रेरणा से सैद्धान्तिक और दैनन्दिन विषयो को कविता मे ढालने का यत्न किया गया है; जनता के साथ बौद्धिक सहानुभूति दिखायी गयी है, लेकिन उसके सांस्कृतिक जीवन और उसकी मानवीय संवेदनाओं को स्पर्श तक नही किया गया है; मन मे गहरा सन्देह है, किन्तु भविष्य के प्रति आस्था और विश्वास की घोषणा की गयी है; वर्ग समाज की भ्रान्त समझ के कारण कही क्रान्ति के सर्वनाशी रूप की उपासना की गयी है और कही यथास्थितिवाद का पोषण किया गया है। यह कोई संयोग की बात नही है कि नारी और यौन-सम्बन्धों के सन्दर्भ मे 'यौवन मचा देने' वाले एकान्त मे ही यह प्रवृत्ति अपना विशेष कौशल दिखा सकी।

केवल इस प्रवृत्ति की कविताओं को प्रगतिवाद मानकर डॉ० केसरी नारायण शुक्ल यह प्रतिपादित करते हैं कि "प्रगतिवाद की रचनाएँ मध्यवर्ग से ही प्रशंसित होकर (क्योंकि उनमें प्रचलित परिपाटी का विरोध रहता है) उन्ही के बीच सीमित रह जाती हैं। ये रचनाएँ दलित, पीड़ित और शोषितो के पास नही पहुँचती जिनका उद्बोधन और आह्वान किया जाता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि सामान्य जनता अभी अशिक्षित है।"[1] मध्यवर्गीय रचनाकारों की ही नही, जनता के विश्वासों की भी समस्या है। प्रगतिशील कविता प्रचलित परिपाटी के विरुद्ध है और यह

१. 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत', पृ० २०५।

विरोध केवल मध्यवर्ग तक सीमित है, "जनता अभी परम्परा और प्रचलित विश्वासों के सहारे चल रही है। इस प्रकार कवि और जनता के बीच कोई सामान्यता नहीं है।"[1] इस विषम स्थिति में "यदि कवि अपने व्यक्तिगत विश्वास के अनुरूप चलता है तो परम्परा में पली जनता से दूर होता है और यदि परम्परा का साथ देता है तो अपने विचारों की बलि चढ़ानी पड़ती है। इसी प्रकार संघर्ष का समय होने के कारण या तो कवि क्रान्ति की अवहेलना कर कलात्मकता की रक्षा करे या अपने को क्रान्ति का सहचर बनाकर कलात्मकता की हानि उठाये।"[2] स्थिति की विषमता तब और उजागर होती है जब हम यह भी देखते हैं कि प्रगतिवाद 'युग की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को जानने वाले' साहित्य का नाम है।[3]

प्रश्न उठता है कि क्या युग की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को जानने के बावजूद प्रगतिशील कविता जनता से दूर रही? या संघर्ष के समय में अपनी क्रान्ति-कारी संघर्ष-चेतना के कारण वह जनता से दूर हो गयी? क्या जनता की गतिशीलता और भागीदारी के बिना ही युग की आवश्यकताओं और संघर्षों का निर्धारण होता? क्या युग की आकांक्षाएँ जनता की ही आकांक्षाओं का परिणाम नहीं हैं? छायावाद की आलोचना करते समय उन्होंने लिखा था : "छायावादी काव्य सौन्दर्य की सीमा में ही घिरा रहा। उसने न उन सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूढ़ियों की ओर संकेत किया और न शोषक और शोषित के जगद्व्यापी संघर्ष का दिग्दर्शन कराया। वर्ग-संघर्ष से वे अलग ही रहे। इस प्रकार जनता और कवि की इच्छा और आशाओं के बीच बड़ा भारी अन्तर उपस्थित हो गया।"[4] क्या छायावाद वर्ग-संघर्ष के जगद्व्यापी यथार्थ से तटस्थ रहने के कारण जनता से दूर हुआ और प्रगतिवाद उसे व्यक्त करने के कारण? या फिर छायावाद के समय जो जनता जगद्व्यापी वर्ग-संघर्ष कर रही थी, प्रगतिवाद के समय वह परम्परावादी विश्वास अपनाकर निश्चेष्ट ही रही और प्रगतिशील चेतना के विकास का दायित्व मध्य वर्ग पर सौंप दिया? और अन्त में, क्या संघर्ष और सौन्दर्य में ऐसा ही प्रबल विरोध है कि छायावाद संघर्ष से दूर रह कर सौन्दर्य की साधना कर सका और संघर्ष को चित्रित करने के कारण प्रगतिवाद कलाहीन होने से बच नहीं सकता था?

---

१. 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत', पृ० २०६।
२. उपर्युक्त, पृ० २०६।
३. उपर्युक्त, पृ० १६६।
४. उपर्युक्त, पृ० १८७।

वस्तुतः, डॉ० केसरीनारायण शुक्ल के चिन्तन के अन्तर्विरोध का कारण यह है कि वे साधारण जनता को नहीं, मध्यवर्ग को प्रगतिशील चेतना और जन-समस्याओं का मुख्य वाहक मानते हैं। प्रगतिशील साहित्य और स्वयं मध्यवर्ग की स्थिति को जनता के नजरिये से देखने के बजाय, प्रगतिशील साहित्य और जन-समस्याओं के मूल्यांकन के लिए मध्यवर्ग को अपने दृष्टिकोण का मूलाधार बनाते हैं। इसलिए उन्हें यह कल्पना करनी पड़ी है कि जनता रूढ़ियों-अन्धविश्वासों से ग्रस्त सर्वथा निश्चेष्ट पड़ी है और मध्यवर्ग उसकी चिन्ताओं को विकसित दृष्टिकोण से उठाने के कारण उसी से दूर जा पड़ा है। यह आत्यन्तिक आग्रह भी इसी असंगति से उत्पन्न है कि क्रान्तिकारी संघर्ष में कलात्मक सौन्दर्य का अनिवार्यतः क्षय होता है।

सबसे मुख्य बात यह है कि शुक्ल जी के मूल्यांकन का अन्तर्विरोध उनकी अपनी समझ के अन्तर्विरोध का परिणाम है, प्रगतिशील सौन्दर्य-मूल्यों के निषेध के प्रयत्न का नहीं। इसीलिए वे कहते हैं कि "उन कवियों का स्वागत हमारा परम कर्तव्य हो जाता है जो देश की वर्तमान परिस्थिति में सुधार के लिए कटिबद्ध होकर नवीन व्यवस्था की प्राण-प्रतिष्ठा में तन्मय हैं।"[1] यह नयी व्यवस्था मानवीय समानता, एकता और भाई-चारे के ध्येय से प्रेरित है इसलिए उसकी स्थापना के लिए हो रहा संघर्ष स्वयं सौन्दर्य का आलम्बन बन जाता है। मध्य वर्ग के वे कवि जो जनता के सांस्कृतिक जीवन से विच्छिन्न थे, इस संघर्ष का चित्रण नहीं करते। इसके विपरीत जनता से जुड़े हुए कवि अपने अधिकारों के लिए, सामाजिक न्याय और समता के लिए, नयी व्यवस्था और मनुष्य के सर्वतोमुखी उत्थान के लिए चलने वाले संघर्षों को चित्रित करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे कर्म सौन्दर्य कहा था वह इससे बहुत दूर की वस्तु नहीं है। डॉ० केसरीनारायण शुक्ल जन-कवियों के समूचे काव्य को नजरंदाज करके प्रगतिशील साहित्य के बारे में गलत नतीजों पर पहुँचते हैं।

यह अभिप्राय नहीं कि सभी मध्यवर्गीय कवि दोषपूर्ण और सभी जन कवि दोषरहित हैं। वास्तविकता इतनी एकांगी और आत्यन्तिक नहीं है। जिन्हें हम जनता से अभिन्न रूप में सम्बद्ध कवि कहते हैं, उनके काव्य में भी अनेक प्रकार की असंगतियाँ दिखायी देती हैं। शील कवि होने के साथ-साथ सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्त्ता भी हैं। उनमें जोश और उत्साह का होना स्वाभाविक है। आवश्यक नहीं कि यह जोश हमेशा कविता ही बने। वे 'लेखकों से' कहते हैं :

---

१. 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत', पृ० २११।

साथियो होश मे हो !/वक्त आराम का नही 'कलम की नोक मे
अवाम के फफोलो को कुरेदो ?/लहू को गर्म कर दो ?/दिलो के
दर्द में सियासत की हरारत भर दो ?/अदब को सरमाया की
गर्दिश से निकालो ? आदि ।[1]

'वक्त की आवाज' मे सामाजिक शोषण से उत्पन्न जनता की दुरवस्था और
मुनाफाखोर पूंजीपतियो की कानूनी सुरक्षा देख कर शील ने ललकारा—

वर्ग दुश्मन जिन्दगी के अब सँभल ।
सुर्ख परचम जीत का इतिहास है ...[2]

इस प्रकार की 'भावात्मक' चुनौतियो को देख कर कुछ विद्वान् समझते हैं
कि "प्रगतिवाद का असली रूप राजनीतिकवाद है जो भावात्मक न होकर बौद्धिक
है और साहित्य के क्षेत्र की चीज नही है। प्रगतिवादी साहित्य साहित्यकार की
वैयक्तिक भावना की उपज नही है, वह तो सरकार अथवा सत्तारूढ दल द्वारा
निर्देशित होता रहता है।"[3] यह निर्णय अकेले हिन्दी के नही, विश्व के प्रगतिशील
साहित्य पर है।

यह सही है कि पिछले अनेक वर्षों मे भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन के एक
हिस्से ने अपनी कांग्रेसपरस्ती के लिए काफी यश कमाया। किन्तु यह बहुत बाद की
घटना है। अब वह दल अपने इस भटकाव को तिरस्कृत कर रहा है। जिस समय
के बारे मे यह बात लागू नही होती उस पर देश-काल की मर्यादाएँ लाँघ कर इसे
आरोपित करना आलोचक के पूर्वग्रह का द्योतक है। इस प्रकार के पूर्वग्रह से
आलोचक का चरित्र ही उद्घाटित होता है। शील ने उक्त 'कविताएँ' किस शासन
के निर्देश पर लिखी थी ? पहली कविता १२ नवम्बर, १९४९ की है और दूसरी
२ फरवरी १९५० की। इस अवधि मे वे कानपुर जेल मे थे। उन्हे यह कैद कांग्रेसी
शासन ने इसलिए दी थी कि वे कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्त्ता थे। इसे विडम्बना
नही तो और क्या कहेगे कि प्रगतिशील कवि जिन 'सरकार अथवा सत्तारूढ दल'
के दमन के शिकार थे उसी के निर्देशो पर कविताएँ लिख रहे थे। आलोचना की
प्रामाणिकता का इससे बड़ा सबूत और क्या होगा !

---

1. 'लावा और फूल', पृ० ८।
2. उपर्युक्त, पृ० ९०।
3. 'साहित्य के सिद्धान्त और रूप', पृ० १२३।

हिन्दी ही नहीं, दुनिया की अन्य भाषाओं के प्रगतिशील साहित्य में भी प्रत्येक रचनाकार का कम्युनिस्ट होना आवश्यक नहीं है। जिन देशों में कम्युनिस्ट पार्टियाँ अपने संघर्ष से सत्ता में आयी वहाँ के नेताओं और साहित्यकारों को क्रान्ति से पहले भयानक यन्त्रणाएँ झेलनी पड़ी हैं। अंगोला के क्रान्तिकारी कवि आगस्टिनो नेटो राजनीतिक नेता भी थे और जनता के संवेदनशील कवि भी। फिलिस्तीन के महमूद दरवेश अभी हाल तक इस्राइली यातना शिविरों में सताये जाते रहे हैं। कांगो (वर्तमान जेयरे) के पेट्रिस लुमुम्बा को जनता के दुश्मनों ने साम्राज्यवाद से मिली-भगत करके हैवानी तरीके से कत्ल कर दिया। चिली के तानाशाही शासन की यातनाएँ झेलते हुए विश्वप्रसिद्ध कवि पाब्लो नेरूदा को भी मौत का सामना करना पड़ा। ये सभी घटनाएँ सत्ता में आने के पहले और बाद क्रान्तिकारी कवियों के कठोर संघर्ष और उनके विरुद्ध जनता के दुश्मनों के प्रचण्ड कुत्सा-प्रेम को उजागर करने के लिए पर्याप्त हैं।

हिन्दी और विश्व की दूसरी भाषाओं के प्रगतिशील साहित्य में यदि अपने इन शत्रुओं के प्रति घृणा न होगी तो और क्या होगा? श्री वर्मा का प्रगति-विरोध भी दुनिया के अन्य प्रगतिविरोधियों की तरह भारत के सामन्तों, पूँजीपतियों और विदेशी साम्राज्यवादियों के प्रति सहानुभूति से उत्पन्न है। प्रगतिशील साहित्य जनता का साहित्य है इसलिए उसमें जनता के दुश्मनों को प्रत्येक स्तर पर बेपर्द किया गया है। किन्तु वर्मा जी इसे 'हिंसा' और 'असहिष्णुता' की संज्ञा देते हैं। वे कवियों से ऐसे 'उदात्त' काव्य की माँग करते हैं जो अगर मजदूर-किसान पर भी हो तो इस दृष्टि-कोण से कि मालिकों को 'मजदूरों और किसानों के प्रति त्याग' की 'संवेदना' दे सके, इस दृष्टिकोण से नहीं "जिससे प्रभावित होकर किसान-मजदूर अपने अधि-कारों को समझें तथा वर्ग-संघर्ष का सहारा लेकर हिंसात्मक उपायों द्वारा अपने अधिकारों को प्राप्त करें।"[1] जनता पूँजीपतियों-जमींदारों के खिलाफ हिंसात्मक उपाय न करे, लेकिन जनता पर हिंसा की रोक नहीं है। वर्मा जी का उपन्यास है 'टेढ़े मेढ़े रास्ते'। इसके नायक पं० रामनाथ तिवारी हैं। वे पूरे उपन्यास में सबसे गरिमामण्डित चरित्र हैं। लेखक जगह-जगह उनकी बातों में सत्य, बौद्धिक सार, नैतिक आदर्श आदि का निर्देश करके उन्हें अपना प्रतिनिधि पात्र बनाता है। ये तिवारी जी स्वतंत्रता प्रेमी भारतीय जनता का जुलूस देखकर सोचते हैं, "आखिर

१. 'साहित्य के सिद्धान्त और रूप', पृ० १२७-२८।

ब्रिटिश सरकार बल का प्रयोग क्यों नहीं करती ? इस पागलपन को क्यों नहीं रोकती ?"[1] देशी और विदेशी शोषकों के प्रति यह कितनी गहरी सहानुभूति है।

यह सहानुभूति ही श्री वर्मा को जनता और उससे जुड़े समस्त साहित्य की परम्परा के विरुद्ध ला खड़ा करती है। मध्य युग के भक्तिकाव्य को 'प्रचारात्मक काव्य'[2] कह कर वे एक ओर अपने अनचाहे ही प्रगतिशील कविता की स्वाभाविक परम्परा को रेखांकित करते हैं तो दूसरी ओर अपनी स्वीकृत कला की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं : "साहित्य मनोरंजन का साधन है, और मनोरंजन का ही उदात्त रूप आनन्द है। उन दिनों यह आनन्द मन की भूख से ही प्राप्त किया जाता था, इस मन की भूख के साथ लैङ्गिक भूख जोड़कर। तन की भूख, विशेष रूप से उदर की भूख को मनोरञ्जन या आनन्द में कोई स्थान प्राप्त नहीं था।[3]

इस प्रकार, मार्क्सवाद का यह सिद्धान्त और भी पुष्ट होता है कि वर्तमान समाज में वर्गों का विरोध अधिक वैमनस्यपूर्ण रूप धारण कर रहा है। साहित्य और संस्कृति समाज की इस प्रक्रिया से कितनी अन्तरंगता से जुड़े हैं यह प्रचार और आनन्द वाली कलाओं के अन्तर द्वारा जाना जा सकता है। आधुनिक प्रगतिशील काव्य ही नहीं, मध्य युग का भक्तिकाव्य भी 'आनन्द' से बाहर 'प्रचार' की दुनिया में इसलिए है कि उसमें 'कलि बारहिं-बार दुकाल परैं। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरैं।' और 'आगि बड़वागि तें बड़ी है आग पेट की।' जैसी तुच्छ मानवीय चिन्ताएँ भी हैं।

क्या मध्ययुग का भक्तिकाव्य और आधुनिक प्रगतिशील काव्य केवल 'उदर की भूख' के काव्य हैं ? यह कहना या तो घोर अज्ञान का सूचक है अथवा घोरतम पूर्वाग्रह का। दोनों ही काव्य सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व के निर्माण से सम्बद्ध हैं। भूख आज के संकटग्रस्त मनुष्य की बहुत बड़ी समस्या है। यह भूख आनन्द या मनोरञ्जन का अनुभव नहीं, एक विवशता है। प्रगतिशील कविता आदमी की विवशताओं पर आनन्द-भवनों की रचना करने को अमानवीय समझती है। वह आदमी की विवशताओं को चित्रित करने से कतराती नहीं। वह समस्याओं से टकराती है, व्यापक सामाजिक दृश्यफलक पर उनके वस्तुगत कारणों और समाधानों की तलाश करती है। जिसने विवश आदमी की तड़प नहीं देखी है, देखी भी है तो अपने 'आनन्द'

---

१. 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', पृ० ३७।
२. 'साहित्य के सिद्धान्त और रूप', पृ० १२४।
३. उपर्युक्त, पृ० ११६।

की तुष्टि के लिए, वह 'क्या जाने पीर पराई' के अनुसार प्रगतिशील कविता को 'समाजवादी व्यवस्था का प्रचार' न कहेगा तो क्या कहेगा।

स्पष्ट है कि इस प्रकार की आलोचनाओं का सम्बन्ध प्रगतिशील काव्य की कमजोरियों से उतना नहीं जितना उसकी कमजोरियों को आड बना कर उसे साहित्य से खदेड बाहर करने की भावना से है। इसीलिए जहाँ नारेबाजी नहीं है, सार्थक ढंग से जीवन के प्रश्न उठाये गये हैं, वहाँ इन आलोचकों की दृष्टि नहीं पहुँचती। वे कभी एक और कभी दूसरे तर्क से प्रगतिशील काव्य को अस्वीकार करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रवृत्ति के दूसरे उदाहरण हैं—डॉ० नगेन्द्र। अन्तर यह है कि वर्मा जी 'क्षुधा' का निषेध करके 'काम' को एकमात्र सत्य कहते हैं और डॉ० नगेन्द्र दोनों को 'प्रकृत भावनाएँ', मानते हैं। वर्मा जी अपने कुत्सा-प्रेम को छिपाने का प्रयत्न करते हैं और डॉ० नगेन्द्र अपनी असहमति स्वीकार करते हैं :

"मुझे सबसे बड़ी आपत्ति प्रगतिवाद के मूल्यों से है।"[1]

प्रश्न है कि ये मूल्य क्या हैं ? उन पर क्या आपत्ति है ?

सर्वप्रथम, प्रगतिवाद का वर्ग-दृष्टिकोण। प्रगतिशील अवधारणा यह है कि वर्ग-समाजों में विरोधी हितों का टकराव अन्तर्निहित रहता है। यह टकराव उत्पादन की प्रक्रिया में उत्पन्न होता है। उत्पादन के साधन एक तरफ और उत्पादन के सम्बन्ध दूसरी तरफ-इनके आपसी और पारस्परिक टकराव से समाज बनता-बदलता है। यन्त्रों पर आधारित विराट् पूँजीवादी उत्पादन सामाजिक अन्तर्विरोधों को सबसे नग्न रूप में उद्घाटित करता है। इसके बाद वर्ग-समाज का पतन और श्रमिक समाज का उदय होता है। यह कार्य करता है श्रमजीवी वर्ग और उन्नत वर्ग-चेतना उसके संघर्ष की विचारधारा होती है। डॉ० नगेन्द्र को इस पर आपत्ति है। उनका आग्रह है :

> " घोर-से-घोर पूँजीवादी और उतने ही कट्टर साम्यवादी, दोनों के अतस्तल में कुछ तार ऐसे हैं जो एक सामान्य अनुभूति से झंकृत होकर बाह्य भेदों की अवहेलना करते हुए बरबस मिल जाते हैं। यह सामान्य भूमि है मानववाद'''जो अपने मूल में ही प्रेम का प्रस्फुटन होने के कारण अनादि काल से चला आ रहा है।"[2]

---

१. 'आस्था के चरण', पृ० २६६।
२. उपर्युक्त, पृ० २८६-६०।

ध्यान देने योग्य है कि डॉ० नगेन्द्र वर्मा जी की भाँति साम्यवाद को बहिष्कृत नही करते, किन्तु साम्यवादी दृष्टिकोण को स्वीकार भी नही करते। वे जिस मानववाद की बात करते हैं वह बाह्य भेदो के उन्मूलन पर नही, 'बाह्य भेदो की अवहेलना' पर बल देता है। किन्तु अभी तक विश्व के किसी भी मानववादी चिन्तक या विचारधारा ने इस अवहेलनावादी मत का प्रचार नही किया है। उन्होने अपने-अपने ढंग से, अपनी-अपनी शक्ति और सीमा मे, बाह्य भेदो से क्षुब्ध होकर उन्हे दूर करने की ही कोशिश की है। विश्वात्मा की एकता, विश्वबन्धुत्व आदि की कल्पनाएँ इन्ही कोशिशो का परिणाम हैं। वस्तुत: मानववाद मनुष्य की सामाजिक परिस्थितियो पर आधारित चिन्तन है। बाह्य भेदो के होने पर वह उनकी अवहेलना नही कर सकता। अगर ऐसा करता है तो मानव की परिस्थितियो की ही अवहेलना करता है। मानव की परिस्थितियो की अवहेलना करने वाले मानववाद का चरित्र क्या होगा, यह अत्यन्त गम्भीर प्रश्न है।

दूसरा मूल्य है सामाजिकता का। प्रगतिशील कविता का तत्त्व-निरूपण करते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं : "उसके अन्तर्गत मानववाद, क्रान्ति और विशेष परिस्थितियो मे—जैसे पराधीनता मे या बाहर से हमला होने पर—देश-भक्ति भी आ जाती है, यद्यपि इनमे से कोई भी उसका अनिवार्य तत्त्व नही है।" तब अनिवार्य तत्त्व क्या है? "जिस प्रकार साम्यवाद समष्टि या समूह के हितो की चिन्ता करता है, व्यक्ति के नही, उसी प्रकार प्रगतिशील साहित्य समाज के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति को ही महत्त्व देता है, व्यक्ति के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति को नही।"[1]

वास्तविकता यह है कि न तो प्रगतिवाद मे और न मार्क्सवाद मे ही ऐकान्तिकता का ऐसा आग्रह है जैसा डॉ० नगेन्द्र कल्पित करते हैं। व्यक्ति और समाज के अन्त:सम्बन्धो की व्याख्या करने वाले समाजवाद का मुख्य सूत्र ही यह है कि 'एक सबके लिए और सब एक के लिए।'(एंगेल्स) इसलिए देखना यह चाहिए कि कहीं डॉ० नगेन्द्र व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से तो प्रगतिशील कविता का मूल्यांकन नही कर रहे हैं? उनकी मान्यता है कि प्रतिभाशाली महान् साहित्यकारो का अनिवार्य गुण-धर्म है 'अहं'। गोर्की, इकबाल, मिल्टन आदि के 'साहित्य मे जो महान् है' उसे वे 'उनके दुर्दमनीय अहं का ही विस्फोट' सिद्ध करना चाहते हैं।[2] इस दुर्दमनीय अहं

---

१. 'आस्था के चरण', पृ० २६६।
२. उपर्युक्त, पृ० २६८।

का विस्फोट होगा तो जनता से सहानुभूति कैसे होगी ? डॉ० नगेन्द्र जनता से सहानुभूति को आवश्यक नही मानते .

> "महान् साहित्य असाधारण प्रतिभा के असाधारण क्षणों की ही सृष्टि है। यह असाधारण प्रतिभा समाज या समूह से, जिसका कि अधिकाश साधारण प्रतिभा और शक्ति वाले लोगो से बना है, सहानुभूति रखती हुई भी—और यह भी सर्वथा अनिवार्य नही है—अपनी चेतना को उसमे लय नही करती।"[१]

अर्थात्, एक तो जनता से सहानुभूति जरूरी नही है, और अगर इस प्रकार की कोई सहानुभूति है तो अपनी चेतना को उसमे लय होने से बचाना चाहिए। चेतना को लय किये बिना सहानुभूति कैसे होगी ? और अगर जनता से सहानुभूति न हो तो किससे हो ? क्या इस समाज-विमुख व्यक्तिवाद और जन-विमुख अहंवाद मे कोई सम्बन्ध नही है ? अपने अहवाद का ही विकास करते हुए डॉ० नगेन्द्र कहते हैं 'प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य अहं का समाजीकरण है।'[२] अहं से मुक्ति नही। क्या यह अपनी धारणाओं को प्रगतिशील साहित्य पर आरोपित करना नही है ? और, क्या प्रगतिशील कविता इस तथाकथित अहं का विस्फोट करने की जगह उसका समाजीकरण करने के नाते डॉ० नगेन्द्र के विरोध का कारण बनी ?

कहने की आवश्यकता नही कि डॉ० नगेन्द्र मनुष्य की ऐतिहासिक परिस्थितियों की अवहेलना करने वाले जिस अनादि काल से चले आ रहे मानववाद की स्थापना का सकल्प करते हैं वह अपनी पराङ्मुखता के कारण प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य-मूल्यो के आमूल विरोध मे है। अहवाद और व्यक्तिवाद इसी पराङ्मुख मनोवृत्ति की विचारधाराएँ हैं। अहवाद व्यक्तिवाद का आधार है। व्यक्ति को सामाजिक न्याय देने की जगह उसके अहंकार को भड़काना पतनशील सभ्यता का मुख्य काम है। प्रगतिशील कविता के प्रति डॉ० नगेन्द्र का दृष्टिकोण इसी वैचारिक और सांस्कारिक आधारभूमि से उत्पन्न है। आलोच्य और आलोचक के स्वीकृत मूल्यो मे इस विरोध के कारण आलोचना की वस्तुनिष्ठता खण्डित होती है। यह स्थिति तब और भी हास्यास्पद रूप मे प्रकट होती है जब आलोचना के लिए परस्पर-विरोधी मानदण्ड स्थिर किये जाते हैं। एक स्थान पर 'अहं का विस्फोट' न होकर

---

१. 'आस्था के चरण', पृ० २६८-६९।
२. उपर्युक्त, पृ० २६६।

'अहं का समाजीकरण' होने के कारण डॉ० नगेन्द्र प्रगतिशील साहित्य की आलोचना करते हैं और उसी निबन्ध में एक अन्य स्थान पर उसमें 'आत्मविसर्जन' न होने के कारण। प्रगतिवाद का "दृष्टिकोण मूलतः वैज्ञानिक होने के कारण बौद्धिक एवं आलोचनात्मक ही रहता है। अतएव स्वभाव से ही उसमें वह तन्मयता या आत्मविसर्जन नहीं है जो काव्य के लिए अनिवार्य है।"[१]

पूछा जा सकता है कि काव्य के लिए अनिवार्य क्या है 'आत्मविसर्जन' या 'अहं' का विस्फोट ? अहं का विस्फोट करते हुए भी कोई कवि आत्मविसर्जन कैसे कर सकता है ? अहं वाद और वैज्ञानिक बौद्धिकता परस्पर-विरोधी हैं; डॉ० नगेन्द्र के परस्पर-विरोधी वक्तव्यों का कारण अहंवाद है। उनके लिए प्रगतिशील कविता का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है अपनी अभिरुचियों से उसका मेल न होने के कारण उसका ऐकान्तिक विरोध।

किन्तु डॉ० नगेन्द्र की आलोचना से यह अवश्य प्रमाणित होता है कि प्रगतिशील दृष्टिकोण 'मूलतः वैज्ञानिक' है। यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही प्रगतिशील कविता को यथार्थवादी चेतना और मानववादी अन्तर्वस्तु से अनुप्राणित करता है। यथार्थवाद एक सम्पूर्ण साहित्य-दृष्टि के रूप में स्वीकृत हुआ वैज्ञानिक युग में। इसलिए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन बेहद महत्त्वपूर्ण है कि 'कल्पनावाद, रहस्यवाद या आत्मवाद का प्रतिकार' करने के नाते 'साहित्य में यथार्थवाद के जितने भी रूप हैं, उन सबके मूल में बौद्धिक और वैज्ञानिक दृष्टि की प्रधानता है।'[२]

यथार्थवाद व्यक्तिवाद के संकीर्ण घेरे को तोड़ता है तथा मानव-जीवन और सामाजिक यथार्थ के भीतर से अपनी शक्ति अर्जित करता है। जीवन-यथार्थ में अपनी अन्तरंग पैठ और दृढ़ आस्था के कारण ही सतह पर दिखायी देने वाली वास्तविकता में फँसकर नहीं रह जाता। त्रिलोचन और केदार के साथ नागार्जुन का महत्त्व बताते हुए डॉ० शिवकुमार मिश्र ने लिखा है, अवध, बुन्देलखण्ड या मिथिला की धरती के सुख-दुःख को चित्रित करने तथा "अचल से राष्ट्र और राष्ट्र से अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिजों तक पहुँचने वाली उनकी संवेदना का यह आकर्षक प्रसार" ही उन्हें "सही मानों में प्रगतिशील और जनता का कवि सिद्ध करती है।"[३] जो कवि

---

१. 'आस्था के चरण', पृ० १६०।
२. 'आधुनिक काव्य : रचना और विचार', पृ० ५६।
३. 'प्रगतिवाद', पृ० ३१।

जीवन की वास्तविकता से कम जुड़ते है उनके काव्य मे 'धरती तथा जन-जीवन के यथार्थ की वस्तुपरक' अभिव्यक्तियाँ भी कम मिलती हैं; वे शिवमंगल सिंह 'सुमन' की तरह युग की विषमता को जीवन-यथार्थ के धरातल पर नही, 'भावावेग' और 'प्रतिक्रिया' के धरातल पर व्यक्त करते हैं' इसलिए उन्हें बार-बार अपने 'आस्था और विश्वास' की घोषणा करनी पडती है।[१] डॉ० मिश्र उचित ही इसे गुण नही मानते।

डॉ० मिश्र जिसे अवगुण कहते है पंत जी उसी को गुण कहते हैं। वे 'सुमन' मे 'जनवादी आवेग तथा प्रभावोत्पादकता होने पर भी शाब्दिकता अधिक' देखते हैं तो प्रशंसा के स्वर मे कहते हैं, "सुमन जी मे सामाजिक यथार्थ के भीतर गहरी पैठ न होने पर भी एक उन्मुक्त कला-भगिमा मिलती है, जिससे उनकी वाणी मर्मस्पर्शी बन जाती है।"[२]

स्पष्ट है कि पंत जी मर्म तक पहुँचने के लिए जितनी जरूरत कला-भगिमा की मानते हैं उतनी सामाजिक यथार्थ के भीतर गहरी पैठ की नही। यह बात मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर आदि की प्रशसा से भी स्पष्ट है। मुक्तिबोध सबसे ज्यादा 'युग-प्रबुद्ध' हैं क्योकि उनके पास 'ऊर्ध्व-चिन्तन' की दृष्टि है। वे "अनेक प्रगतिवादियो की तरह समतल साधारणता के ही मरुस्थल मे नही भटक गये।" बल्कि छायावाद की तरह "उनकी आस्था सास्कृतिक तथा सौन्दर्यमूलक" थी। उनमे 'समतल तथा सामाजिक मूल्य' के साथ 'ऊर्ध्व' और 'आध्यात्मिक' मूल्य की 'संगति' की परख न होने से 'प्रौढ़ सन्तुलन की कमी है', किन्तु 'जीवन के प्रति समर्थ आवेश', 'वैचारिक शक्ति, विश्लेषण बुद्धि तथा दार्शनिक चैतन्य प्राय: सभी कवियो से अधिक विकसित रही है।'[३]

यह ध्यान देने की बात है कि ऊर्ध्वमुखता, दार्शनिक चैतन्य, विश्लेषण बुद्धि, वैचारिक शक्ति, जीवन के प्रति समर्थ आवेश आदि की सूची में कही भी यथार्थ की तलस्पर्शी दृष्टि और जीवन की अन्तरंग पकड़ का उल्लेख नहीं है।

मुक्तिबोध जिस 'प्रौढ़ सन्तुलन' के अभाव मे केवल 'युग-प्रबुद्ध' होकर रह गये, उसका सूत्रपात करने के नाते माथुर सबसे ज्यादा 'कलादक्ष' हुए। पंत जी के अनुसार चूंकि "माथुर केवल दृष्टि से यथार्थवादी हैं। सवेदना से वह व्यक्तिवादी

---

१. 'प्रगतिवाद', पृ० ३३-३४।
२. 'सुमित्रानन्दन पंत ग्रन्थावली-६', पृ० १२२-२३।
३. उपर्युक्त, पृ० १२३।

ही है।" इसलिए "छायावादी अभिव्यञ्जना को उन्होंने अपने भाषा संगीत के तारल्य से ढाल कर नयी कविता के पास पहुँचाने का प्रयत्न किया है।"[१]

स्पष्ट है, माथुर छायावादी अभिव्यञ्जना को नयी कविता के पास पहुँचाने के नाते ही अधिक कलादक्ष हैं। उनकी कलादक्षता यह है कि वे पुराने व्यक्तिवाद को नये व्यक्तिवाद से मिलाने के लिए यथार्थवादी दृष्टि का सहारा लेते हैं। पंत जी ने किसी भी कवि की प्रशंसा करते समय यदि जनता के साथ उसकी प्रतिबद्धता या यथार्थभेदी अन्तर्दृष्टि की चर्चा नहीं की है तो यह आकस्मिक नहीं है। वे प्रगतिशील कविता की प्रशंसा वहीं तक करते हैं जहाँ तक उसमें 'छायावादी खेती मिट्टी के भीतर से उगाकर उसे यथार्थ के आयाम' देने का प्रयत्न है; जहाँ छायावाद से हट कर 'सामाजिक मूल्य को, जन-जीवन के भीतर प्रविष्ट कर, उसे अन्तरिक्षों के सौन्दर्य स्थान पर धरती की सुन्दरता की वास्तविकता' प्रदान करने का प्रयत्न है, वहाँ उन्हें *"प्रगतिवादी कवियों में सामाजिक चेतना के आयाम अधिक ठोस तथा रंग अधिक गहरा होने पर भी अधिकतर काव्य तत्वों की परिक्षीणता के लक्षण दृष्टिगोचर"* होने लगते हैं।[२] प्रयोगवाद-नयी कविता में छायावाद और व्यक्तिवाद का ही विकास है, इसलिए उसमें सामाजिक चेतना का कोई खतरा नहीं है।

इसका यह आशय नहीं कि पंत जी प्रगतिवाद का निषेध करना चाहते हैं। वे वस्तुतः "द्विवेदी युग के गोमुख से निकले समस्त आधुनिक काव्य" – छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को "अपने में एकांगी, अपर्याप्त तथा युग-जीवन का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करने में असमर्थ" मान कर "स्वभावतः एक बड़े मूल्य के अंग" के रूप में "एक बृहत्तर जीवन-व्यवस्था में प्रतिष्ठित" करना चाहते हैं।[३] कारण यह कि छायावाद का दार्शनिक आधार भारत का 'औपनिषदिक चैतन्य' और पश्चिम की औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न 'नवीन सौन्दर्य-दृष्टि' है; प्रगतिवाद का सामूहिक यथार्थ *मार्क्सवाद का रूपान्तरण है और प्रयोगवाद-नयी* कविता का सम्बन्ध पश्चिमी जगत् के 'फ्रायड आदि जीवशास्त्रीय मनोविश्लेषकों द्वारा पोषित एवं समर्थित अधोमुखी रागात्मकता' में है।[४]

---

१. 'सुमित्रानन्दन पंत ग्रन्थावली'–६, पृ० १२३
२. उपर्युक्त, पृ० १२२।
३. उपर्युक्त, पृ० १२६।
४. उपर्युक्त, पृ १२५।

पंत जी ने इन तीनो परस्पर-विरोधी विचारधाराओं में समन्वय जिस 'युग-संक्रान्ति' के काल में आरम्भ किया वह आजादी के आसपास का समय था। स्वतंत्रता संग्राम मे कांग्रेस की जो दोमुँही नीतियाँ थी उन्ही के क्रम में स्वतंत्र भारत का विकास किसी स्पष्ट दिशा की ओर नही हुआ। जो मार्ग तय किया गया उसमे प्रकटतः रूढ़िवादी सामन्तो, अधोमुखी पूँजीपतियों और श्रमजीवी किसान-मजदूर सबको साथ लेकर चलने का लक्ष्य था। समाज में परस्पर-विरोधी हितो में समन्वय हो, विचारधारा और साहित्य में न हो, यह कैसे सम्भव है? फलतः पंत जी ने 'प्रौढ सन्तुलन' के नाम पर 'व्यक्तिनिष्ठ ह्रास की समर्थक' अस्तित्ववादी विचारधारा, जिसका प्रचार भारत का पूँजीवादी तंत्र करता था और 'लोकनिष्ठ प्रगति की पोषक' समाजवादी विचारधारा, जिसका सम्बन्ध श्रमजीवी जनता से था, दोनों के सम्बन्ध मे प्रतिपादित किया कि "दोनो ही व्यापक ऊर्ध्वदृष्टि से हीन होने के कारण अपनी-अपनी सीमाओ मे बँधी समदिग् अम्बर में घूम कर ध्वंस का पर्याय बनाने जा रही है।"[१] इस सम्भावित ध्वस के खतरे को टालने के लिए उन्होने अतीतोन्मुख औपनिषदिक चैतन्य की ऊर्ध्वदृष्टि से जोड़ कर उनमें समन्वय आरम्भ किया। इस प्रयत्न मे यह स्वाभाविक था कि 'समतल साधारणता' के नाम पर यथार्थवादी साहित्य-दृष्टि की उपेक्षा की जाय। यह और भी स्वाभाविक था कि "धन्य मार्क्स! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर/तुम त्रिनेत्र के ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयकर"[२] की प्रशस्ति बन्द करके मार्क्सवाद को केवल यत्रवाद माना जाय। पंत जी के इस परिवर्तित दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए भारत भूषण अग्रवाल कहते हैं कि "मार्क्सवाद से आध्यात्मिक समन्वय की बात कह कर पंत ने सामाजिक प्रगति की आवश्यकता से मुँह नही मोड़ा था, वरन् वे सामाजिक जीवन के उच्चतर विकास के लिए ही निरन्तर आध्यात्मिक विकास पर जोर देते रहे हैं। निरे जड़वाद और यत्रवाद को ही हम जीवन की इतिश्री न समझ बैठें, भौतिक सुख और वैभव में मानवीय सम्बन्धो और भावनाओ के सौन्दर्य से कही दृष्टि न फेर लें, यही सोचकर उन्होने आध्यात्मिक पक्ष पर बल दिया है।"[३]

इस मूल्यांकन में गड़बड़ी यह है कि मार्क्सवाद को केवल 'जड़वाद' या 'यन्त्रवाद' मान कर आध्यात्मिक उन्नति के लिए किसी-न-किसी 'भाववाद से उसके समन्वय का प्रयत्न किया गया है। माचवे और अग्रवाल ही नही, पंत भी इस भ्रान्त

१. 'सुमित्रानन्दन पंत ग्रन्थावली-६', पृ० १२५।
२. 'सुमित्रानन्दन पन्त ग्रन्थावली-२', पृ० ६१।
३. 'कवि की दृष्टि', पृ० १६४।

धारणा को प्रोत्साहन देते हैं। वे भौतिक जीवन की उपेक्षा करके आत्मिक उन्नति की कल्पना करते हैं। वे इस मानवलोक को 'अपरिचित नारक' में बदल कर चाहते हैं कि 'मानवता निर्माण करें जग में लोकोत्तर'। कल्पना का आकाश छोड़कर भी लोकोत्तर का यह आकर्षण इतना गहरा था कि उन्हें लगता था 'देश, काल, स्थिति से मानवता रही सदा ही बाधित', इसलिए वे 'उद्बोधन' करते हैं कि 'देश, काल औ' स्थिति से ऊपर मानवता को करो प्रतिष्ठित !'[1] अपने प्रगतिशील दौर में भी देश-काल-स्थिति को मानवता के लिए बाधा मान कर इससे परे—लोकोत्तर मानवता की कल्पना इसलिए करते थे कि जग मोह के वश में आकर विभक्त हो गया है। लोकोत्तर केवल स्वर्ग जगत की चीज हो, ऐसी बात नहीं है। लोक से इतर मन भी है। पन्त जी सोचते हैं :

जो मोह छिन्न जग में विभक्त थे/मुझमें मिलें बने सशक्त।[2]

बाह्य जगत मोह-छिन्न है और कवि में मिल कर यह सशक्त नहीं हो रहा है। इस स्थिति में बाह्य-जगत से मोहभंग स्वाभाविक है :

वस्तु ज्ञान से ऊब गया मैं /मुझे मरु में डूब गया मैं,
मेरे स्वप्नों की छाया में / जग का वस्तु सत्य जाये खो ![3]

कल्पनाओं और सद्भावनाओं से न वस्तु-सत्य खोया और न मोह-छिन्न जग आपस में मिला। इसलिए यह जगत निःसार जान पड़ने लगा। बाहरी दुनिया मोह-छिन्न बनी रहे और मन के भीतर 'सुन्दरता का आलोक-स्रोत' फूट पड़े तो यही होता है कि—

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल / भावी मानव के हित भीतर,
सौंदर्य स्नेह उल्लास मुझे / मिल नहीं सका जग में बाहर।[4]

स्वप्न-लोक छोड़ कर यथार्थ के खुरदुरे पथ पर उतरना एक बात है और भाववाद को त्याग कर यथार्थवाद को अपनाना दूसरी। यह अन्तर पन्तजी की काव्य-संवेदना में निरन्तर बना रहा है। वास्तविकता से मुँह मोड़ कर 'ऊर्ध्व-दृष्टि' अपनाने का यही कारण है। वस्तु-जगत की उपेक्षा करके उसका सामाजिक विकास कैसे होगा – यह जवाब न पन्त के पास है और न अग्रवाल के पास। तारीफ

१. 'सुमित्रानन्दन पन्त ग्रन्थावली—२', युगवाणी, पृ० ९० और ९१।
२. उपर्युक्त, 'युगपथ', पृ० १४।
३. उपर्युक्त 'युगवाणी', पृ० १०९।
४. उपर्युक्त, पृ० १९।

यह कि पंत वस्तु-जगत् से नाता तोड़ कर भी ऐसे 'विराट मानव-मूल्य' का विकास करना चाहते हैं जो 'ऊँचाई, व्यापकता और गहराई के त्रिकोण आयाम' तथा 'बहिरंतर जीवन वैभव से सम्पन्न' हो, साथ ही स्वातंत्र्योत्तर भारत का, 'मानव सभ्यता और संस्कृति के नवीन युग संचरण का प्रतिनिधित्व' कर सके।[1]

स्पष्ट है कि पन्त जी का यह समन्वयवाद परस्पर-विरोधी दृष्टियों के मेल की अवैज्ञानिक कोशिश के कारण आंतरिक असंगतियों से ग्रस्त है। निस्सन्देह, उनका भावबोध श्री वर्मा और डा० नगेन्द्र के रुग्ण भावबोध से भिन्न है। वे प्रगतिशील कविता और उसके सामाजिक एवं वैचारिक आधार का बहिष्कार नहीं करते। वे अधिक व्यापक बनाने के प्रयत्न में इतर प्रवृत्तियों से उसके समन्वय पर बल देते हैं। अपने इसी भाववादी संस्कार के कारण वे भौतिकवाद को आत्मजगत से इन्कार करके वस्तु-जगत को एकमात्र सत्य बनाने वाला दर्शन समझते हैं। छायावाद चूँकि उनकी दृष्टि में व्यक्तिवाद तक सीमित है इसलिए साहित्य, समाज और विचारधारा में वे व्यापक मूल्यों की सिद्धि के लिए विरुद्धों का बेमेल सामंजस्य करते हैं। उनकी दृष्टि में नया यथार्थ कुत्सित, कुरूप है। उसे व्यक्त करने के नाते प्रगतिवाद में कलाहीनता आ गयी। जो कवि इस यथार्थ से बच कर चले, उन्होंने चाहे कला भंगिमा वाली कविताएं लिखीं, चाहे नाद-संगीत के तारल्य वाली, वे अधिक मर्मस्पर्शी और कलादक्ष अनुभव हुए। नये यथार्थ से बच कर छायावादी चेतना को खेतों की मिट्टी के भीतर से उगा कर उसे यथार्थ के आयाम देने का आग्रह इसी मनोभूमि की उपज है।

पन्तजी के इस समन्वयवाद में उनकी सदिच्छा और महत्वाकांक्षा की भी भूमिकाएँ अक्षुण्ण हैं। सम्भवतः इन्हीं कारणों से उनका भाववाद उन्हें समय के ऐसे दौर में परिवर्तित करता है कि अनेक मूर्धन्य आलोचकों को उनमें अवसरवाद की गन्ध मिलती है। प्रगतिवाद के समय वे आकाश की उड़ान छोड़कर यथार्थ के खुरदुरे पथ पर उतरे थे, उन्होंने धरती के रोम-रोम में भरी सहज सुन्दरता को रूप-रस-गंध के साथ स्वस्थ रूप में व्यक्त किया था। आजादी के दौरान नयी परिस्थिति में वे समतल साधारणता त्याग कर पुनः ऊर्ध्वमुखी दार्शनिकता का समर्थन करने लगे। इस ऊर्ध्वमुखता में व्यक्तिनिष्ठ ह्रास और लोकनिष्ठ प्रगति में ऐसा सन्तुलन आया कि उनमें ध्वंसकारी संघर्ष समाप्त हो गया और रूढ़िवाद से गले मिलकर वे युग जीवन के नवीन संचरण का प्रतिनिधित्व करने लगे। कैसा सुन्दर मानववाद है, जिसके घाट पर नष्ट-भ्रष्ट जीर्ण-पुरातन, अपने मद में मस्त व्यक्तिवाद और

---

१ सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली-६', पृ० १३०।

सामाजिक प्रगति की समर्थक जनता सब एक-दूसरे की अंजुलि से अमृतपान करते हैं क्योंकि वे यथार्थोन्मुख, जीवनोन्मुख न रह कर उर्ध्वमुख हो गये हैं। पन्त जी का कल्पना-विहग आकाश से उकता कर जमीन पर उतरा, कुछ दिन उसके रूप-रंग में रसा-बसा, 'मानवपन' के उत्साह में कूड़ा-करकट में भी सार्थकता-सुन्दरता देखी और फिर उनका 'नास्टेल्जिक' कवि मन गगन-विचरण के लिए उड़ चला। यह सुकुमार संवेदनशील पन्त जी की चेतना उनके अंतःकरण की सीमा थी, इसलिए ऐतिहासिक परिस्थितियाँ बदलने के साथ उनमें शीघ्र बदलाव आ जाता था।

कहने की जरूरत नहीं कि डॉ० शिवकुमार मिश्र ने प्रगतिशील कविता की शक्ति और कमजोरी को अधिक सगत ढंग से रेखांकित किया है। जिस यथार्थवाद को पन्तजी कलाक्षीणता का कारण मानते हैं वही प्रगतिशील कविता की शक्ति का स्रोत है। यह यथार्थवाद सामाजिक जीवन से सम्बद्ध है इसलिए सामाजिक अन्त-विरोधों, प्रगति और अवनति की शक्तियों तथा इन शक्तियों के बुनियादी बेमेलपन की पहचान, इस स्थिति से मुक्ति का मार्ग एवं भविष्य की दिशा का तीव्र बोध समस्त प्रगतिशील कविता में अन्तर्निहित है। जो कविताएँ कमजोर हैं उनमे वस्तुत: जीवन और समाज की वास्तविकता ही कमज़ोर अतर्वस्तु बन कर आयी है। अतर्वस्तु की कमजोरी के साथ रूप की कमजोरी गहरे स्तर पर जुडी है। कला सजग कवियो के शिल्प की गतिहीनता का कारण भी अन्तर्वस्तु मे जीवन की गतिशील वास्तविकता की क्षीणता है। जहाँ जीवन-यथार्थ कविता मे एकमेक है, वहाँ श्रेष्ठ कलात्मक मूल्य भी व्यक्त हुआ है। जनता के सघर्षों के मोर्चे पर सघर्षरत ऐसे कवि भी हैं जिनमें जीवन की वस्तु अत्यन्त प्रखरता से व्यक्त हुई है, किन्तु कलात्मक शिल्प का अभाव है। शील, सुदर्शन चक्र, किसान कवि पढीस, शंकर शैलेन्द्र आदि की अनेक कविताएँ इस दूसरी कोटि की हैं। किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि इनकी कविताओं में वह आयास नहीं है जो कला-सजग कवियों की मुख्य कमजोरी है। पढीस की यह उक्ति-वक्रता जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव से उत्पन्न है कि—

भलमसी का जामा पहिरे, हम आहिन बड़े भले मानुस।

× × ×

तुम भूखन मरउ, मरउ भैया, नंगे उघार ढ़ाग मारि-मारि,
हम तउ मनइन मा घउता हन, महु का जानी करतब तुम्हार,
हम पर आनन्द रूप बरसदि, हम आहिन बड़े भले मानुस।[1]

---

१. 'चकल्लस', पृ० ५१।

जिन्हें जनजीवन की कटु वास्तविकताओं का सीधा अनुभव नहीं है, उनके लिए यह अभिव्यक्ति नारेबाजी के अलावा कुछ और न होगी। जिन प्रगतिशीलों ने वास्तविकता को अनुभव से कम, पुस्तकों से अधिक ग्रहण किया उनमें यह तीखापन नहीं है—यह सहजता भी नहीं है। क्या सहजता के अभाव में कला की रक्षा की जा सकती है? जिन विद्वानों ने प्रगतिशील कविता को राजनीतिक बिल्ला कह कर उसके कलात्मक मूल्य से इन्कार किया है वे वस्तुतः प्रगतिशील कविता की कला से नहीं, उसकी दृष्टि से इन्कार करते हैं। कारण यह कि प्रगतिशील कविता में राजनीति से परहेज तो नहीं है, फिर भी सभी कविताएँ राजनीतिक ही हैं, ऐसी बात भी नहीं है। आधुनिकतावादी-कलावादी दृष्टिकोण से प्रगतिशील कविता की आलोचना करने वाले विद्वान आधुनिक सौंदर्यशास्त्र की इस बुनियादी प्रस्थापना को ही अस्वीकार करते हैं कि मनुष्य मूलतः सजग और सकर्मक प्राणी है। उसके ये गुण उसके सामाजिक विकास से सम्बद्ध हैं इसलिए मनुष्य के सजग और कर्मण्य अस्तित्व से इन्कार करने के लिए सामाजिक चेतना का अस्वीकार आवश्यक हो जाता है।

यह संयोग की बात नहीं है कि 'कटुता, विद्रूपता और कठोरता' को आधुनिक युग का सबसे महत्वपूर्ण नया मूल्य मानकर उसके प्रति 'आस्था'[1] की बात करते समय लक्ष्मी कांत वर्मा 'वैयक्तिक दृष्टि, स्वानुभूति की दृष्टि अथवा देशकाल के साथ आत्मदर्शन की दृष्टि' को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु 'आदर्श और सामाजिक चेतना के स्तर' को अस्वीकार करते हैं; कटुता, विद्रूपता से मुक्ति की भावना को पलायनवाद मानकर इस 'अशिव और अशोभन जीवन सत्य को जागरुक, आस्थामय वस्तु के रूप में स्वीकार करके उसे वहन' करने में ही आधुनिकता मानते हैं।[2] उनके अनुसार यही आधुनिक जीवन का यथार्थ है और 'यथार्थ के साथ पलायन की निष्क्रियता नहीं, उसकी स्वीकृति ही अनिवार्य है।'[3] यदि पलायन की निष्क्रियता नहीं तो परिवर्तन की सक्रियता भी नहीं, केवल उसकी स्वीकृति! चूंकि आधुनिकतावादी नयी कविता 'मार्क्सवाद के विरोध में व्यक्तिनिष्ठा पर जोर' देती है और 'केवल किसान-मजदूर' या 'समाज' को 'सब कुछ' नहीं मानती[4] इसलिए वह

१. 'नयी कविता के प्रतिमान' पृ० २१।
२. उपर्युक्त, पृ० ३६।
३. उपर्युक्त, पृ० ८३।
४. उपर्युक्त, पृ० ८०।

जिस निष्ठा, आस्था, भोग, मानवीय गहराई आदि की बात करती है वह 'मात्र अभिव्यक्ति नही है।' बल्कि 'उसके साथ अनुभूति का भी गहरा सम्बन्ध है।'[१] निष्ठा, भोग आदि की वैयक्तिक अनुभूति और किसान-मजदूर की सामाजिक संवेदनाओ मे फर्क होना स्वभाविक है। साहित्य मे यह फर्क किस रूप मे व्यक्त होता है, इसका उदाहरण देखिये, "प्रगतिवादी इस कठोर सत्य द्वारा करुणा की नकाब गढ़ता है। "किन्तु नयी कविता का काव्य बोध एवं उसका सौंदर्य उसको औचित्य प्रदान करता है।"[२]

प्रगतिवादी इस 'कठोर सत्य' को औचित्य प्रदान करने की जगह उसके बुनियादी अनौचित्य का दिग्दर्शन करता है इसलिए उसमे करुणा है। नयी कविता उसे औचित्य प्रदान करती है इसलिए उसमे करुणारहित भोग की वृत्ति है। कारण यह है कि प्रगतिशील कविता बहती गंगा मे हाथ धोने वाले भोगवाद मे नही, अधिकतम जनता के हित मे गंगा की धारा मोडने के सार्थक उद्यम मे विश्वास करती है। वह वज्र-गर्जन विप्लव के बादल का आवाहन करती है; वह ललकारती है : "तोड़ो-तोड़ो-तोडो कारा/पत्थर की/निकले फिर गंगा जल धारा।" वह नयी कविता की भांति "लघु मानव की लघुता को स्वीकार कर"[३] लघुत्व का मूल्यदर्शन विकसित नही करती वरन् लघु-मानव मे निहित विराट्-सृजन सम्भावनाओं को साकार करने मे आस्था रखती है।

नयी कविता जिस आधुनिकतावाद को मान कर चलती है उसमे यथार्थ की स्वीकृत तो है, किन्तु उसके परिवर्तन की भावना नही है। इसलिये वह सामाजिक अन्तर्विरोधो को देख कर उसकी व्याख्या को नही, उसकी यथावत् स्वीकृति को महत्व देती है। लक्ष्मीकान्त वर्मा को नयी कविता के गुणों-दुर्गुणो का सम्पूर्ण प्रतिनिधि बताते हुए श्री विजयदेव नारायण साही आधुनिकतावादी दृष्टिकोण से यथार्थ को इस रूप मे देखने का ढंग प्रतिपादित करते हैं : "सुन्दर और वीभत्स—एक-दूसरे के पूरक, या प्रकाशक भी नही है—वे केवल एक-दूसरे पर बतौर व्यंग्य के रूप में हैं।" जीवन की यह समस्या नये कवि को विद्रोही बनाती है।[४]

---

१. उपर्युक्त, पृ० ८१।
२. उपर्युक्त, पृ० ८३।
३. उपर्युक्त, पृ० ८५।
४. नयी कविता (अंक), पृ० ६।

यथास्थिति की स्वीकृति पर आधारित यह विद्रोह समस्या से उत्पन्न होता है किन्तु समाधान की तरफ नही जाता। समस्या जीवन की है, उसे झेलने का मार्ग वैयक्तिक है। इसलिए जहाँ तक उसमे यथार्थ के अन्तर्विरोधों को उद्घाटित करने का प्रयत्न है वहाँ तक वह सीमित स्तर पर ही सही, प्रगतिशील भूमिका अदा करती है। लेकिन जहाँ वह समाधान से बच कर यथास्थितिवाद और व्यक्तिवाद की ओर उन्मुख होती है वहाँ उसकी प्रगतिशील भूमिका समाप्त हो जाती है और उसका प्रगति-विरोधी चरित्र उभरता है। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भी मूलतः इसी दृष्टिकोण से साहित्य का मूल्यांकन किया है कि यथार्थ और समस्याओ को इस सावधानी से उठाया जाय ताकि वह समाधान की दिशा मे न बढ़े। इसके विपरीत प्रगतिशील कविता सहृदय को आत्मरत पीड़ावाद की ओर अनुप्रेरित नही करती। उसे मानव यत्न से पीडा के हेतुओ के अनिवार्य अन्त के प्रति प्रत्यक्ष या परोक्ष बीज-आस्था से आविष्ट करती है। वह भावक के रागात्मक संवेदना-ससार मे इस बीज-आस्था के गुरुत्व से चालित एक दुर्दम्य गतिशास्त्र के अनुसार उसका संस्कार करती है। यह सस्कार कभी प्रकट और कभी अध्याकृत रूप मे किन्तु निरपवाद भाव से समाधानोन्मुख दिशाबोध उत्पन्न करती है।

आधुनिकतावादी चिन्तको की आपत्ति उसकी इसी दिशावाचकता पर है। इसीलिए वे विभिन्न मुद्दो की आड लेकर उसकी इस विचार-दृष्टि पर ही आक्रमण करते हैं। डा० धर्मवीर भारती कहते हैं कि सामाजिक यथार्थवाद ने "मनुष्य की वैयक्तिकता छीन कर उसे बने-बनाये सांचे मे ढाल कर कठपुतली मे परिवर्तित कर दिया।"[१] और डॉ० रघुवंश कहते हैं कि "प्रगतिशील कहलाने वाले कवि देश के वास्तविक यथार्थ से अपरिचित रहे है।"[२] यहां इस विवाद मे पड़ना अप्रासंगिक है कि देश का वास्तविक यथार्थ क्या है। कारण यह कि सामाजिक यथार्थ को देश का यथार्थ न मान कर "आत्म दर्शन" को ही देश का यथार्थ मानने वाले आधुनिकतावाद का मूल विरोध मार्क्सवाद से है। मार्क्सवाद मनुष्य के इतिहास को समझने, उसके अन्तर्विरोधों को पहचानने, उसके विकास के तर्क की खोज करने और भविष्य की दिशा तय करने का वैज्ञानिक नजरिया देता है। वह अधिकतम मनुष्यो के हक मे समाज के परिवर्तन का विज्ञान है। आधुनिकता का अर्थ केवल आत्मतुष्टि प्रदान करने वाली विद्रोह की एक 'स्टिल' मुद्रा के साथ यथास्थिति के स्वीकार तक

---

१ 'मानव मूल्य और साहित्य', पृ० १६७।
२ 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य', पृ० १३२।

सीमित कर देने वाले दृष्टिकोण का मार्क्सवाद से विरोध होना अस्वाभाविक नहीं है। अब यह बात सर्वविदित है कि समाज में परिवर्तन न हो, वह ज्यों का त्यों बना रहे, कवि का काम है केवल इससे उत्पन्न असंगति, कटुता, विद्रूपता आदि को आस्थापूर्वक धारण करना, आदि सिद्धान्त समाज के सत्तासीन वर्गों की ही विचारधारा के विकास है।

इस यथास्थितिवाद के परिणामस्वरूप आधुनिकतावादी विचारक साहित्य में अनुभव को स्वीकार करते हैं और मूल्यों को अस्वीकार। डॉ० रघुवंश के शब्दों में, "किसी युग का कवि मूल्यों की स्थापना नहीं करता, इसी प्रकार आधुनिक कवि भी आधुनिक जीवन के व्यापक तथा गहन अनुभवों को अपनी रचना-प्रक्रिया के माध्यम से ग्रहण करता है। यह अलग बात है कि उसकी व्यंजना के आधार पर आगत मूल्यों का संचरण हो सके।"[1]

यदि कवि मूल्यों की स्थापना नहीं, केवल अनुभवों की व्यंजना करता है तो यह क्यों स्वीकार नहीं किया जाता है कि प्रगतिशील कविता के अनुभव नयी कविता के अनुभवों से भिन्न हैं? अनुभव दोनों हैं और दोनों का सम्बन्ध कवि के आत्मजगत् से है, इसलिए अनुभवों की प्रकृति में अन्तर हो सकता है। किन्तु इस अन्तर के आधार पर क्या हमें यह कहने की छूट मिल जाती है कि प्रगतिशील कवि "देश के वास्तविक यथार्थ से अपरिचित" हैं? क्या यह सच नहीं है कि इस प्रकार के आरोप मूलतः उसकी विचारधारा को लेकर लगाये जाते हैं? क्या मार्क्सवाद एक विचारधारा है और यथास्थितिवाद कोई विचारधारा नहीं है?

वस्तुतः बाह्य-जगत के टकराव से कवि जो अनुभव प्राप्त करता है वे विचारधारा से मिल कर मूल्य में बदल जाते हैं। कवि के वैयक्तिक अनुभव सामाजिक सम्बन्धों में प्रतिफलित होते हैं इसलिए वे *मूल्य-गर्भित* होते हैं और उन्हें सामाजिक सन्दर्भों से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। हमारे जीवनानुभव मूल्यबोध से बाहर नहीं हो सकते। यह "अलग बात" नहीं, असल बात है क्योंकि हमारे जीवनानुभव निश्चित मूल्यों को पुष्ट और खंडित करते हैं। यह मूल्यबोध कविता में भी व्यक्त होता है। *कविता जिन चित्रों या स्थितियों की रचना करती है उनमें कवि अनुभव और निष्कर्ष दोनों होते हैं।* आज के बौद्धिक और वैज्ञानिक युग में अपने अनुभव और निष्कर्ष अर्थात मूल्य जगत के प्रति सजग होना कवि के लिए अनिवार्य है।

---

1. 'नयी कविता' (अंक ५-६ संयुक्तांक)। पृ० १४४।

यह विचित्र संयोग है कि प्रगतिशील कविता को स्वदेशी न मानने वाला आधुनिकतावादी भावबोध स्वयं विदेशों से आयातित है। इस सम्बन्ध में डॉ० जगदीश कुमार ने अत्यन्त शोधपूर्ण तथ्यों के आधार पर लिखा है, "प्रयोगवाद और नयी कविता के जिन सिद्धान्तों का ढोल वक्तव्यों के साथ पीटा गया, उनमें से अधिकांश का आयात पश्चिम से हुआ है।"[1] यह भी यों कि भारतीय जनता के जीवनानुभवों में उनकी कोई पटरी न बैठे! उदाहरण के लिए युद्ध सम्बन्धी अनुभवों को लें। डॉ० जगदीश कुमार ने इस प्रकार के निष्कर्ष दिये हैं कि "युद्ध के यथार्थ को भोग कर काव्य लिखने व ले हमारे नये कवियों की एक आदत बड़ी विचित्र है। ये पैंतालीस के दंगों या भारत-पाक-युद्धों को तो पूरी तरह नहीं भोग पाये परन्तु सुदूर अतीत और भविष्य के युद्धों का सुन्दर रूपक बाँध लेते हैं।"[2]

अपनी मिट्टी के, अपने जनगण के अनुभवों से बेमेल इन नये कवियों के जीवनानुभव कटुता आदि जिन स्वय साध्य मूल्यों को जन्म देते हैं वे अगर भारतीय जन-मानस के लिए पूर्णतः अपरिचित हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य की बात है श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा का यह आग्रह कि "मात्र अपरिचित होने के नाते उसकी आस्था को तिरस्कृत नहीं किया जा सकता।"[3]

इसके विपरीत प्रगतिशील कविता अपने देश की मिट्टी से, जनता के सांस्कृतिक जीवन से और साथ-साथ वर्तमान युग में मानव जाति के सर्वनिष्ठ संघर्ष से उत्पन्न एक सम्पूर्ण विचारधारा से कितनी गहराई से जुड़ी है, इसे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के इन शब्दों में सुना जा सकता है: 'वर्तमान काव्य का भविष्य बहुत कुछ देश के राजनीतिक भविष्य पर निर्भर है। यदि देश में राजनीतिक क्रान्ति हो गयी तो वर्तमान काव्य का बहुत कुछ कायाकल्प हो जायेगा। हिन्दी कविता में प्रगतिवादी पक्ष का प्राबल्य होगा" इत्यादि।[4] प्रगतिशील कविता का सम्बन्ध देश की राजनीतिक स्थिति से है। राजनीति से इसलिए कि जिस ऐतिहासिक युग-सन्दर्भ में प्रगतिशील कविता का विकास हुआ वह राजनीतिक जागरण और सघन राजनीतिक गतिविधियों का युग था। जनता और समाज के प्रति जागरूक एवं जिम्मेदार रुख अपनाने के कारण प्रगतिशील काव्य राजनीतिक स्वर से बच नहीं सकता था। जो

---

१. 'नयी कविता : विलायती सन्दर्भ', पृ० १६।
२. उपर्युक्त, पृ० २७।
३. 'नयी कविता के प्रतिमान', पृ० ३३।
४. 'आधुनिक काव्य', पृ० ३८८।

लोग सामाजिक जीवन की उपेक्षा करके प्रगतिशील साहित्य में राजनीतिक प्रचार देखते हैं उन्हें सम्बोधित करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उचित ही कहा था :

> जो लोग आज भी यह सोचते हैं कि साहित्य के कुछ खास-खास विषय ही पढ़ने के हैं वे बड़ी गलती करते है। आज की जनता की दुरवस्था को यदि आप सचमुच उखाड़ फेंकना चाहते है तो आप चाहे जो मार्ग लें, राजनीति से अलग होकर नहीं चल सकते··· ।[1]

इसलिए जो लोग प्रगतिशील कविता की आलोचना के लिए प्रचार, विदेशी प्रभाव आदि की बात कहते हैं वे मूलतः इतिहास, समाज और जीवन के उल्टे चलते है। प्रगतिशील कविता इस प्रकार के विरोधों से टकराती हुई, जनता मे अपनी आस्था को दृढ़ करती हुई विकसित हुई है।

अपने अध्ययन क्रम मे हमने प्रगतिशील कविता की कमजोरियों के जो मुख्य स्वरूप देखे हैं उनके कारणों पर प्रकाश डालते हुए अमृतराय ने लिखा है कि उसकी कमजोरी के दो मुख्य आधार है : एक तो ऐसे लेखकों की कृतियों जिन्होंने बौद्धिक दर्शन के रूप मे साम्यवाद को अपना लिया, किन्तु जनजीवन से गहन सम्पर्क के अभाव मे शिल्प या रचना-कौशल के बावजूद जीवन के स्पन्दनों से साहित्य को प्राणवान न बना सके; और दूसरे, जनसाहित्य—जिससे रचयिता ज़िन्दगी के मोर्चे पर लड़ रहे थे इसलिए रचना-कौशल की कमी के बावजूद जीवन का स्पन्दन ही उनके साहित्य की शक्ति है।[2] स्पन्दनरहित-प्राणहीन कला की अपेक्षा जिन्दगी के मोर्चे पर लड़ने वाली रचनाएँ अपने उद्देश्य मे अधिक सफल हैं क्योंकि रचना-कौशल की कमी के बावजूद वे जिन्दगी के प्रति अधिक ईमानदार है। इन कवियों को अपनी कला के बारे मे भ्रम नहीं था। रामेश्वर "करुण" ने अपनी कला के बारे मे काफी पहले लिखा था :

> सुपद सुगीत न दोहरे, नहिं "नायक के तीर"।
> करुन-कराहन के कढ़े, कछु सन्ताप गम्भीर ॥[3]

यदि रचना-कौशल वाली कविताएँ करुन कराह या गम्भीर सन्ताप का थोड़ा भी स्पर्श पा जातीं तो उनमे वह आयास और छद्म न मिलता जिसके कारण वे

---

१. 'अशोक के फूल', पृ० १८८-८९।
२. 'नयी समीक्षा', पृ० १६७-६८।
३. 'करुण सतसई', पृ० १२।

"पोथे पोथे काव्य के" बन कर रह गयीं। यह सही है कि प्रचार मोह की वृत्ति दोनों तरह के कवियों में है। किन्तु दोनों के प्रचार में फर्क है। बौद्धिक सहानुभूति वाले प्रचार में यह कोशिश झलकती है कि कवि जनता और समय की वास्तविकता की अपनी पहचान और उसमें अपनी शिरकत जताना चाहता है। करुन-कराह वाले प्रचार में रीतिवादी संस्कारों से संघर्ष में जनता के बीच से उठने वाला स्वर सुनायी देता है। इस बुनियादी अन्तर के कारण ही यदि कण-कण में लाल परचम की विजय पढ़ने वाली भावदृष्टि अतिरंजित लगती है तो छैलबिहारी दीक्षित की ये पंक्तियाँ नारेबाजी के स्तर पर होकर भी प्रभावित करती हैं :

> देश के ओ मजदूर किसान, बहुत दिन सोये लम्बी तान।
> रहे नंगे भूखे अनजान, उठाये सदियों के अपमान ॥
> बढ़ो आने दो नयी हिलोर। चलो सब साम्यवाद की ओर ॥[1]

डॉ० रामविलास शर्मा ने "किसान कवि पढ़ीस" के बारे में लिखा था कि सोवियत जर्मन युद्ध के समय जब लोग जर्मनी की विजय में भारत की विजय देखते थे तब पढ़ीस उनसे कहते थे, "सोवियत रूस जीतेगा ही नहीं वरन उसकी जीत में ही हिन्दुस्तान और दुनिया की भलाई है। उनके इस विश्वास का कारण और कुछ नहीं, जनता में उनका प्रगाढ़ विश्वास है।"[2] जनता से आने वाले कवियों में कम-से-कम वास्तविकता की सही समझ तो मौजूद थी जो उनके क्रान्तिकारी जोश से जुड़ कर कविता को प्राणदान बना रही थी।

प्रगतिशील काव्य के अच्छे-बुरे सभी पहलुओं का अध्ययन करते समय यह तथ्य उभर कर आता है कि प्रगतिशील कविता के रचयिता समाज के किसी एक वर्ग से नहीं आये। उनमें किसान, मजदूर, मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी, सभी तबकों के लोग मौजूद थे। वैचारिक दृष्टि से सभी कवि मार्क्सवादी भी नहीं थे। भिन्न-भिन्न विचारों और संस्कारों के कवि एक तरफ अगर प्रगतिशील कविता की व्यापकता के प्रमाण हैं तो दूसरी तरफ उसके अनेक अन्तर्विरोधों और निन्दनीय प्रवृत्तियों के कारण भी हैं। जो कवि किसान-मजदूरों के वास्तविक जीवन से अपरिचित थे, उनमें संस्कारों और वैचारिक निष्कर्षों को आत्मसात् करने में असमर्थ थे उनमें सामाजिक अन्तर्विरोधों से मुक्ति की छटपटाहट अनियंत्रित रूप में व्यक्त हुई। यह अभिव्यक्ति कहीं काम-कुण्ठावादी प्रवृत्ति में प्रकट हुई तो कहीं महानाशवाद में, कहीं अतिरिक्त बौद्धिकता में तो कहीं निपट तत्कालवाद में। जीवन, साहित्य और

---

1. 'साम्यवाद की हुंकार', पृ० ११।
2. 'लोकयुद्ध', २८ फरवरी १९४५।

संस्कृति के बारे में सभी जनवादी कवियों की मार्क्सवादी समझ ठीक नहीं थी। वे "कथ्य के अनुरूप शिल्प" की सही अवधारणा को सृजनात्मक स्तर पर निभा नहीं सके। कथ्य और शिल्प की द्वंद्वात्मकता में कथ्य की महत्वपूर्ण भूमिका के सम्बन्ध में गलत व्यवहार के कारण प्रचार या इतिवृत्तात्मक विवरण की प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं।

इन दोनों ही प्रकार के अतिवादों ने प्रगतिशील कविता को अंततः अमूर्त बनाने का ही काम किया। प्रचारात्मकता और बौद्धिकता दोनों ही जीवन-यथार्थ से शून्यता को व्यक्त करते हैं, इसलिए दोनों ही अमूर्तता के लक्षण हैं। कला की मूर्तता वस्तु की मूर्तता से उत्पन्न होती है, इसलिए जीवन की वस्तु के बिना बिम्बों, प्रतीकों, मुहावरों आदि को मूर्तता मानना भाववाद है। अपरिचित जीवन-यथार्थ को "बौद्धिक सहानुभूति" के साथ व्यक्त करने वाली कला का अमूर्त होना स्वाभाविक है।

यह अभिप्राय नहीं कि रूप की मूर्तता का कोई अर्थ नहीं। इसकी मूर्तता का सम्बन्ध मुख्यतः इस बात से है कि कवि का अनुभूत जीवन-यथार्थ क्या है, उसकी रचना के सम्बोधित पाठक कौन हैं। भाषा अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण तथा कथ्य और शिल्प सभी की दृष्टियों से प्रमुख माध्यम है। इसलिए रूप सम्बन्धी चर्चा को सीमित करते हुए हम एक प्रश्न उठा सकते हैं कि जनता की अन्तर्वस्तु के साथ जनता की भाषा की माँग का तात्पर्य क्या है?

प्राथमिक बात यह है कि रचनाकार के सामने अमूर्त पाठक वर्ग नहीं, मूर्त पाठक समुदाय होता है जिसकी पहचान निस्सन्देह हाड़-माँस, चेहरे-मोहरे वाले व्यक्ति से बनती है। राजनीतिक मंचों से पढ़ी गयी कविताओं की बात छोड़ दें, तो कविता का पाठक सामान्यतः व्यक्ति होता है। यह पाठक-व्यक्ति कृति में अपनी अस्मिता को तलाशने का, कविता के सन्दर्भों और स्थितियों के बीच अपने को पहचानने का प्रयत्न करता है।

पाठक-व्यक्ति का यह प्रयत्न कविता की संश्लिष्ट इकाई में उस बिन्दु से आरम्भ होता है जिसे हम कथ्य और शिल्प का सन्तुलन-बिन्दु कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह कथ्य में परिचित जीवन-यथार्थ की माँग करते हुए भी शिल्प में 'कुछ विशेष' चाहता है। यह "विशेष" भाषा संरचना को सपाट इतिवृत्त होने से बचाता है। किन्तु पाठक इतनी 'विशेष' भाषा नहीं चाहता कि वह नितान्त वैयक्तिक या दुर्बोध हो जाय। वस्तुतः वह सहज भाषा में ही थोड़ी आलंकारिकता, अतिरंजना और वक्रता चाहता है। ऐसी कृतियों में पाठक खुद-ब-खुद रम जाता है जिनमें अभिव्यक्त जीवन-यथार्थ कुछ वक्रता या वैशिष्ट्य के साथ प्रस्तुत होता है।

कवि के लिये यह एक अत्यन्त जटिल चुनौती है कि वह कथ्य में अपने आत्मगत तत्वों को रूपांतरित कर दे और शिल्प से स्वयं को तटस्थ रखे। प्रगतिशील कवियों ने जहाँ इस चुनौती को ध्यान में नहीं रखा वहाँ उनकी वैयक्तिकता कविता पर भावात्मक रूप से हावी हो गई है। इससे कविता का वस्तुगत चरित्र तो बाधित हुआ ही है, इस विवेक को भी आघात पहुँचा है कि कविता एक-एक व्यक्ति के साधारण वस्तुओं को स्पर्श करती हुई, कारणों की संगति में उद्घाटित करती हुई, व्यक्ति की अस्मिता को सामाजिक सत्ता के मध्य एक-एक व्यक्ति की वैयक्तिक पहचान को रेखांकित करती हुई, अर्थात सामाजिक औचित्य और सन्दर्भ-जनता की निधि बनती है।

साहित्य के लिए जनता भीड़ नहीं होती। इसीलिए जिन कविताओं में चरित्र मौजूद होते हैं ( जैसे 'हरिजन गाथा' ) या प्रकटतः व्यक्ति मौजूद न होते हुए भी चरित्र के संकेत मौजूद होते हैं ( जैसे "बहुत दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास ...", 'अकाल और उसके बाद' : नागार्जुन ) वहाँ पाठक का कविता की भावधारा से तादात्म्य स्थापित हो जाता है। जहाँ चरित्र खड़े किये जाते हैं वहाँ भाषा सहित पूरा शिल्प अभिधात्मक ( अलंकार, वक्रता और अतिरंजना आदि से मुक्त ) रह कर भी प्रभावशाली बनता है। 'हरिजन-गाथा' की सफलता का यही रहस्य है। जहाँ कवि विवरणों के माध्यम से निजी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है वहाँ कविता कोरा भावास्फालन, नारा का प्रचार बन कर रह जाती है। 'मास्को अब भी दूर है' काफी हद तक इसीलिए असफल है।

इससे सिद्ध होता है कि कविता में "पर्सनल एलिमेन्ट" (निजीपन) का अनेक सूक्ष्म रूपों और स्तरों पर विद्यमान रहना अनिवार्य है।

# प्रगतिशील काव्य की द्वन्द्वात्मक भावभूमियां

हिन्दी साहित्य मे प्रगतिवाद के जन्म सम्बन्धी स्वीकृत मान्यता का खण्डन ते हुए डा० जनेश्वर वर्मा ने लिखा है : 'वास्तव मे प्रगतिवाद का जन्म छायावाद की मृत्यु के पश्चात नही वरन् उसके जन्म के साथ हुआ। रूस की समाजवादी क्रान्ति और भारतीय राष्ट्रीय जागरण के प्रभावस्वरूप सन् १९१८ से भारतीय जन जीवन मे जो आत्मविश्वास, वर्ग-चेतना, मानववाद और जन-जागृति की लहर आयी, प्रगतिवाद उसी की एक साहित्यिक अभिव्यक्ति है। अतः प्रगतिवाद का जन्म सन् १९१८ से मानना चाहिये और हिन्दी-काव्य के क्षेत्र मे गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' को उसका आदि प्रवर्तक मानना चाहिये।"[1]

## वैचारिक आधारभूमि

इसमे सन्देह नही कि डा० वर्मा ने रूस की क्रान्ति के जितने त्वरित और प्रत्यक्ष प्रभाव को प्रगतिवाद के जन्म का कारण मान लिया है उससे सामाजिक प्रक्रियाओं और साहित्य पर पड़ने वाले उनके जटिल प्रभाव के सम्बन्ध मे उनकी भ्रान्ति ही सिद्ध होती है। इसीलिये वह एक ओर छायावाद की प्रगतिशील अन्तर्धारा को अस्वीकार करने पर विवश होते हैं; दूसरी ओर तर्कसंगत ढंग से प्रगतिवाद के उदय के लिये उत्तरदायी भारतीय परिस्थितियों का सही मूल्यांकन नही कर पाते; और सनेही-मण्डल के उन कवियों को प्रगतिशील कविता का जनक बताते है जिन्होंने कुछ एक मार्क्सवादी सूत्रों को पकड़ कर प्रचारात्मक शैली की कविताएँ लिखी।

---

१. 'हिन्दी काव्य मे मार्क्सवादी चेतना', पृ० ३०५-६।

कवि के लिये यह एक अत्यन्त जटिल चुनौती है कि वह कथ्य मे अपने आत्मगत तत्वो को रूपांतरित कर दे और शिल्प से स्वयं को तटस्थ रखे। प्रगतिशील कवियो ने जहाँ इस चुनौती को ध्यान मे नही रखा वहाँ उनकी वैयक्तिता कविता पर अनावश्यक रूप मे हावी हो गई है। इससे कविता का वस्तुगत चरित्र तो बाधित हुआ ही है, इस विवेक को भी आघात पहुँचा है कि कविता एक-एक व्यक्ति के रागात्मक तन्तुओ को स्पर्श करती हुई, व्यक्ति की अस्मिता को सामाजिक सम्बन्धो की संगति मे उद्‌घाटित करती हुई, अर्थात सामाजिक औचित्य और सन्दर्भ-वत्ता के मध्य एक-एक व्यक्ति की वैयक्तिक पहचान को रेखांकित करती हुई ही जनता की निधि बनती है।

साहित्य के लिए जनता भीड नही होती। इसीलिए जिन कविताओं मे चरित्र मौजूद होते हैं ( जैसे 'हरिजन गाथा' ) या प्रकटतः व्यक्ति मौजूद न होते हुए भी चरित्र के सकेत मौजूद होते है ( जैसे "बहुत दिनो तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास ...", 'अकाल और उसके बाद' : नागार्जुन ) वहाँ पाठक का कविता की भावधारा से तादात्म्य स्थापित हो जाता है। जहाँ चरित्र खड़े किये जाते हैं वहाँ भाषा सहित पूरा शिल्प अभिधात्मक ( अलकार, वक्रता और अतिरंजना आदि से मुक्त ) रह कर भी प्रभावशाली बनता है। 'हरिजन-गाथा' की सफलता का यही रहस्य है। जहाँ कवि विवरणो के माध्यम मे निजी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है वहाँ कविता कोरा भावास्फालन, नारा का प्रचार बन कर रह जाती है। 'मास्को अब भी दूर है' काफी हद तक इसीलिए असफल है।

इससे सिद्ध होता है कि कविता मे "पर्सनल एलिमेन्ट" (निजीपन) का अनेक सूक्ष्म रूपो और स्तरो पर विद्यमान रहना अनिवार्य है।

---

# प्रगतिशील काव्य की द्वन्द्वात्मक भावभूमियां

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद के जन्म सम्बन्धी स्वीकृत मान्यता का खण्डन करते हुए डा० जनेश्वर वर्मा ने लिखा है : 'वास्तव में प्रगतिवाद का जन्म छायावाद की मृत्यु के पश्चात नहीं वरन् उसके जन्म के साथ हुआ। रूस की समाजवादी क्रान्ति और भारतीय राष्ट्रीय जागरण के प्रभावस्वरूप सन् १९१८ से भारतीय जन जीवन में जो आत्मविश्वास, वर्ग-चेतना, मानववाद और जन-जागृति की लहर आयी, प्रगतिवाद उसी की एक साहित्यिक अभिव्यक्ति है। अतः प्रगतिवाद का जन्म सन् १९१८ से मानना चाहिये और हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' को उसका आदि प्रवर्तक मानना चाहिये।"[1]

## वैचारिक आधारभूमि

इसमें सन्देह नहीं कि डा० वर्मा ने रूस की क्रान्ति के जितने त्वरित और प्रत्यक्ष प्रभाव को प्रगतिवाद के जन्म का कारण मान लिया है उससे सामाजिक प्रक्रियाओं और साहित्य पर पड़ने वाले उनके जटिल प्रभाव के सम्बन्ध में उनकी भ्रान्ति ही सिद्ध होती है। इसीलिये वह एक ओर छायावाद की प्रगतिशील अन्तर्धारा को अस्वीकार करने पर विवश होते हैं; दूसरी ओर वर्तमान रूप में प्रगतिवाद के उदय के लिये उत्तरदायी भारतीय परिस्थितियों का सही मूल्यांकन नहीं कर पाते; और सनेही-मण्डल के उन कवियों को प्रगतिशील कविता का जनक बताते हैं जिन्होंने कुछ एक मार्क्सवादी सूत्रों को पकड़ कर प्रचारात्मक शैली की कविताएं लिखी।

---

१. 'हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना', पृ० २०५-६।

किन्तु डा० वर्मा के वक्तव्य से यह अवश्य स्पष्ट होता है कि हिन्दी में प्रगतिशील कविता का जन्म राष्ट्रीय स्वाधीनता और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी विचारधारा के समन्वित प्रभाव से हुआ। साम्राज्यवादी शासन की लूट और दमन की नीतियाँ जनता पर सीधे चोट कर रही थीं। साम्राज्यवादी शासन से छुटकारा पाने के लिये जनता सक्रिय प्रतिरोध के लिए भी तैयार थी। १८५७ का गदर इसका उदाहरण था। जनता की यह चेतना भारतेन्दु-युग में बड़ी प्रखरता से साहित्य का विषय बन रही थी। इसीलिए केदारनाथ अग्रवाल मानते हैं कि "भारतेन्दु काल ही से आधुनिक हिन्दी कविता का भौतिकवादी, शोषण-विरोधी इतिहास आरम्भ होता है।"[१] जन-संघर्ष और साहित्य की इस पृष्ठभूमि में जब मार्क्सवाद का आलोक फैला तो बुद्धिजीवियों, कवियों का बहुत बड़ा समुदाय उसकी ओर आकृष्ट हुआ।

मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़ कर भारत की साम्राज्यवाद-विरोधी यथार्थवादी साहित्य-परम्परा का विकास समाजवादी यथार्थवाद की दिशा में हुआ और तब सुसंगत रूप से प्रगतिशील कविता की रचना आरम्भ हुई। इसलिए प्रगतिशील काव्य में मार्क्सवादी प्रभाव की केन्द्रीय भूमिका है। यह प्रभाव १९१७ की रूसी क्रान्ति के बाद खासतौर पर बढ़ा, यह सत्य है। कुछ कवियों ने १९१८ से ही इस दिशा में छिट-पुट प्रयास आरम्भ कर दिया था, यह भी सत्य है। किन्तु यह समझ असंगत है कि साल भर के भीतर ही यह प्रभाव हिन्दी साहित्य में आन्दोलन बन गया। हिन्दी ही नहीं हिन्दुस्तान के बुद्धिजीवियों ने पूर्णतः या अंशतः मार्क्सवाद को तभी स्वीकार किया जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि "मार्क्सवाद ही साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियों को उनके अन्तिम ध्येय तक पहुँचा सकता है।"[२] मार्क्सवाद के प्रति यह विश्वास स्वतः स्फूर्त तरीके से साल भर पैदा नहीं हो गया। इसके लिए महत्वपूर्ण आधारभूमि तैयार की जनता के साम्राज्य-विरोधी संघर्ष की सुदीर्घ परम्पराओं, कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन की ढुलमुल नीतियों की असफलताओं और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के संगठित प्रयत्नों ने।

## प्रगतिशील कविता : संक्षिप्त पृष्ठभूमि

यदि १९३० से ३६ तक की सामाजिक और साहित्यिक स्थितियों पर एक दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो सकता है कि जितने बड़े पैमाने पर मार्क्सवाद की स्वीकृति के लिए इस काल में जमीन तैयार हुई उतनी १९१८-२० के काल में नहीं हुई थी।

---

१. 'समय-समय पर', पृ० १३६।

२. 'कांग्रेस समाजवादी पार्टी की नीति', पृ० ३।

१९२९-३३ की विश्वव्यापी मंदी ने पूंजीवादी उत्पादन में भारी गिरावट आने और जनता की भयानक गरीबी और बेकारी के कारण बाजार संकुचित हो जाने से पूंजीवाद के लिए जीवन-मरण का संकट उत्पन्न हो गया था। फलतः एक ओर सन् ३४ में सर्वप्रथम जर्मनी में फासिज्म का उदय हुआ और दूसरी ओर जनता में व्यापक असंतोष और संघर्ष की भावना का विकास हुआ।

भारत में अंग्रेजी राज की छत्रछाया में पूंजीवाद का विकास हो रहा था। यह सही है कि सन् '५७ के गदर से सबक सीख कर सामन्तवाद को भी दृढ़ किया जा रहा था और पूंजीवाद का विकास भी, इसलिए यहाँ का पूंजीवाद अवरोधपूर्वक और अस्वाभाविक रूप से विकसित हो रहा था। कांग्रेस की ढुलमुल और समझौता-वादी नीतियां भारत के पूंजीवादी विकास की इसी वस्तुस्थिति का परिणाम थी। मंदी के दौर में व्यापक पैमाने पर हुई मजदूरों की छंटनी और वेतन-कटौती से कांग्रेसी नीतियों के प्रति मजदूर वर्ग का मोह भंग हुआ और पूंजीपतियों के प्रति मजदूरों की नाराजगी एक नयी मंजिल पर पहुँची। इसीलिए सन् '३४ में जब मन्दी का दौर समाप्त हुआ और पूंजीवादी उद्योग में नया उत्साह आया तब मजदूरों में वर्ग-चेतना की बढ़ती हुई भूमिका का प्रदर्शन '३४ में ही आयोजित "आल इण्डिया टेक्सटाइल वर्कर्स कान्फरेन्स" में हुआ।

मजदूरों में बढ़ती हुई वर्ग-चेतना से भारत के पूंजीपति ही नहीं, ब्रिटिश साम्राज्यवादी भी डरते थे। इसलिए १९३४ में ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी पर अंग्रेज सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद, भारतीय पूंजीपति वर्ग और मजदूर-किसानों के संयुक्त मोर्चे के त्रिकोणीय संघर्ष में गांधीजी की नीतियों से सबक सीख कर जिन कांग्रेसियों ने यह जान लिया कि साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष को निर्णायक मोड़ देने के लिए भारत के पूंजीपतियों को नहीं, मजदूर वर्ग की विचारधारा की आवश्यकता है, उन्होंने सन् '३४ में ही कांग्रेस के भीतर कांग्रेस समाजवादी पार्टी का गठन किया।

कम्युनिस्ट पार्टी पर कानूनी बंदिश लगने के बाद '३४ में ही उसके द्वारा प्रकाशित सभी पत्र-पत्रिकाएँ भी बन्द हो गईं। सन् '३६ में कांग्रेस समाजवादी पार्टी के नेताओं ने 'संघर्ष' का प्रकाशन आरम्भ किया। कम्युनिस्ट पार्टी के पत्र-पत्रिकाओं पर बंदिश वाले दिनों में 'संघर्ष' ने समाजवादी विचारधारा के प्रचार प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन का एक हिस्सा गांधी जी की नीतियों के विरोध में जन-जागरण और जन-आन्दोलन का मार्ग त्याग कर आतंकवाद को

रणनीति अपनाता था। उसकी समझ थी कि जन-आन्दोलनों का दबाव डालकर भारतीय पूँजीपतियों के लिये रिआयतें प्राप्त करने से कुछ नहीं हो सकता। लेकिन इनमें से अनेक लोगों ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद का गम्भीर अध्ययन-मनन किया और क्रान्तिकारी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जनता के जागरण का महत्व पहचाना। १३ मार्च १९३१ को फाँसी चढ़ने से पहले भगतसिंह ने अपने बयान में "इन्कलाब-जिन्दाबाद" का अर्थ समझाते हुए लिखा :

> क्रान्ति से हमारा अर्थ है—वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकना। इसके लिए राज्य-शक्ति पर अधिकार करना जरूरी है। अभी राज्यशक्ति एक विशेष सुविधाप्राप्त वर्ग के हाथों में है।[१]

अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ अपने संघर्ष को शोषण की व्यवस्था के विरुद्ध विश्वव्यापी संघर्ष की पृष्ठभूमि में देखते हुए भगतसिंह ने "परजीवी" और "श्रमजीवी" वर्गों के बुनियादी अन्तर पर प्रकाश डाला। परजीवी वर्गों के फरेब को उद्घाटित और श्रमजीवी वर्गों के व्यापक जागरण के महत्व को रेखांकित करते हुए उन्होंने घोषणा की कि "मार्क्सवाद और कम्युनिज्म का उद्देश्य अवश्य ही विजयी होगा।"[२]

साहित्य के क्षेत्र में सन् '३३ से '३५ के बीच समाज की वर्गीय-रचना, सोवियत क्रान्ति, समाजवादी अर्थतन्त्र, साम्यवाद के उच्च मानवीय, नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों, जाति, धर्म, सम्प्रदाय, नारी-मुक्ति और साहित्य-संस्कृति आदि का क्रान्तिकारी विचारधारा के सन्दर्भ में मूल्यांकन करते हुए जितने लेख प्रकाश में आये उतने पहले कभी नहीं आये थे। मुख्यतः दुर्गाप्रसाद शुक्ल, बालकृष्ण गुप्त, अख्तर रायपुरी, धुरन्धर शर्मा, क्रान्तिकुमार शर्मा, कमलाकांत उपाध्याय, 'सर्वहारा', छविनाथ, विष्णुदत्त शुक्ल, अम्बिका प्रसाद मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, शिवनारायण टंडन, प्रभुदयाल मेहरोत्रा, शरनभक्त, डा० सम्पूर्णानन्द, श्री प्रकाश, आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण, दामोदर सदन, सेठ गोविन्ददास आदि अनेक लेखक इस दौरान समाजवादी विचारधारा के प्रचार-प्रसार में अपना योगदान कर रहे थे। राहुल सांकृत्यायन की दो महत्वपूर्ण कृतियाँ "बाईसवीं सदी" (१९३१) और "साम्यवाद ही क्यों" (१९३५) इसी अवधि में प्रकाशित हुईं। इस

---

१. 'जनयुग', लखनऊ, ७ नवम्बर १९६९, पृ० २५।
२. उपर्युक्त।

पृष्ठभूमि मे सितम्बर, १६३६ मे प्रेमचन्द के ऐतिहासिक लेख "महाजनी सभ्यता" के प्रकाशन ने एक प्रकार से साहित्य के क्षेत्र मे मार्क्सवादी विचारधारा की विजय की घोषणा कर दी।

## प्रगतिशील लेखकसंघ की भूमिका

मार्क्सवाद के इस व्यापक प्रभाव मे हिन्दी-साहित्य मे प्रगतिशील कविता के लिए एक समर्थ और स्वाभाविक अभ्युदय का आधार निर्मित हुआ। प्रगतिशील कविता को एक सशक्त आन्दोलन का रूप दिया प्रगतिशील लेखक संघ ने।[१] इस सम्बन्ध मे भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी की भूमिका का महत्व बताते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है, "प्रगतिशील लेखक संघ की नीव डालना इसलिए जरूरी था कि संगत रूप से साम्राज्यवाद-विरोधी, सामन्त-विरोधी साहित्य की रचना की जा सके।...इस एतिहासिक आवश्यकता को हिन्दुस्तान के मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी ने पूरा किया।"[२] मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी की इस पहलकदमी का नतीजा यह हुआ कि हिन्दुस्तान का नया साहित्य पश्चिम के पतित पूँजीवादी साहित्य की नकल करने से बचा, भारतीय पूँजीपतियो का पिछलगू न बन कर मजदूर-किसान मे जुड़ा, अतीतपन्थी-रूढिवादी सस्कृति से संघर्ष करता हुआ मार्क्सवाद के नजदीक आया।[३] जो लोग इस ऐतिहासिक दृश्यफलक को आंखो मे ओझल कर देते हैं वे द्विवेदीयुगीन साहित्य की एक धारा से छायावाद का और दूसरी धारा से प्रगतिवाद का उद्भव[४] मानते हैं।

## छायावाद : सामन्तवाद और साम्राज्यवाद विरोधी काव्य-चेतना

यह सही है कि छायावाद के समानान्तर एक दूसरी काव्यधारा भी अप्रतिहत रूप से प्रवाहित हो रही थी। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और उनके मण्डल के दूसरे कवि इस धारा के प्रतिनिधि थे। उनकी काव्य-चेतना पर मार्क्सवादी दर्शन की छाप अत्यन्त स्पष्ट थी। लेकिन इतने से यह साबित नही हो जाता कि छायावाद मे यथार्थवाद और प्रगतिशील अन्तर्वस्तु का सर्वथा अभाव है। डा० नामवर सिंह ने "छायावाद" का विस्तृत विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि छायावाद

---

१. 'हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास', पृ० २०७।
२. 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' पृ० १३७।
३. उपर्युक्त, पृ० १३७-३८।
४. 'हिन्दी काव्य मे मार्क्सवादी-चेतना' पृ० २३३।

युग की पूरी मनोभूमि सामन्ती बन्धनों से व्यक्ति की स्वतन्त्रता और विदेशी शासन से देश एवं जनता की स्वतन्त्रता की भावना के जटिल द्वंद्व से निर्मित और विकसित हुई है।[1] डा० रामविलास शर्मा ने इतिहास की व्यापक दृश्य-परिधि पर तथ्यों का गम्भीर अनुशीलन करते हुए न केवल छायावाद के अन्तर्विरोधों और उनके वस्तुगत कारणों को अत्यन्त प्रखरता से उजागर किया है बल्कि उसके यथार्थवादी, साम्राज्य-वाद-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी पक्षों को बलपूर्वक रेखांकित भी किया है। हिन्दी के जातीय साहित्य के सन्दर्भ में छायावाद का महत्व रेखांकित करते हुए लिखा है कि " तुलसीदास और सूरदास के युग के बाद प्रसाद-निराला-पन्त का युग सबसे रचनात्मक, सबसे प्रगतिशील युग है।"[2]

यदि रामविलास और नामवर के अध्ययन की पृष्ठभूमि में देखें तो स्पष्ट होगा कि छायावाद-युग का व्यक्तिवाद सामन्तवाद-विरोधी मुक्ति-भावना का परिणाम था तो उसका अतीत प्रेम और राष्ट्रवाद विदेशी साम्राज्य के राजनीतिक प्रभुत्व और सांस्कृतिक प्रत्याक्रमण की प्रतिक्रिया था। इसी प्रकार, उसके प्रकृति-प्रेम का स्वरूप भी एक तरफ सामन्तवाद-विरोधी है तो दूसरी ओर साम्राज्यवाद-विरोधी---औद्योगिक विकास ने प्रकृति के जिस विराट् रूप का उद्घाटन किया वह कवियों की कल्पना से जुड़ कर संकीर्ण सामन्ती नैतिकताओं से बचने का माध्यम बना; दूसरी ओर भारत का औद्योगिक विकास अंग्रेजों की छत्रछाया में हो रहा था, इससे छायावादी कवि क्षुब्ध था, इसलिए तज कोलाहल की अवनी प्रकृति में उसका पलायन वस्तुतः साम्राज्य-विरोधी निषेधात्मक प्रतिक्रिया का ही एक रूप था।

यह सही है कि छायावाद का दृष्टिकोण बहुधा निषेधात्मक ही है, लेकिन इससे उसके साहित्य की प्रगतिशील अन्तर्वस्तु का निषेध नहीं हो जाता। प्रसाद, निराला, पन्त आदि प्रमुख छायावादी कवियों ने निषेधात्मक ढंग से ही नहीं, सकारात्मक ढंग से भी अपनी कविताओं में उन मूल्यों को व्यक्त किया है जिन्हें यथार्थ-वादी दृष्टि से प्रगतिशील माना जायेगा। अक्सर निराला और पन्त के प्रगतिशील मूल्यों को स्वीकार करते हुए भी प्रसाद को अलग रखा जाता है। उनके कृतित्व में मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रगतिशील समझे जाने वाले मूल्यों का अभाव समझा जाता है। शुक्लजी ने "कामायनी" में साम्यवाद की दबी हुई गूँज सुनी तो क्या यह

---

१. 'छायावाद', पृ० १७, २८, ५०-५१, ७०-७१, १४०-४१ इत्यादि।
२. 'निराला की साहित्य-साधना' (भाग-२), पृ० ४७१।

आकस्मिक था ? डा० रामविलास शर्मा ने साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में जनता के आन्दोलन की पृष्ठभूमि में प्रसाद-साहित्य का मूल्यांकन करते हुए "कामायनी" में दार्शनिक और सामाजिक चिन्तन सीमाओं के बावजूद मार्क्सवादी दृष्टि से उसके प्रगतिशील पक्ष को इस प्रकार रेखांकित किया है :

> गांधीवाद जहाँ जनता के क्रान्तिकारी उभार को दबाकर वर्ग-शान्ति और समझौते की राह पर चलना है, वहाँ प्रसाद जी वर्ग शान्ति के बदले वर्गहीन समाज का आदर्श सामने रखते हैं। गांधीवाद जहाँ प्राचीन भारतीय समाज में वर्ग-संघर्ष अस्वीकार करता है, वहाँ प्रसादजी ने राजा और प्रजा के रक्तमय संघर्ष का चित्र खींच कर उसे स्वीकार किया है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि गांधीवाद जहाँ निष्क्रिय प्रतिरोध की बात करता है, वहाँ प्रसाद जी ने सक्रिय प्रतिरोध का आदर्श रखा है, शस्त्र उठा कर आततायियों का विरोध करने का चित्र खींचा है।[1]

डा० शर्मा की इस व्याख्या से न केवल छायावाद के भीतर व्यक्तिवाद की सीमाओं को तोड़ कर नयी सामाजिक भूमिका की ओर बढ़ने वाली अन्तर्धारा का पता चलता है, बल्कि इस बात का भी पता चलता है कि साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में दो परस्पर विरोधी नीतियों का टकराव भी हो रहा था। इस टकराव का कारण वस्तुगत था,। गांधी जी के प्रभाव में कांग्रेस आजादी की पक्षधर शक्तियों का संगठन थी, लेकिन उसके पीछे संगठित सभी शक्तियाँ क्रान्ति की पक्षधर नहीं थीं। कांग्रेस का नेतृत्व क्रान्तिकारी शक्तियों के हाथ में न होकर पूंजीपति वर्ग के हाथ में था जिसका संघर्ष एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद से था तो दूसरी ओर साधारण जनता से था। गांधीवाद क्रान्तिकारी शक्तियों की नहीं, पूंजीवादी शक्तियों की विचारधारा थी, गांधी जी जन-आन्दोलन का दबाव डाल कर पूंजीपतियों के लिए रियायतें हासिल करते थे और उनके हित के लिए, जनता के हितों के विरुद्ध, उसकी क्रान्तिकारी चेतना एवं संघर्ष को दबाने के लिए अंग्रेजों से समझौता करते थे। इसीलिए जब भारत आजाद हुआ तब भी वह ब्रिटिश साम्राज्य का 'डोमीनियन' राज्य बना रहा। इस जटिल द्वन्द्वात्मक परिस्थिति में स्वच्छन्द व्यक्तिवाद पर आधारित रोमांटिक दृष्टि की सीमाएँ उद्घाटित हुई और छायावाद के भीतर से एक नया यथार्थवाद विकसित हुआ जिसने ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुरूप

---

१. 'लोकजीवन और जीवन साहित्य', पृ० ४५।

अपनी व्यक्तिपरक चेतना को समाज के साथ जोड़ कर सकारात्मक सामाजिक अन्तर्वस्तु से गर्भित क्रान्तिकारी रोमांटिसिज्म को जन्म दिया। यही कारण है कि प्रमुख छायावादी कवियों में स्वच्छन्द व्यक्तिवाद के साथ-साथ गम्भीर यथार्थवाद के भी दर्शन होते हैं।

जिन प्रगतिशील लेखकों ने इन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को ठीक-ठीक नहीं समझा उन्होंने मार्क्सवाद और समाजवादी यथार्थवाद को ही प्रगतिशील कविता का निकष बनाया, क्रान्तिकारी रोमांटिसिज्म की प्रगतिशील भूमिका को देखने और मानने से इन्कार किया और छायावाद के विरुद्ध सनेही-मंडल के कवियों को प्रगतिशील काव्य धारा का एकमात्र भगीरथ बताया। यह विचार-वैभिन्य प्रगतिशील कविता के मूल्य-निर्णय की कसौटी और परम्परा के सवाल पर उसके दृष्टिकोण को लेकर अपनायी गयी दो भिन्न दृष्टियों के संघर्ष का परिणाम है।

### सनेही-मंडल का काव्य

### कला की ऐतिहासिक सीमाएँ

यह सच है कि छायावादी कवियों में समाजवादी यथार्थवाद के दर्शन नहीं होते। उनमें न तो 'सनेही' जैसी 'गरीबों की गुहार' है और न छैलबिहारी दीक्षित 'कण्टक' जैसी 'साम्यवाद की हुंकार' ही है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या 'गुहार' और 'हुंकार' को ही हम मार्क्सवाद, समाजवादी यथार्थवाद या प्रगतिवाद मानते हैं? सनेही-मंडल के कवियों के दृष्टिकोण में अतिरंजित भावुकता और कला में आत्यन्तिक प्रचारमोह का कारण क्या था?

सन् '१८ के जमाने में भारत में समाजवादी आन्दोलन संगठित नहीं हुआ था। सोवियत संघ में भी समाजवाद विकसित नहीं हो सका था। दोनों चीजें भविष्य के गर्भ में थीं। फलत: भारतीय कवियों के लिए समाजवादी यथार्थवाद वास्तविकता कम, कल्पना अधिक था। मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर कविता लिखने वाले कवियों के सामने यह सबसे गम्भीर सीमा या समस्या थी। इसीलिए वे पूंजीवाद और सामन्तवाद की कड़ी भर्त्सना करते थे और सर्वहारा राज्य की प्रशस्ति के गीत गाते थे, आदिम सामुदायिक व्यवस्था को ही साम्यवाद का आरम्भिक रूप मान कर समाजवाद की परिकल्पना करते थे। स्वभावत: उनमें वैचारिक संघर्ष तो था किन्तु स्वर में पस्ती और उम्मीद का विचित्र मिश्रण होता था। उनका व्यावहारिक अनुभव कहता था कि शोषित दीन-हीन-पराजित अवस्था में पड़े हैं, उन्हें वर्ग-संघर्ष की चेतना नहीं, मानवतावाद की जरूरत है, और विचारधारा कहती

थी कि उनकी विजय अवश्यम्भावी है इसलिए वे उसकी शक्ति मे विश्वास की घोषणा करते थे।

भावात्मक स्तर पर यथार्थ से तीव्र असंतोष, व्यावहारिक स्तर पर जनता की दीनता, निरीहता का अनुभव और सैद्धान्तिक स्तर पर उसकी शक्ति एव विजय में विश्वास इन विरोधात्मक प्रक्रियाओ के कारण उनकी आस्था बौद्धिक और सहानुभूति भावुकतापूर्ण होती थी। इस स्थिति मे उनके स्वर का अनियन्त्रित भावोच्छ्वास मात्रा की दृष्टि से यदि छायावादी कवियो से कम नही था तो यह स्वाभाविक था। इसी कारण उनके भावबोध और सजग विचारधारा मे एक प्रकार का द्वैत या विभाजन उत्पन्न हो गया। इसलिए उस युग की कविताओ का कलात्मक मूल्य उतना नही है जितना उनका ऐतिहासिक मूल्य है।

**प्रगतिशील साहित्य : ऐतिहासिक अनिवार्यता**

सन् १६३६ तक आते-आते भारत का समाजवादी आन्दोलन काफी मजबूत हो चुका था और सोवियत सघ की समाजवादी व्यवस्था का स्वरूप भी निखरने लगा था। इसलिए जब प्रगतिशील लेखक सघ की स्थापना के बाद पहले के सीमित और बिखरे हुए प्रयत्नों को संगठित करके सगत रूप मे प्रगतिशील साहित्य की रचना शुरू हुई तो वह एक व्यापक आन्दोलन बन कर साहित्य के मंच पर छा गया। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने हिन्दी साहित्य मे कम्युनिस्ट पार्टी के साहित्यिक मन्च, प्रगतिशील लेखक संघ के अथक प्रयत्नो की आलोचना करते हुए बताया कि इन्ही प्रयत्नो के कारण हिन्दी के साहित्यकारो के लिए यह आवश्यक हुआ कि वे स्वय को प्रमाणित और प्रतिष्ठित करने के लिए किसी न किसी रूप मे प्रगतिशील लेखक संघ से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लें।[1] हिन्दी साहित्य मे पुरानी विचारधाराओ की अपेक्षा समाजवादी विचार-क्षेत्र मे निहित सृजन की सम्भावनाओ का उल्लेख करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा :

> "आज हिन्दी मे श्रेष्ठ साहित्य के सृजन क कौन से क्षेत्र है ? निश्चय ही समाजवादी विचारों के क्षेत्र। क्यों ? क्योंकि उन्ही क्षेत्रो ने इस समय की नवीन प्रतिभा को आकर्षित कर रखा है।[2]

---

१ 'कल्पना', जून १६६७, (हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्ष)
२. 'हिन्दी साहित्य', पृ० ३८६,

## प्रगतिशील कविता का यथार्थवाद

सक्रियता और संघर्ष के उस सघन दौर में प्रगतिशील साहित्य का इतना व्यापक प्रसार आकस्मिक नहीं था। अज्ञेय तक ने स्वीकार किया है कि आरम्भ में प्रगतिशील लेखक संघ में विभिन्न प्रवृत्तियों के लोग थे।[1] उसमें मार्क्सवादियों के अलावा गांधीवादी, अधुनिकतावादी, अन्तश्चेतनावादी, काल्पनिक समाजवादी आदि तरह-तरह के भाववादी-व्यक्तिवादी चेतना के रचनाकार भी शामिल थे। इसके दो मूलभूत कारण थे। एक तो, इतिहास का ऐसा दबाव था जिसने सभी प्रवृत्तियों और रूझानों के कवियों को समाजोन्मुख साहित्य की रचना के लिए प्रेरित किया। दूसरे, प्रगतिशील साहित्य ने सौंदर्य-मूल्यों के क्षेत्र में जिस नये मानववाद की प्रतिष्ठा की वह मनुष्य के सजग और सकर्मक दायित्व-बोध को सबसे बड़ा मूल्य मानने वाले समाजवादी यथार्थवाद का परिणाम था।

इस विवेचन से जहाँ एक ओर यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य का सृजन मार्क्सवाद के प्रभाव के आने के बाद आरम्भ हुआ वहीं दूसरी ओर यह भी प्रकट होता है कि सभी प्रगतिशील कवि मार्क्सवादी नहीं थे। डॉ० नामवर सिंह ने मार्क्सवाद की स्वीकृति का विवेचन करते हुए लिखा है कि"... हिन्दी के लेखकों ने बाहर के मार्क्सवादी प्रभाव को अपने व्यक्तिवादी और भाववादी संस्कारों की सीमा में ही स्वीकार किया।"[2] फलतः प्रगतिशील कविता में तरह-तरह की प्रवृत्तियों के संस्कार व्यक्त हुए। स्वभावतः गैर-मार्क्सवादियों ने समाजवादी यथार्थवाद को नहीं, यथार्थवाद के अन्य रूपों को अभिव्यक्त किया। प्रगतिशील साहित्य के विकास के लिए समाजवादी यथार्थवाद और यथार्थवाद के दूसरे रूपों की प्रतिस्पर्धा आवश्यक थी। निस्सन्देह यह प्रतिस्पर्धा स्वस्थ ढंग से तभी सम्भव थी जब मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी कवि संगठित रूप में साहित्य सृजन करें। जातीय संस्कृति के विकास में इस प्रकार की एकता का महत्व बताते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है :

> इस (प्रगतिशील) आन्दोलन की सबसे बड़ी समस्या मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों और अन्य राष्ट्रीय और जनवादी लेखकों की एकता की समस्या रही है। प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है; यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है। मार्क्सवाद से

---

१. 'अधुनिक हिन्दी साहित्य', पृ० ३२

२. 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', पृ० ८२

> प्रभावित साहित्य एक ओर, और मार्क्सवाद से अप्रभावित—उससे भिन्न विचारधारा से प्रभावित, राष्ट्रीय और जनवादी साहित्य दूसरी ओर—दोनों ही तरह के साहित्य और साहित्यकारों की एकता हमारी संस्कृति और समाज के लिए आवश्यक थी।[1]

**प्रगतिशील कविता : मूल्य-निर्णय की दृष्टियाँ**

वैचारिक संस्कारों में विरोध है, फिर एकता किस आधार पर हो? स्वभावतः, प्रगतिशील साहित्य और उसके मूल्य-निर्णय की कसौटी क्या हो, यह मुख्य प्रश्न हो गया। गैर-प्रगतिशीलों और गैर-मार्क्सवादी प्रगतिशीलों में ही नहीं, मार्क्सवाद-प्रभावित प्रगतिशीलों में भी इस प्रश्न पर काफी मतभेद था। इस मतभेद का सम्बन्ध भी अधिक से अधिक राष्ट्रवादी और जनवादी कवियों को प्रगतिशील साहित्य के दायरे में सम्मिलित करने के सवाल से था। चूँकि प्रगतिशीलता के मूल्य निर्णय की कसौटी तय करने का सवाल साधारण सवाल न था इसलिए इस सम्बन्ध में विवाद भी बहुत समय तक चला। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह विवाद सर्वथा नये रूप में प्रकट हुआ। आज भी कुछ लोगों में इस विवाद की प्रतिध्वनियाँ गूँजती हैं। यहाँ हम इस विवाद का अध्ययन क्रमिक विकास के आधार पर नहीं, इस सम्बन्ध में प्रगतिशील लेखकों द्वारा अपनायी गयी दृष्टि के आधार पर करेंगे।

**डॉ० रांगेय राघव : प्रगतिशीलता बनाम मानवतावाद**

कुछ मार्क्सवादी लेखकों की समझ से जब तक साहित्य में मार्क्सवादी दृष्टिकोण, खास कर वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा नहीं होती तब तक वह प्रगतिशील नहीं हो सकता। पुराने मानवतावाद से आधुनिक प्रगतिशीलता का अन्तर समझाते हुए डॉ० रांगेय राघव ने लिखा है :

> प्रगतिशील साहित्य हिन्दी साहित्य की मानवतावादी विचारधारा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नयी परिस्थितियों में विकास है। अभी तक समाज में मानवतावाद वर्गों के समन्वयवाद में समाप्त हो जाता था।[2]

प्रगतिशीलता की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा :

> ...हम जिसे प्रगतिशीलता कहते हैं वह सामाजिक तथा राजनीतिक

---

१. 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', पृ० १४१।
२. 'प्रगतिशील साहित्य के मानदंड', पृ० १८।

## प्रगतिशील कविता का यथार्थवाद

सक्रियता और संघर्ष के उस सघन दौर में प्रगतिशील साहित्य का इतना व्यापक प्रसार आकस्मिक नहीं था। अज्ञेय तक ने स्वीकार किया है कि आरम्भ में प्रगतिशील लेखक संघ में विभिन्न प्रवृत्तियों के लोग थे।[1] उसमें मार्क्सवादियों के अलावा गांधीवादी, आधुनिकतावादी, अन्तश्चेतनावादी, काल्पनिक समाजवादी आदि तरह-तरह के भाववादी-व्यक्तिवादी चेतना के रचनाकार भी शामिल थे। इसके दो मूलभूत कारण थे। एक तो, इतिहास का ऐसा दबाव था जिसने सभी प्रवृत्तियों और रुझानों के कवियों को समाजोन्मुख साहित्य की रचना के लिए प्रेरित किया। दूसरे, प्रगतिशील साहित्य ने सौंदर्य-मूल्यों के क्षेत्र में जिस नये मानववाद की प्रतिष्ठा की वह मनुष्य के सजग और सकर्मक दायित्व-बोध को सबसे बड़ा मूल्य मानने वाले समाजवादी यथार्थवाद का परिणाम था।

इस विवेचन से जहाँ एक ओर यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य का सृजन मार्क्सवाद के प्रभाव के आने के बाद आरम्भ हुआ वहीं दूसरी ओर यह भी प्रकट होता है कि सभी प्रगतिशील कवि मार्क्सवादी नहीं थे। डॉ० नामवर सिंह ने मार्क्सवाद की स्वीकृति का विवेचन करते हुए लिखा है कि "... हिन्दी के लेखकों ने बाहर के मार्क्सवादी प्रभाव को अपने व्यक्तिवादी और भाववादी संस्कारों की सीमा में ही स्वीकार किया।"[2] फलतः प्रगतिशील कविता में तरह-तरह की प्रवृत्तियों के संस्कार व्यक्त हुए। स्वभावतः गैर-मार्क्सवादियों ने समाजवादी यथार्थवाद को नहीं, यथार्थवाद के अन्य रूपों को अभिव्यक्त किया। प्रगतिशील साहित्य के विकास के लिए समाजवादी यथार्थवाद और यथार्थवाद के दूसरे रूपों की प्रतिस्पर्धा आवश्यक थी। निस्सन्देह यह प्रतिस्पर्धा स्वस्थ ढंग से तभी सम्भव थी जब मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी कवि संगठित रूप में साहित्य सृजन करें। जातीय संस्कृति के विकास में इस प्रकार की एकता का महत्व बताते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है :

> इस (प्रगतिशील) आन्दोलन की सबसे बड़ी समस्या मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों और अन्य राष्ट्रीय और जनवादी लेखकों की एकता की समस्या रही है। प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है; यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है। मार्क्सवाद से

१. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृ० ३२
२. 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', पृ० ८२

> प्रभावित साहित्य एक ओर, और मार्क्सवाद से अप्रभावित—उससे भिन्न विचारधारा से प्रभावित, राष्ट्रीय और जनवादी साहित्य दूसरी ओर—दोनों ही तरह के साहित्य और साहित्यकारों की एकता हमारी संस्कृति और समाज के लिए आवश्यक थी।[1]

**प्रगतिशील कविता : मूल्य-निर्णय की दृष्टियां**

वैचारिक संस्कारों में विरोध है, फिर एकता किस आधार पर हो? स्वभावतः, प्रगतिशील साहित्य और उसके मूल्य-निर्णय की कसौटी क्या हो, यह मुख्य प्रश्न हो गया। गैर-प्रगतिशीलों और गैर-मार्क्सवादी प्रगतिशीलों में ही नहीं, मार्क्सवाद-प्रभावित प्रगतिशीलों में भी इस प्रश्न पर काफी मतभेद था। इस मतभेद का सम्बन्ध भी अधिक से अधिक राष्ट्रवादी और जनवादी कवियों को प्रगतिशील साहित्य के दायरे में सम्मिलित करने के सवाल से था। चूंकि प्रगतिशीलता के मूल्य निर्णय की कसौटी तय करने का सवाल साधारण सवाल न था इसलिए इस सम्बन्ध में विवाद भी बहुत समय तक चला। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह विवाद सर्वथा नये रूप में प्रकट हुआ। आज भी कुछ लोगों में इस विवाद की प्रतिध्वनियां गूंजती हैं। यहां हम इस विवाद का अध्ययन क्रमिक विकास के आधार पर नहीं, इस सम्बन्ध में प्रगतिशील लेखकों द्वारा अपनायी गयी दृष्टि के आधार पर करेंगे।

**डॉ० रांगेय राघव : प्रगतिशीलता बनाम मानवतावाद**

कुछ मार्क्सवादी लेखकों की समझ से जब तक साहित्य में मार्क्सवादी दृष्टिकोण, खास कर वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा नहीं होती तब तक वह प्रगतिशील नहीं हो सकता। पुराने मानवतावाद से आधुनिक प्रगतिशीलता का अन्तर समझाते हुए डॉ० रांगेय राघव ने लिखा है :

> प्रगतिशील साहित्य हिन्दी साहित्य की मानवतावादी विचारधारा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नयी परिस्थितियों में विकास है। अभी तक समाज में मानवतावाद वर्गों के समन्वयवाद में समाप्त हो जाता था।[2]

प्रगतिशीलता की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा :

> ...हम जिसे प्रगतिशीलता कहते हैं वह सामाजिक तथा राजनीतिक

---

१. 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं', पृ० १४१।

२. 'प्रगतिशील साहित्य के मानदंड', पृ० १८।

## प्रगतिशील कविता का यथार्थवाद

सक्रियता और संघर्ष के उस सघन दौर में प्रगतिशील साहित्य का इतना व्यापक प्रसार आकस्मिक नहीं था। अज्ञेय तक ने स्वीकार किया है कि आरम्भ में प्रगतिशील लेखक संघ में विभिन्न प्रवृत्तियों के लोग थे।[१] उसमें मार्क्सवादियों के अलावा गांधीवादी, आधुनिकतावादी, अन्तश्चेतनावादी, काल्पनिक समाजवादी आदि तरह-तरह के भाववादी-व्यक्तिवादी चेतना के रचनाकार भी शामिल थे। इसके दो मूलभूत कारण थे। एक तो, इतिहास का ऐसा दबाव था जिसने सभी प्रवृत्तियों और रुझानों के कवियों को समाजोन्मुख साहित्य की रचना के लिए प्रेरित किया। दूसरे, प्रगतिशील साहित्य ने सौंदर्य-मूल्यों के क्षेत्र में जिस नये मानववाद की प्रतिष्ठा की वह मनुष्य के सजग और सकर्मक दायित्व-बोध को सबसे बड़ा मूल्य मानने वाले समाजवादी यथार्थवाद का परिणाम था।

इस विवेचन से जहाँ एक ओर यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य का सृजन मार्क्सवाद के प्रभाव के आने के बाद आरम्भ हुआ वहीं दूसरी ओर यह भी प्रकट होता है कि सभी प्रगतिशील कवि मार्क्सवादी नहीं थे। डॉ० नामवर सिंह ने मार्क्सवाद की स्वीकृति का विवेचन करते हुए लिखा है कि "... हिन्दी के लेखकों ने बाहर के मार्क्सवादी प्रभाव को अपने व्यक्तिवादी और भाववादी संस्कारों की सीमा में ही स्वीकार किया।"[२] फलतः प्रगतिशील कविता में तरह-तरह की प्रवृत्तियों के संस्कार व्यक्त हुए। स्वभावतः गैर-मार्क्सवादियों ने समाजवादी यथार्थवाद को नहीं, यथार्थवाद के अन्य रूपों को अभिव्यक्त किया। प्रगतिशील साहित्य के विकास के लिए समाजवादी यथार्थवाद और यथार्थवाद के दूसरे रूपों की प्रतिस्पर्धा आवश्यक थी। निस्सन्देह यह प्रतिस्पर्धा स्वस्थ ढंग से तभी सम्भव थी जब मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी कवि संगठित रूप में साहित्य सृजन करें। जातीय संस्कृति के विकास में इस प्रकार की एकता का महत्व बताते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है :

> इस (प्रगतिशील) आन्दोलन की सबसे बड़ी समस्या मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों और अन्य राष्ट्रीय और जनवादी लेखकों की एकता की समस्या रही है। प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है; यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है। मार्क्सवाद से

१. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृ० ३२
२. 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', पृ० ८२

प्रभावित साहित्य एक ओर, और मार्क्सवाद से अप्रभावित—उससे भिन्न विचारधारा से प्रभावित, राष्ट्रीय और जनवादी साहित्य दूसरी ओर—दोनों ही तरह के साहित्य और साहित्यकारों की एकता हमारी संस्कृति और समाज के लिए आवश्यक थी।[१]

**प्रगतिशील कविता : मूल्य-निर्णय की दृष्टियां**

वैचारिक संस्कारों में विरोध है, फिर एकता किस आधार पर हो? स्वभावतः, प्रगतिशील साहित्य और उसके मूल्य-निर्णय की कसौटी क्या हो, यह मुख्य प्रश्न हो गया। गैर-प्रगतिशीलों और गैर-मार्क्सवादी प्रगतिशीलों में ही नहीं, मार्क्सवाद-प्रभावित प्रगतिशीलों में भी इस प्रश्न पर काफी मतभेद था। इस मतभेद का सम्बन्ध भी अधिक से अधिक राष्ट्रवादी और जनवादी कवियों को प्रगतिशील साहित्य के दायरे में सम्मिलित करने के सवाल से था। चूंकि प्रगतिशीलता के मूल्य निर्णय की कसौटी तय करने का सवाल साधारण सवाल न था इसलिए इस सम्बन्ध में विवाद भी बहुत समय तक चला। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह विवाद सर्वथा नये रूप में प्रकट हुआ। आज भी कुछ लोगों में इस विवाद की प्रतिध्वनियाँ गूंजती हैं। यहाँ हम इस विवाद का अध्ययन क्रमिक विकास के आधार पर नहीं, इस सम्बन्ध में प्रगतिशील लेखकों द्वारा अपनायी गयी दृष्टि के आधार पर करेंगे।

**डॉ० रांगेय राघव : प्रगतिशीलता बनाम मानवतावाद**

कुछ मार्क्सवादी लेखकों की समझ से जब तक साहित्य में मार्क्सवादी दृष्टिकोण, खास कर वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा नहीं होती तब तक वह प्रगतिशील नहीं हो सकता। पुराने मानवतावाद से अधुनिक प्रगतिशीलता का अन्तर समझाते हुए डॉ० रांगेय राघव ने लिखा है :

> प्रगतिशील साहित्य हिन्दी साहित्य की मानवतावादी विचारधारा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण में नयी परिस्थितियों में विकास है। अभी तक समाज में मानवतावाद वर्गों के समन्वयवाद में समाप्त हो जाता था।[२]

प्रगतिशीलता की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा :

> .. हम जिसे प्रगतिशीलता कहते हैं वह सामाजिक तथा राजनीतिक

---

१. 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं', पृ० १८१।
२. 'प्रगतिशील साहित्य के मानदंड', पृ० १८।

विश्लेषण पर स्थित है—इस नयी भावना का जन्म कार्ल मार्क्स से हुआ जिसने वर्ग-संघर्ष की वैज्ञानिक जानकारी प्रस्तुत की।[1]

स्पष्ट है कि पुराने मानवतावाद और आधुनिक प्रगतिशीलता की आधार-भूमियों में यह अन्तर सामाजिक विकास के परिणामस्वरूप घटित हुआ है। इसलिए डॉ॰ राघव नयी प्रगतिशीलता को पुराने मानवतावाद का 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नयी परिस्थितियों में विकास' कहते हैं। वे परोक्षतः यह स्वीकार करते हैं कि वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त समन्वयवाद का ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नयी परिस्थितियों में विकास है। प्रगतिशील साहित्य हिन्दी साहित्य की मानवतावादी परम्परा का अभिन्न अंग, उसी का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नयी परिस्थितियों में विकास है। किन्तु अचरज तब होता है जब हम देखते हैं कि डॉ॰ राघव प्रगतिशीलता और मानवतावाद में द्वैत की कल्पना करते हैं और समझते हैं कि वर्ग-संघर्ष की वैज्ञानिक समझ में ढलकर मानवतावाद सुरक्षित नहीं रह पाता क्योंकि उसका आधार वर्ग-संघर्ष नहीं, समन्वयवाद है : "भारतीय चिंतन का समन्वयवादी दृष्टिकोण मूलतः मानवतावादी रहा है और इसलिए उसने उग्रताओं के कोने सदैव ही घिसे हैं।"[2] स्पष्ट है कि डॉ॰ राघव मानवतावाद और प्रगतिशीलता में बुनियादी अन्तर मानते हैं क्योंकि मानवतावाद का मूल दृष्टिकोण है समन्वयवाद का और प्रगतिशीलता का मूल दृष्टिकोण है वर्ग-संघर्ष का। डॉ॰ राघव की इस तर्क-पद्धति में अन्तर्विरोध यह है कि वे एक ओर प्रगतिशीलता को मानवतावादी विचारधारा का विकास कह कर स्वस्थ ऐतिहासिक दृष्टि का परिचय देते हैं और दूसरी ओर समन्वयवाद को मानतावाद का मूल आधार कह कर प्रगतिशील साहित्य की मानवतावादी सम्भावना को अस्वीकार करते हैं।

इस अन्तर्विरोध का कारण है मार्क्सवाद सम्बन्धी गहरी भ्रांति। डॉ॰ राघव मार्क्सवाद को वर्ग-संघर्ष का पर्याय मान कर चलते हैं। वर्ग-संघर्ष प्रत्येक समाज में होता है, यह सच है। अब तक वह ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का मुख्य प्रेरक रहा है, यह और भी सच है। लेकिन मार्क्सवाद वर्ग-संघर्ष को अन्तिम सत्य और वैज्ञानिक उपलब्धि मानता है, यह धारणा भ्रांत है। कार्ल मार्क्स के एक उद्धरण के बाद इसे सूचित करते हुए लेनिन ने लिखा है :

1. 'उपर्युक्त' पृ० ६-७।
2. 'काव्य, यथार्थ और प्रगति', पृ० ७।

वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की सृष्टि मार्क्स ने नहीं, बल्कि मार्क्स से पहले पूँजपति वर्ग ने की थी और आमतौर से वह पूँजीपतियों को मान्य है। जो लोग केवल वर्ग संघर्ष को मानते हैं, वे अभी मार्क्सवादी नहीं हैं, वे सम्भवतः अभी पूँजीवादी चिन्तन के दायरे में ही चक्कर काट रहे हैं।.. मार्क्सवादी केवल वही है, जो वर्ग-संघर्ष की मान्यता को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व तक ले जाता है।"[1]

मार्क्सवाद की इस बुनियादी प्रस्थापना से अपरिचय के कारण डॉ० रांगेय राघव वर्ग-संघर्ष के वैज्ञानिक समाधान—सर्वहारा राज्य की स्थापना और वर्गों के उन्मूलन—को स्वीकार करने की जगह उसके भाववादी—समन्वयवादी—समाधान को स्वीकार करते हैं। इस कारण वे केवल साहित्य और संस्कृति में मार्क्सवाद सम्बन्धी गहरी भ्रान्ति के शिकार होते हैं, वरन् इतिहास विरोधी दृष्टि-कोण अपनाते हैं। फलत. 'साहित्य की वर्गीय अन्तर्वस्तु' की मार्क्सवादी अवधारणा को इस रूप में प्रतिपादित करते हैं कि साहित्य अनिवार्यतः वर्ग-संघर्ष का चित्रण करता है, अन्यथा वह प्रगतिशील नहीं होता, तथा स्वयं अपनी इन भ्रान्तियों को ही मार्क्सवाद समझकर ये प्रगतिशीलता से हट कर समन्वयवादी मानवतावाद की प्रतिष्ठा का संकल्प करते हैं। यह मानवतावाद भी ऐसा कि वर्ग-संघर्ष के साथ-साथ वर्गों का भेद भी मिट गया और कम-से-कम साहित्य में यह भेद-भाव बिलकुल न रहा। एक समय रस सिद्धान्त को 'सामन्तीय समाज के ढाँचे का रूप'[2] कह कर उसकी भर्त्सना करने वाले डॉ० रांगेय राघव अब इस नतीजे पर पहुँचे कि "सामन्तीय अभिव्यक्ति का स्वरूप जनता की अभिव्यक्ति के स्वरूप से अन्य नहीं था। तभी हम मध्यकालीन साहित्य में वह गुण देखते हैं कि वह जनता की समझ में शीघ्र ही आ जाता है।"[3]

गौर करने की बात है कि डॉ० राघव केवल वर्ग-दृष्टि का परित्याग नहीं करते, बल्कि कबीर, तुलसी, सूर और देव, बिहारी, मतिराम सभी को एक पलड़े पर रखने का सुझाव देते हैं। सामन्तों और जनता के हितों में भेद न करने वाले गैर-प्रगतिशील भी भक्ति और रीति साहित्यों में अन्तर करते हैं। लेकिन डॉ० राघव वर्ग-संघर्ष की प्रगतिशीलता छोड़ कर वर्ग-समन्वय के मानवतावाद में गये तो वह

1. ब्ला० इ० लेनिन : 'संकलित रचनाएँ, भाग-२' (चार भागों में) पृ० २०५-६।
2. 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड', पृ० ११०।
3. 'काव्य, यथार्थ और प्रगति', पृ० ४२।

विवेक भी त्यागते गये। इसीलिए उनका अतीत प्रेम प्रगतिशील मानववाद नहीं, पुरातनपन्थी प्रतिगमन बनता है।

अपने वैचारिक प्रतिगमन के बाद डॉ० राघव समाजवादी सिद्धान्तों की आलोचना करते हैं और निरपेक्षतावादी साहित्य निकष स्थिर करते हैं। व्यक्तिवाद और वस्तुवाद की उग्रताओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है : "व्यक्तिवादी व्यक्ति की इच्छा को सब नियमों से परे मानते हैं ..। वस्तुवादी व्यक्ति की इच्छा को बिलकुल नहीं मानते, साहित्य को राजनीति का अनुगामी मानते हैं और—यान्त्रिकता का आश्रय ग्रहण करते हैं।"[1] स्वभावतः डॉ० राघव को जितना क्रोध यान्त्रिक वस्तुवादियों पर है उतना निरपेक्ष व्यक्तिवाद पर नहीं। उनके अनुसार, समाजवादी विचारक अपने 'कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण' के चलते "परिस्थितियों के पकने से पहले ही समाजवादी यथार्थ को हिन्दी में उपस्थित करना चाहते हैं।"[2] यह 'अतिक्रान्तिवादी' जोश पार्टी लेखकों में 'स्पष्ट प्रचारात्मक' का रूप धारण करके प्रकट हुआ। 'वास्तविक यथार्थ' को छोड़ कर 'समाजवादी यथार्थ' को व्यक्त करने की प्रवृत्ति 'जन-सत्य के स्थान पर पार्टी-सत्य को प्रश्रय देने' लगी इसलिए उसने 'यथार्थ को संकुचित, सीमित और विकृत कर दिया।'[3]

इस संकीर्णतावाद के विरुद्ध डॉ० रांगेय राघव ने मार्क्सवाद में संशोधन आवश्यक समझा। मार्क्सवाद को वर्ग-संघर्ष और समाजवाद की संकीर्णताओं से मुक्त करते हुए उन्होंने व्यापक 'लोक-कल्याण' और 'युग-सत्य' की अभिव्यक्ति के लिए पुरातनपन्थ से उसका समन्वय आरम्भ किया। उन्होंने लिखा, 'कला तभी जीवित होती है जब युग-सत्य को लेकर चलती है।'[4] यह 'युग-सत्य' वर्ग-सम्बन्धों से उसी तरह निरपेक्ष है जैसे मध्ययुग का साहित्य है; सामन्ती अभिव्यक्ति और जनता की अभिव्यक्ति के रूपों में भिन्नता नहीं है, तुलसी की दीनता और केशव की प्रगल्भता, कबीर के अनगढ़ पदों और रीति कवियों की चमक-दमक वाली कविता-कामिनी, मीरा की तन्मय, त्यागपूर्ण भक्ति और देव के परकीया-प्रेम में क्या अन्तर है! अन्तर हो भी कैसे, दोनों में 'युग-सत्य' की अभिव्यक्ति है। जहाँ यह निरपेक्ष 'युग सत्य' खण्डित होकर वर्गीय 'युग सत्य' में बदलता है वहाँ 'कला' जीवित नहीं

१. उपर्युक्त, पृ० ५।
२. उपर्युक्त, पृ० ३।
३. उपर्युक्त, पृ० ३।
४. उपर्युक्त, पृ० १५२।

रह जाती। फिर वह चाहे 'समाजवादी यथार्थवाद' की 'स्पष्ट प्रचारात्मकता' हो या प्रेमचन्द के 'गांधीवादी यथार्थवाद' की 'उपदेशात्मकता', रहेगी वह क्षणभंगुर ही! इसीलिए 'स्थायी मूल्यों' का रहस्योद्घाटन करते हुए डा० राघव लिखते हैं :

> यथार्थ अपने रूपों के वैविध्य में मूलतः व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को लोक कल्याण के लिए प्रकट करता है और वह भावपक्ष को ग्रहण किये बिना अशक्त होता है। यदि वह समाज-पक्ष का भावपक्ष में व्यक्ति से तादात्म्य कराने में सफल होता है तो वह स्थायी मूल्य का सर्जन करने में समर्थ होता है।[1]

समाज में वर्गों के सम्बन्धों का नहीं, व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का प्रकटीकरण और वह भी मात्र भावपक्ष में! और फिर समाजपक्ष का व्यक्ति से तादात्म्य, व्यक्ति पक्ष का समाज से नहीं!

प्रगति विरोधी संशोधनवाद से प्रेरित इस समझदारी के चलते डा० राघव प्रगतिशील साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या करने और उसे एक सुसंगत जनवादी आधार पर प्रतिष्ठित करने की जगह गलत-सही आधार पर प्रगति विरोधियों की भाँति समाजवादी यथार्थवाद और पार्टी प्रतिबद्धता की निन्दा करने लगते हैं। मार्क्सवाद को वर्ग-संघर्ष तक सीमित करके प्रगतिशील साहित्य को गलत परिप्रेक्ष्य में देखते हैं और समन्वयवाद को मानवतावाद मानकर प्रगतिशील और मानवतावादी विचारधाराओं में विरोध की कल्पना करते हैं और 'मानवतावादी' भंगिमा अपना कर सभी प्रगतिशील परम्परा पर कुठाराघात करते हैं।

**उपेंद्रनाथ 'अश्क' : निरपेक्ष आत्मचेतना**

इसी प्रकार की वर्ग-निरपेक्ष दृष्टि अपनायी है उपेंद्रनाथ 'अश्क' ने। उन्होंने 'प्रगतिवाद का दुरुपयोग' लेख में बताया है कि :

> प्रगतिशील साहित्य मेरे विचार में केवल वही साहित्य नहीं, जिसमें किसान, मजदूर, बेकार अथवा विपन्न की दशा ही का चित्रण हो, वरन् जो भी नवीन है, अपनी लीक से जो भी परे हो कर चलता है, अपनी आसपास की दशा का जो भी गहरा अध्ययन करता है, समय की कुरीतियों पर जो भी तीव्र प्रहार करता है और अपने

---

१. उपर्युक्त, पृ० ५।

आपको समझने के लिए जो भी हमारी सहायता करता है, वह प्रगतिशील है।[1]

किसान, मजदूर, बेकार या विपन्न का 'चित्रण' किये बिना आसपास की दशा का 'गहरा अध्ययन' कैसे किया जायगा ? जन-साधारण के हितों से स्वतन्त्र होकर समय की कौन-सी कुरीतियों पर प्रहार करेंगे ? नवीनता का आग्रह और लीक का विरोध तो गैर-प्रगतिशीलों ने ही अधिक किया है। फिर किस आधार पर प्रगतिशीलता के इन मूल्यों को स्वीकार करेंगे ? क्या इस आधार पर कि साहित्य 'अपने आपको' समझने में सहायता करे ? क्या हम 'अपने आपको' जनता की वास्तविक स्थितियों से निरपेक्ष रूप में पहचानेंगे ? क्या अपने-अपने तरह से प्रत्येक साहित्य 'अपने-आपको' समझने में सहायता नहीं करता ? साहित्यकार को 'स्वभावतः प्रगतिशील' मानने वाली इन कसौटियों का रहस्यवादी हो जाना स्वाभाविक है।

कला को जनता और उसके दुश्मनों की द्वन्द्वात्मकता से पहचानने का प्रस्ताव करते हुए शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है :

> हमारी कला को तीस—पैंतीस करोड़ किसान-मजदूर और निम्न मध्यवर्ग से प्राण सम्बन्धित होना चाहिए क्योंकि समाज का यह वर्ग ही आज ऐतिहासिक दृष्टि से समाज की असंगतियों पर विजय प्राप्त कर एक नये समाज का निर्माण करने की क्षमता रखता है, पूंजीपति वर्ग या उपजीवी अवकाशभोगी वर्ग की क्षमता अब समाज को आगे बढ़ाने में नहीं वरन् पीछे धकेलने में ही शेष रही है।[2]

स्पष्ट है कि नवीनता, कुरीतियों का विरोध, वास्तविकता का अध्ययन और स्वयं आत्मसमीक्षा सचाई के इस गहरे द्वन्द्व से मुक्त नहीं हैं; यह इस द्वन्द्व में तटस्थ न होकर दो में से एक के साथ हैं और कहने की जरूरत नहीं कि प्रगतिशील साहित्य का मजदूर-किसान और निम्न मध्यवर्ग से प्राण सम्बन्धित होना अनिवार्य है।

जन-साधारण से सम्बद्धता के इस आधार पर देखने से डा० रांगेय राघव और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की प्रगतिशीलता में एक महत्वपूर्ण अन्तर दिखायी देता है। अश्क जो 'अपने आप को समझने के लिए' जिस विकास का प्रस्ताव करते हैं वह साधारण जनता से प्राण सम्बन्धित होने की जगह उसका बहिष्कार करता है, समाज

१. 'साहित्य की समस्याएँ, पृ० १३६।
२. 'विशाल भारत, मई', १९३६।

के वर्ग-सम्बन्धों को झुठलाता है तथा नवीनता के स्वागत और अपने आसपास की दशा के अध्ययन के बहाने तरह-तरह की असामाजिक-व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को अंगीकार करने के लिए औचित्य तलाशता है। इसके विपरीत डा० रांगेय राघव का वर्ग-निरपेक्ष समन्वयवाद मार्क्सवाद सम्बन्धी भ्रांति से अवश्य उत्पन्न है, किन्तु उसमें साधारण जनता का बहिष्कार नहीं, 'लोक कल्याण' की चिन्ता है। इसीलिए डा० रांगेय राघव में समन्वयवाद और पुरातनपथ का आग्रह विकसित होता है और 'अश्क' में दिग्भ्रम पैदा करने की सायास कोशिश। डा० रांगेय राघव मार्क्सवादी सौंदर्य-शास्त्र और समाजवादी मानववाद को ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण वर्ग-समन्वय की धारणा जोड़ कर उसे अधिक व्यापक बनाने की कोशिश करते हैं और 'अश्क' मार्क्सवादी सौंदर्य-चिन्तन को जड़-मूल से अस्वीकार करने की दिशा ग्रहण करते हैं। भ्रांति दोनों में है, लेकिन दोनों की भ्रांति में यह फर्क है।

**अञ्चल : 'क्रान्तिकारी' समाजवादी यथार्थवाद**

सृजनात्मक स्तर पर मार्क्सवाद और फ्रायडवाद का मेल कराने वाले रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल' ने भी सैद्धान्तिक स्तर पर मार्क्सवाद के द्वन्द्ववाद और वर्गवाद को प्रगतिशीलता साहित्य का आधार बताया। प्रगतिवाद को 'जनतावाद' कहते हुए उन्होंने प्रगतिवाद की व्याख्या की, 'सामाजिक मानव के सामूहिक संघर्ष के, जीवन के, द्वन्द्व और वर्गगत द्वन्द्व के वैज्ञानिक स्पष्टीकरण को ही आज प्रगतिवाद कहा जाता है।'[1] उनका यह सिद्धान्त अधिक स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुआ : 'प्रगतिवाद की परम्परा सदैव क्रान्ति की परम्परा होती है......यह क्रान्ति व्यक्ति की निरपेक्ष जीवन-साधना न हो कर जन-जागृति और वर्ग चेतना की एक तीखी ललकार होती है जिसे सुनकर दुनिया के शोषित और मजलूम एक झंडे के नीचे इकट्ठे होते हैं। इस क्रान्ति का एक निश्चित जीवन-दर्शन और जीवन-विज्ञान होता है।' इसमें सन्देह न रहे कि यह जीवन-दर्शन या जीवन-विज्ञान मार्क्सवाद ही है इसलिए वे कहते हैं : 'प्रगतिवाद......मानवीय मूल्यों और वर्तमान सामाजिक सम्बन्धों में एक आमूल परिवर्तन......वह भी क्रमिक वैधानिक विकासवाद के द्वारा नहीं वरन् सोद्देश्य सामाजिक और सांस्कृतिक क्रान्ति के द्वारा......श्रेणी-संघर्ष की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचार और कर्मधारा के द्वारा घटित करना चाहता है।'[2]

मार्क्सवाद वर्तमान सामाजिक सम्बन्धों में आमूल क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहता है और इस अर्थ में वह सच्चा जनतावाद है। लेकिन वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति

---

१ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (भाग-२), पृ० ८७।

२. उपर्युक्त, पृ० ८६।

की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी रूपरेखा को प्रगतिवाद का आधार कह कर अञ्चल गैर-मार्क्सवादी कवियों को प्रगतिशील साहित्य से खदेड़ बाहर करते हैं, चाहे जनता के प्रति उनकी चिन्ता कितनी ही वास्तविक क्यों न हो। दिनकर आदि कवि मार्क्सवादी नहीं थे। उन्होंने कविता और आलोचना दोनों ही क्षेत्रों में अध्यात्मवादी, राष्ट्रवादी, व्यक्तिवादी, कलावादी आदि अनेक कोणों से मार्क्सवाद और प्रगतिवाद के विरुद्ध काफी लिखा भी है। एक स्थान पर तो प्रयोगवाद को 'शुद्ध साहित्यक आन्दोलन' कह कर उन्होंने उसे 'प्रगतिवाद के नाम पर कनस्तर बजाये जाने' और 'साहित्यक मूल्यों का ह्रास होने' के विरुद्ध स्वस्थ प्रतिक्रिया तक कहा है।[1] लेकिन क्या अपनी कला में जनता के असन्तोष को व्यक्त करने के कारण उन्हें प्रगतिशील नहीं माना जायगा? निस्सन्देह, साहित्य में मार्क्सवाद को यांत्रिक और एकांगी तरीके से लागू करना ठीक नहीं है। यहाँ प्रकाशचन्द्र गुप्त के इस कथन का उल्लेख करना प्रासंगिक है कि 'प्रगतिवाद और मार्क्सवाद पर्यायवादी शब्द नहीं हैं।'[2]

### जनता की तरफदारी—एकमात्र कसौटी

प्रगतिशील कविता को केवल मार्क्सवादी कवियों तक सीमित रखना इसलिए गलत था क्योंकि भारत अंग्रेजों का गुलाम था, यहाँ रूस की तरह सर्वहारा क्रान्ति की परिस्थितियाँ नहीं थी, हमारी पहली जरूरत थी साम्राज्यवाद-विरोधी व्यापक जन-जागरण की। साहित्य में यह जरूरत समाजवादी यथार्थवाद के साथ यथार्थवाद के अन्य रूपों के पारस्परिक विकास के जरिए पूरी की जा सकती थी। इस सम्बन्ध में डा० रेखा अवस्थी का यह मूल्यांकन उचित जान पड़ता है :

> प्रगतिवादी साहित्यक आन्दोलन के दौरान सर्वहारा वर्ग, किसान समुदाय तथा उत्पीड़ित मध्यमवर्ग इन तीनों की एकता को ध्यान में रखकर राष्ट्रवादी, जनवादी एवं समाजवादी, तीनों प्रकार के लेखकों और उनके दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर समाजवाद के गतिशील यथार्थ के चित्रण पर जोर दिया गया, न कि मात्र समाजवादी यथार्थवाद पर।···यह उल्लेखनीय है कि रूसी साहित्यकारों के लिए समाजवादी यथार्थवाद की धारा ही निर्णायक और एकमात्र स्वीकार्य धारा थी; पर भारतीय लेखकों के लिए आलोचनात्मक यथार्थवाद, क्रान्तिकारी रोमांटिसिज्म तथा समाजवादी

---

१. काव्य की भूमिका,' पृ० १५।
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि' पृ० ६२।

यथार्थवाद—ये तीनों ही धाराएँ एक खास दूरी तक स्वीकार्य थी।[1]

जिन प्रगतिशील समीक्षकों ने इतिहास की यह अनिवार्यता अनुभव की उन्होंने मार्क्स-वाद और समाजवादी यथार्थवाद को ही प्रगतिशील होने की शर्त नहीं माना, बल्कि उत्पीड़ित भारतीत जनता के साथ साहित्य की पक्षधरता को ही मुख्य कसौटी माना। डा० रामविलास शर्मा ने बार-बार बल दे कर लिखा है कि कोई भी साहित्यकार 'युगविशेष और समाजविशेष के संघर्ष में जनता का पक्ष लेने पर ही प्रगतिशील कहा जा सकता है।'[2]

जनता की पक्षधरता कोई अमूर्त प्रश्न नहीं है। युगविशेष और समाजविशेष की ठोस वास्तविकताओं द्वारा वह परिभाषित होती है। इस कसौटी पर हम किसी भी युग के साहित्य में प्रगतिशील और अप्रगतिशील तत्वों को आसानी से पहचान सकते हैं। जिन साहित्यकारों ने जनता के हित-अहित विवेक को प्रगतिशीलता का मूल-आधार नहीं माना वे तरह-तरह के भ्रम के शिकार हुए। रांगेय राघव समाज-वादी यथार्थवदा से आरम्भ करके समन्वयवादी मानववाद तक की यात्रा इसलिए करते हैं कि उन्हें इस बात का पूरा विश्वास नहीं है कि मार्क्सवाद या समाजवाद सही अर्थों में जन-हित का प्रतिनिधित्व करते हैं।

शिवदान सिंह चौहान :

(क) प्रगति का 'वाद' और 'शील'

लेकिन सर्वहारा वर्ग के प्रचार को 'ज्यादा अच्छा'[3] कहने वाले शिवदानसिंह चौहान प्रगतिवाद और प्रगतिशील में अन्तर मान कर एक को समाजवादी यथार्थवाद का दृष्टिकोण और दूसरे को व्यापक यथार्थवादी धारा का प्रतिनिधि बताते हैं। उनके शब्दों में : 'प्रगतिवाद और प्रगतिशील में भेद है, यह स्पष्ट होना ही चाहिए।[4] इस अन्तर का कारण यह है कि 'प्रगतिवाद को सौंदर्यशास्त्र (ईस्थेटिक्स) सम्बन्धी मार्क्सीय दृष्टिकोण का हिन्दी नामकरण समझना चाहिए।[5] जबकि प्रगतिशील कविता के 'पीछे किसी विशेष दार्शनिक वाद की मान्यता का आग्रह नहीं किया जा

---

१. 'प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य', पृ० २८१।
२. 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, पृ० ६।
३. 'साहित्य की समस्याएँ पृ० ४६।
४. उपर्युक्त, पृ० ६२।
५. उपर्युक्त, पृ० ५४।

सकता। एक प्रगतिशील कवि गांधीवादी भी हो सकता है, मार्क्सवादी भी और द्वैत-अद्वैतवादी भी।[1]

प्रगतिवाद और प्रगतिशील में इस अन्तर का कारण है दोनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि। प्रगतिवाद 'वर्तमान कालीन मजदूर, किसान और निम्न श्रेणी के टूटपुंजियों का साहित्य है।[2] जबकि प्रगतिशील साहित्य 'चिरजीवी प्राणवान साहित्य की 'प्रवहमान' सांस्कृतिक विरासत है।'[3] चौहान मानते है कि दोनों का विकास जरूरी है, लेकिन दोनो के विकास की पद्धतियाँ भिन्न हैं। 'प्रगतिशील' तो चिरजीवी और सर्वसमावेशी साहित्यधारा है इसलिए उसका विकास स्वतः स्फूर्त ढंग से होता चलता है। क्यों न हो, कलाकार 'स्वभावतः प्रगतिशील जो होता है'! प्रगतिवाद चूँकि 'पूँजीवाद के अन्तिम काल में उत्पन्न' होने वाला साहित्य है और भारत में पूँजीवाद के उदयकाल में ही उत्पन्न हो गया, इसलिए उसके विकास के लिए संगठित प्रयत्न की आवश्यकता है। चौहान ने कहा कि प्रगतिशील लेखक संघ का 'नये नाम से मार्क्सवादी लेखक संघ के रूप में पुनर्गठन जरूरी' है।[4]

चौहान के चिन्तन का अंतर्विरोध साफ है। 'प्रगतिवाद' नाम से वे जिस साहित्य की कल्पना करते हैं उसे इतना बहिष्ठकारी मानते हैं कि वह केवल मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक विषयों तक सीमित रह जाता है, जैसे 'श्रमिक वर्ग, मध्य वर्ग, पूँजीपति वर्ग, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' आदि। इसी से यह समझ विकसित होती है कि इस प्रकार की रचनाएँ 'प्रगतिवादी ही हैं, काव्य नहीं।' इनमें 'साहित्यिक अर्थ' में जो कविताएँ हैं "वे प्रवृत्ति और प्रेरणा की दृष्टि से अलग से विवेच्य चाहे हों, प्रगतिवाद के अन्तर्गत नहीं आती।'[5] दूसरी तरफ, प्रगतिशीलता इतनी व्यापक——सार्वदेशिक, सर्वकालिक और सर्वसमावेशी——धारा है कि शायद ही किसी प्रवृत्ति, संस्कार या विचारधारा के कवि उससे बाहर छूट पाते हों।

(च इतिहास-विरोधी स्टैण्ड

चौहान की समस्या यह है कि वे दोनों का मोह नहीं त्याग पाते। फिर भी उनके विकास की दिशा स्पष्ट है। मोटे तौर पर भारत की राजनीतिक आजादी——

१. उपर्युक्त, ६२।
२. 'विशाल भारत', मार्च १९३७।
३. 'साहित्य की समस्याएँ' पृ० ५३।
४. उपर्युक्त, पृ० १६१-६२।
५. उपर्युक्त, पृ० ६१-६२।

१९४७——से पहले तक वे साहित्य मे समाजवादी यथार्थवाद के समर्थक थे और आजादी के बाद व्यापक प्रगतिशील साहित्य के समर्थक बन गये।

### (ग) समाजवादी यथार्थवाद और परम्परा का निषेध

जब तक चौहान मार्क्सवादी साहित्य का प्रचार-प्रसार करने और कला के मानदण्ड के रूप में समाजवादी यथार्थवाद को स्थापित करने के पक्ष में थे तब तक वे भारतीय साहित्यिक परम्परा का निषेध करते थे : 'इस छायावाद की धारा ने हिन्दी साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया, उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग ने भारत को पहुँचाया हो।'[१] 'भारत मे प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' रेखांकित करने वाले अपने इसी लेख में उन्होने यह मत भी प्रकट किया कि हिन्दी ही नही, हिन्दुस्तान की किसी भी भाषा के साहित्य मे सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति देने की प्रवृत्ति कभी नही रही है। प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध मे अपनी इन्ही धारणाओ के आधार पर वे प्रचारित करते थे कि 'प्रगतिवाद सबका व्यतिरेक कर स्वयं अपने पैरों पर खडा होने का दावा करता है। वह युद्धात्मक, असहनशील और क्रान्तिकारी धारा है।'[२] इसी कारण वे भारत से बाहर की विश्व प्रसिद्ध कृतियो को अपने निकष का आधार बनाने पर विवश होते हैं।

### (घ) राष्ट्रीय स्वाधीनता और वर्ग-विवेक का परित्याग

आगे चल जब कर चौहान के अनुसार भारत की आजादी ने प्रत्येक 'पार्टी, राज्य, वर्ग, सभ्यता, व्यक्ति या विचार' पर 'अपनी कल्पना के भारत का निर्माण करने का दायित्व'[३] सौंप दिया, तब स्थिति बदल गयी। वह इसलिए कि प्रत्येक पार्टी, राज्य, वर्ग, व्यक्ति, विचार आदि ने अपनी-अपनी 'कल्पना के भारत का निर्माण' करना चाहा। जब यह सम्भव न हुआ तब अपने-अपने तरीके से आजादी की व्याख्या और उसका इस्तेमाल शुरू कर दिया। इससे चारो ओर दिग्भ्रम और 'अराजकता फैल गयी। चौहान के अनुसार इस स्थिति का कारण यह था कि राजनीतिज्ञ अपने दुष्ट स्वार्थों के कारण झगड़े फैलाते हैं।[४] इसलिए उन्होने साहित्य से न केवल मार्क्सवाद और कम्युनिस्ट पार्टी को खदेड़ना शुरू किया, बल्कि राजनीति-मात्र का विसर्जन

---

१. 'विशाल भारत', मार्च १९३७।
२. उपर्युक्त।
३. 'साहित्य की समस्याएँ' पृ० २-३।
४. उपर्युक्त पृ० ३।

आरम्भ कर दिया। अब वे गोर्की को विश्व-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान[1] से हटा 'कुत्सित समाजशास्त्र' का उदाहरण मानने लगे। उन्होंने बताया कि रूसो, वोल्तेयर, शैली, गोर्की आदि ने सामयिक क्रान्तियों और आन्दोलनों के सम्बन्ध में जो रचनाएँ की 'उनका आज कोई साहित्यिक मूल्य न रहा।'[2]

### (घ) राजनीति विरोध की दिशा

सक्षेप में, जब वह मार्क्सवाद और समाजवादी यथार्थवाद की जरूरत समझते थे तब 'शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद' जैसे पार्टी कार्यक्रम तक को साहित्य के विकास के लिए प्राथमिक शर्त मानते थे।[3] जब वर्गातीत 'नवनिर्माण' का दायित्व सम्भाल कर व्यापक प्रगतिशीलता का विकास करने लगे तब जनता के दमन, असन्तोष और संघर्षों का चित्रण करने वाली रचनाओं की आलोचना करने लगे; इतना ही नहीं, राजनीति के स्पर्श-मात्र को काव्य-प्रतिभा के लिए घातक मानने लगे। प्रगतिशील साहित्य के 'सर्वाधिक जोर' वाले दिनों को याद करते हुए उन्होंने लिखा :

> ऐसा लगता था कि इन महान सामाजिक आदर्शों की प्रेरणा हिन्दी काव्य में एक ऐसा युगान्तर उपस्थित कर रही है जिसका पूर्ण उन्मेष छायावाद युग की तरह अनेक महान प्रतिभाओं के प्रस्फुटन से महिमाशाली बनेगा। लेकिन तरुण प्रगतिशील कवि स्वतन्त्र रूप से किसी नये काव्यादर्श का अभी सम्यक विकास भी न कर पाये थे कि उन्होंने राजनीतिक दलबन्दी की मतवादी और साम्प्रदायिक संकीर्णताओं में पड़ कर अपनी काव्य प्रतिभा का स्वयं ही हनन कर डाला।[4]

इसे विडम्बना ही कहेंगे कि छायावाद हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता से भी व्यधिक घातक हो कर महान प्रतिभाओं को प्रस्फुटित कर गया और प्रगतिवाद महान आदर्शों से प्रेरित होकर भी प्रतिभाओं का हनन करने के अलावा कुछ न कर सका! अगर नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, रामविलास आदि दो-चार छोटे-मोटे कवि हुए भी तो वे प्रगतिवादी ही रह गये, कवि न बन पाये।[5] यहाँ स्वभावतः यह

---

१. उपर्युक्त, पृ० ११५
२. 'साहित्य की परख', पृ० १४,
३. 'साहित्य की समस्याएँ', पृ० १८०
४. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृ० १३१
५. 'साहित्य की समस्याएँ' पृ० ६२

प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या प्रगतिशील कवि जिन महान सामाजिक आदर्शों से प्रेरित थे वे उनके काव्यादर्श नहीं बन पाये ? क्या सामाजिक आदर्श और काव्यादर्श में सचमुच इतना बड़ा फासला होता है ? हमने अपने अध्ययन-क्रम में देखा है कि कवि की बौद्धिक शक्तियाँ इतनी परस्पर-असम्बन्ध और विभाजित नहीं होतीं। प्रगतिशील कविता ने जिन सामाजिक आदर्शों को अंगीकार किया उन्हें सफलतापूर्वक काव्य में व्यक्त कर पाने के नाते ही वह हिन्दी साहित्य में नये सौन्दर्य-मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में सफल हुआ। तब क्या चौहान राजनीति से छू जाने में प्रगतिशील आदर्शों की हत्या देखते हैं ? यह सही है कि राजनीति कहीं-कहीं कविता पर हावी हो गयी है, लेकिन क्या इसी नाते हम समूची प्रगतिशील कविता के अस्वीकार का रुख अपनाएँ ? या चौहान राजनीति और राजनीतिक दलबन्दी में फर्क करते हैं और केवल दलबन्दी का विरोध करते हैं ? यदि हाँ, तो राजनीति और राजनीतिक दलबन्दी में मौलिक अन्तर क्या है ? वास्तव में चौहान राजनीति मात्र को साहित्य से अलग रखने की बात कहते हैं। सामाजिक आदर्शों का राजनीति और राजनीतिक दलबन्दी से कोई सम्बन्ध है या नहीं, इस बारे में वे चुप हैं। राजनीति और राजनीतिक दल क्या हैं, इस प्रश्न का वे कोई उत्तर देने की कोशिश नहीं करते। क्या राजनीतिक विचारधारा और स्वभावतः राजनीतिक दल विशिष्ट सामाजिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते ? सामाजिक शक्ति-संतुलन के बीच साहित्य की क्या स्थिति होती है ? क्या वर्ग-स्थितियों का 'सामाजिक आदर्श' और 'काव्यादर्श' पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ? यदि पड़ता है तो क्या उसे स्वीकार करने वाले आलोचक 'कुत्सित समाजशास्त्री' तथा लेखक और कवि 'साम्प्रदायिक' हो जाते हैं ?

### (च) निषेधवादी साहित्य दृष्टि

- दरअसल, चौहान के अंतर्विरोध का कारण है उनका उग्रवाद। एक छोर पर वे संकीर्णतावादी हैं और दूसरे छोर पर उदारतावादी। इसलिए वे वर्गातीत साहित्य मूल्यों को प्रगतिशील साहित्य की कसौटी मनवाना चाहते हैं। सामयिकता, राजनीति आदि का विरोध करते हुए चिरन्तन क्रान्ति की मारली की विचारधारा के तर्ज पर चिरन्तन साहित्य की कल्पना करते हैं। इस बिन्दु पर पहुँच कर मारली की भाँति मजदूर वर्ग की ही नहीं, मनुष्य जाति की सभी प्रगतिशील उपलब्धियों को टके का चार बताते हैं।

प्रगतिशील साहित्य के मूल्यांकन में यह दृष्टि कितनी 'वस्तुनिष्ठ' है, इसका अन्दाज चौहान की अनुगामिनी श्रीमती विजय चौहान के निष्कर्षों से लगाया जा

सकता है। श्रीमती चौहान के अनुसार प्रगतिशील कविता (बल्कि साहित्य) का यथार्थवाद संकीर्ण है; उसकी मार्मिकता जाली है, वह साधारण कोटि का 'नारेबाजी का साहित्य' है; उसमें 'रूप-रस-वर्ण-गंधहीन, उथला-पुथला चित्रण है, जो तत्वतः 'एकांगी और विकृत' है; उसके चरित्र 'टाइप' न होकर लेखक के हाथ की 'कठपुतलियाँ' हैं। अभिव्यक्ति पक्ष का हाल यह है कि 'इस नये साहित्य में नयी विचार-वस्तु को ऊपर से ठूँस कर क्रान्तिकारिता का आभास पैदा किया गया है।' इतना नहीं, 'वास्तव में उसमें नया कुछ भी नहीं है, वह विचारों को स्फूर्ति और प्रेरणा नहीं देता और न भावनाओं को अधिक संवेदनाशील, उदात्त और मानवीय बनाता है, क्योंकि उसमें यथार्थ का वेदन नहीं है।'[1] अर्थात् उसमें सब कुछ क्षुद्र, निन्दनीय, हीन, मिथ्या, अमानवीय, विकृत और पुराना है, गौरव करने लायक कुछ भी नहीं है। रौरव नर्क भी इतना कुत्सित न होगा।

इस प्रकार की अतिरेकवादी, निषेधवादी प्रवृत्तियों के लोग किसी साहित्य का समर्थन करें या विरोध, वे उसके विकास मे योगदान करने की जगह उसे भीतर ही भीतर खोखला बनाते हैं। अपनी मानसिक कल्पनाओं को वस्तुस्थितियों पर आरोपित करते हैं, जनता के हितों को नजरन्दाज करते हैं और सुविधानुसार बौद्धिक व्यायाम के जरिये कभी इस ओर कभी उस अतिवाद मे संचरण करते हैं। गौर करने की बात यह है कि आजादी से पहले जब भारत को साम्राज्यवाद-विरोधी व्यापक सांस्कृतिक मोर्चे की जरूरत थी तब श्री चौहान समाजवादी यथार्थवाद का नारा दे रहे थे, और आजादी के बाद जब समाजवाद के लिए संघर्ष करने का समय आया तब वे 'संकीर्णतावाद' और 'कुत्सित समाजशास्त्र' के खिलाफ लड़ने के नाम पर प्रगतिशील साहित्य का विरोध करने लगे। यह लड़ाई ऐसी थी जिसमें समाजवादी सिद्धान्त ही नहीं छूट गये, बल्कि जनता और उसके दुश्मनों का फर्क भी मिट गया। 'निर्माण की क्रान्ति', 'निर्माण का विप्लव', 'निर्माण का परिवर्तन' और 'निर्माण का दायित्व' आदि इस तरह बढ़ गये कि कांग्रेस और माउंटबेटन के समझौते का रहस्य आँख से ओझल हो गया, अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाली जनता गद्दार हो गयी और इस ऐतिहासिक स्थिति मे जनता के पक्ष से आवाज उठाने वाला साहित्य निकृष्ट कोटि का जान पड़ने लगा।

परिणाम यह हुआ कि एक समय प्रगतिशील लेखक संघ को 'मार्क्सवादी लेखक संघ' बनाने की माग करने वाले चौहान अब उसे भंग कर देने की माग करने

---

१. 'हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० ३२।

लगे। इसलिए अनुचित न होगी यदि ऐतिहासिक मूल्यांकन को ध्यान में रखकर यह कहा जाय कि प्रगतिशील साहित्य को जितना धक्का श्री शिवदानसिंह चौहान और उनके पदानुगामियों ने पहुँचाया उतना उसके तरह-तरह के अराजकतावादी, व्यक्तिवादी, पुनरुत्थानवादी विरोधियों से भी न पहुँचा होगा क्योंकि उनका दृष्टिकोण और आधार प्रगति-विरोधी था और उनका आक्रमण बाहरी; इसके विपरीत चौहान का आक्रमण आंतरिक था, वे अपने दृष्टिकोण और आधार को मार्क्सवादी कहते थे।

**डा० रणजीत : क्रान्तिकारी आन्दोलन और प्रगतिशील साहित्य**

चौहान की परम्परा का ही विकास करते हुए खुद को प्रगतिशील कहने वाले एक विद्वान ने प्रगतिवाद के विघटन के दो मुख्य कारण बताये हैं। एक तो यह कि प्रगतिवाद की चेतना राजनीतिक दल और सिद्धान्त के दबाव से थी, और दूसरा यह कि एक ही साम्यवादी दल होने से कवियों के पास सोच-समझ कर राजनीतिक पक्ष चुनने की स्वतन्त्रता न थी। सातवें दशक की प्रगतिशील कविता के प्रसार को आधार बना कर डॉ० रणजीत ने लिखा है :

> सातवें दशक की प्रगतिशील कविता अधिक प्रखरतापूर्वक राजनीतिक हो कर भी निश्चित राजनीतिक दलों और सिद्धान्तों के दबाव से पाँचवें दशक की कविता के मुकाबले अधिक मुक्त है।... दो-तीन या और भी अधिक अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय साम्यवादी मतवादों के विकल्प के सामने रहने से नवयुवक प्रगतिशील कवि को अपनी रुझान या रुचि के अनुकूल मतवाद को स्वीकार करने की, हर मुद्दे पर स्वयं सोचकर फैसला करने की जैसी गुंजाइश इस युग में रही वैसी पहले कभी नहीं थी।[1]

जब एक दल था तब यह सिद्धान्त का दबाव डालता था, और कवि उससे कतराता फिरता था। अब अनेक मतवाद हैं तो कवि पर दबाव नहीं है। चाहा तो किसी से जुड़े। और नहीं, तो कभी इससे जुड़े और कभी उससे। 'सोच कर फैसला करने की' ऐसी गुंजाइश पहले नहीं थी! इतना सुनहला अवसर! भला अब प्रगतिशीलता न फली-फूली तो कब फले-फूलेगी!

'स्वतन्त्रता का वरण' और 'वरण की स्वतन्त्रता' की [illegible] परम्परा से विकसित यह विचित्र प्रगतिशीलता है। साहित्य के [illegible]

---

१. 'हिन्दी के प्रगतिशील कवि', पृ० ११।

प्रगतिशीलता इस बात से परखी जायगी कि अपने देश-काल-गत विशिष्ट सन्दर्भ में समाज के अंतःसम्बन्धों, अंतःसंघर्षों के बीच उस साहित्य की स्थिति क्या है, वह जन-साधारण के साथ है या नहीं। साहित्य और संस्कृति की मूल्यवान निधियाँ अगर मार्क्सवादी नहीं हैं और जनता के हितों के साथ हैं तो उन्हें हम प्रगतिशील मानेंगे। और मार्क्सवाद का नाम लेकर भी कोई साहित्य जनता से कतरा-कतराता है तो उसे प्रगतिशील नहीं मानेंगे।

## युग-सन्दर्भ और परम्परा

साहित्य में जनता की तरफदारी की अवधारणा का गहरा सम्बन्ध युग विशेष में सामाजिक उत्पादन के चरित्र, वर्ग-संघर्ष के स्तर और मनुष्य की चेतना के सामान्य धरातल से है। धर्म मध्य युग की चेतना का रूप था। विज्ञान के उदय के बाद वैचारिक धरातल पर धर्म की ऐतिहासिक अनिवार्यता समाप्त हो गयी। आज धर्म की भूमिका सामाजिक प्रगति में बाधक की ही अधिक है। लेकिन मध्य युग में धर्म की प्रगतिशील भूमिका भी थी। उसकी प्रगतिशील भूमिका उसके नियतिवाद के बावजूद थी। उसका नियतिवाद प्रकृति के मुकाबले में खड़े मनुष्य की सीमाओं को प्रकट करता है। समाज में इन सीमाओं का रूप भिन्न था। समाज का मुख्य आधार था कृषि। कृषि पर आधारित प्रत्यक्ष उत्पादन प्रणाली के कारण समाज का रूप अपेक्षाकृत सरल होते हुए भी वर्गों के आपसी टकराव का रूप बहुत पेचीदा था। आधुनिक युग के औद्योगिक उत्पादन और बाजार व्यवस्था में पेचीदगी बढ़ने के साथ सामाजिक प्रक्रियाओं का रूप जटिल हुआ है और वर्ग-विरोध सरल हुए हैं। इसलिए आज वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त हो चुका है। यह मालूम हो चुका है कि वर्गों के विरोध का निदान दो शत्रु वर्गों के समझौते में नहीं, सर्वहारा वर्ग के शासन और अंततः वर्गों के उन्मूलन में है। मध्य युग की सामाजिक स्थिति में यह ज्ञान मनुष्य के पास नहीं था। वह न वर्ग-संघर्ष की बात कर सकता था और न वैज्ञानिक समाजवाद की कल्पना। उसका समन्वयवाद उसके युग की ऐतिहासिक सीमाओं को व्यक्त करता है। विचारधारा में नियतिवाद और समाज में समन्वयवाद—ये उस युग की सामान्य सीमाएँ थीं। इसलिए कवियों की प्रगतिशीलता की जाँच करने के लिए देखना यह चाहिए कि समन्वयवाद के बावजूद कवियों के सरोकार और समाधान का सम्बन्ध जन-साधारण के सुख-दुख की चिन्ता से है या सामंतों की विकृत कामवासना को 'तृप्त' करने की लाभ-लोभ वृत्ति में, धर्म की नियतिवादी सीमाओं के बावजूद कविगण उसका उपयोग एक गतिशील तत्व के रूप में सामाजिक न्याय के लिए करते हैं या उसे आड़ बना कर कविता-कामिनी से 'मर्मज्ञों' को

अलावा रणजीत की 'प्रगतिशीलता' का मौलिक पक्ष है यह सिद्धान्त कि कम्युनिस्ट आन्दोलन जितना टूटे-बिखरेगा उसका साहित्य उतना ही पल्लवित-पुष्पित होगा और उसकी एकता साहित्य के विकास में बाधक होगी। क्रान्तिकारी आन्दोलन और प्रगतिशील साहित्य के अंतस्सम्बन्धो को ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण वह जाने-अनजाने साहित्य और राजनीति की प्रक्रियाओ मे अनिवार्य विरोध की कल्पना करते हैं और क्रान्तिकारी शक्तियो के बिखराव को प्रगतिशील साहित्य की शक्ति का कारण बताते हैं। दूसरी तरफ प्रगतिशील साहित्य को केवल मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्य तक सीमित करके वह भी अन्य संकीर्णतावादी लेखको की भाँति बहिष्कारी रुख अख्तियार करते है। डॉ० रणजीत के चिन्तन मे यह बात पूरी तरह साबित हो जाती है कि साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र मे बहुत बार उदारतापन्थ और संकीर्णतावाद एक सिक्के के दो पहलुओ की तरह सामने आते है। रणजीत एक तरफ कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवाद के दर्द-गिर्द के साहित्य को प्रगतिशील मान कर घोर संकीर्णता-वाद का परिचय देते हैं और दूसरी तरफ काव्य को 'दलो' और सिद्धान्तो के दबाव से मुक्त करके निस्सीम उदारतावाद का।

**कसौटी क्या हो ?**

यह अंतर्विरोध है केवल मार्क्सवाद से प्रभावित और समाजवादी यथार्थवाद से प्रेरित साहित्य को ही प्रगतिशील मानने वाले चिन्तन का। इस चिन्तन पद्धति से हम प्रगतिशील साहित्य की द्वन्द्वात्मक भावभूमियो को समझने मे विशेष सहायता नही पा सकते।

किसी साहित्य के मूल्यो की द्वन्द्वात्मक भावभूमि को समझने में अनेक बातों का अध्ययन जरूरी होता है। उदाहरण के लिए, उस साहित्य में व्यक्त मूल्य अपने युग-संदर्भ से कहाँ तक अनुप्राणित हैं; उस साहित्य मे अपने देश-काल की जनता के प्रति क्या दृष्टिकोण है; अपनी जातीय संस्कृति और साहित्य मे उसका क्या सम्बन्ध है; जातीय परम्परा के बारे मे उसकी राय क्या है; वह मनुष्य के भविष्य के बारे मे क्या सोचता है और वह अपने युग की वास्तविकताओ को कितनी गहराई और व्यापकता से चित्रित करता है, आदि।

संक्षेप में, किसी साहित्य के सम्बन्ध मे सही मूल्य-विवेक तभी पैदा हो सकता है जब हम उस साहित्य में व्यक्त मूल्यों को उसके देश-काल-गत व्यापक दृश्यफलक पर रख कर देखें। किसी साहित्य मे मार्क्सवाद, वर्ग-संघर्ष और वैज्ञानिक समाजवाद आ सकता है या नहीं, इससे उसकी प्रगतिशीलता का निर्णय नहीं होगा। उसको

प्रगतिशीलता इस बात से परखी जायगी कि अपने देश-काल-गत विशिष्ट सन्दर्भ में समाज के अंत:सम्बन्धों, अंत:संघर्षों के बीच उस साहित्य की स्थिति क्या है, वह जन-साधारण के साथ है या नहीं। साहित्य और संस्कृति की मूल्यवान निधियाँ अगर मार्क्सवादी नहीं हैं और जनता के हितों के साथ हैं तो उन्हें हम प्रगतिशील मानेंगे। और मार्क्सवाद का नाम लेकर भी कोई साहित्य जनता से बचता-कतराता है तो उसे प्रगतिशील नहीं मानेंगे।

**युग-सन्दर्भ और परम्परा**

साहित्य में जनता की तरफदारी की अवधारणा का गहरा सम्बन्ध युग विशेष में सामाजिक उत्पादन के चरित्र, वर्ग-संघर्ष के स्तर और मनुष्य की चेतना के सामान्य धरातल से है। धर्म मध्य युग की चेतना का रूप था। विज्ञान के उदय के बाद वैचारिक धरातल पर धर्म की ऐतिहासिक अनिवार्यता समाप्त हो गयी। आज धर्म की भूमिका सामाजिक प्रगति में बाधक की ही अधिक है। लेकिन मध्य युग में धर्म की प्रगतिशील भूमिका भी थी। उसकी प्रगतिशील भूमिका उसके नियतिवाद के बावजूद थी। उसका नियतिवाद प्रकृति के मुकाबले में खड़े मनुष्य की सीमाओं को प्रकट करता है। समाज में इन सीमाओं का रूप भिन्न था। समाज का मुख्य आधार था कृषि। कृषि पर आधारित प्रत्यक्ष उत्पादन प्रणाली के कारण समाज का रूप अपेक्षाकृत सरल होते हुए भी वर्गों के आपसी टकराव का रूप बहुत पेचीदा था। आधुनिक युग के औद्योगिक उत्पादन और बाजार व्यवस्था में पेचीदगी बढ़ने के साथ सामाजिक प्रक्रियाओं का रूप जटिल हुआ है और वर्ग-विरोध सरल हुए हैं। इसलिए आज वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त हो चुका है। यह मालूम हो चुका है कि वर्गों के विरोध का निदान दो शत्रु वर्गों के समझौते में नहीं, सर्वहारा वर्ग के शासन और अंतत: वर्गों के उन्मूलन में है। मध्य युग की सामाजिक स्थिति में यह ज्ञान मनुष्य के पास नहीं था। वह न वर्ग-संघर्ष की बात कर सकता था और न वैज्ञानिक समाजवाद की कल्पना। उसका समन्वयवाद उसके युग की ऐतिहासिक सीमाओं को व्यक्त करता है। विचारधारा में नियतिवाद और समाज में समन्वयवाद—ये उस युग की सामान्य सीमाएँ थीं। इसलिए कवियों की प्रगतिशीलता की जाँच करने के लिए देखना यह चाहिए कि समन्वयवाद के बावजूद कवियों के सरोकार और समाधान का सम्बन्ध जन-साधारण के सुख-दुख की चिन्ता से है या सामंतों की विकृत कामवासना को 'तृप्त' करने की लाभ-लोभ वृत्ति से, धर्म की नियतिवादी सीमाओं के बावजूद कविगण उसका उपयोग एक गतिशील तत्व के रूप में सामाजिक न्याय के लिए करते हैं या उसे आड़ बना कर कविता-कामिनी में 'मर्मज्ञों' की

रिझाने की साधना करते हैं, वे अपनी कविता में साधारण जनता के जीवन, संस्कृति का व्यापक समावेश करते हैं या दरबारी-अन्तःपुरों की नायिकाभेदी संस्कृति का चित्र खींचते हैं।

इन दो सौंदर्य-दृष्टियों में अन्तर है। इस अन्तर का सम्बन्ध तत्कालीन समाज में अन्तर्निहित वर्ग-विरोध से है। प्रगतिवाद के बारे में लिखते हुए श्री भगवतीचरण वर्मा ने इस बात के लिए समाजवाद की आलोचना की है कि उसने 'अश्लील या असामाजिक तत्वों को रोकने के लिए' केवल सामाजिक चेतना के नहीं, शासन के भी प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। उनके अनुसार 'शासन द्वारा इस तरह के प्रतिबन्धों के उदाहरण प्राचीन समाज में नहीं मिलते।' तब केवल 'सामाजिक चेतना के प्रतिबन्ध होते थे।'[1] इस आलोचना-दृष्टि में भी वर्ग-संघर्ष की प्रतिध्वनि मौजूद है। पहले 'अश्लील या असामाजिक तत्वों' को शासन बढ़ावा देता था, जनता या समाज नहीं इसलिए जनता और दरबार की साहित्य-दृष्टियों में जमीन आसमान का अन्तर होता था। यह अन्तर जनता और दरबारों की सामाजिक-आर्थिक हैसियत को प्रतिबिम्बित करता था। समाजवाद में आकर पहली बार शासन और समाज का यह विरोध समाप्त हो जाता है, स्वयं जनता कानून बनाती और उन्हें लागू करती है। इसलिए समाजवाद में जनता द्वारा पहले से लगायी गयी बन्दिश को कानूनी रूप दे दिया जाता है। जिनकी रुचि आज भी दरबारों में रमती है उनके लिए शासन में जनता की यह दखल निश्चय ही पीड़ादायक है।

इस विवेचन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी युग में जनता की तरफदारी का सवाल साहित्य के प्रगतिशील होने के लिए कितना प्राथमिक है। कुछ मार्क्सवादियों की यह समझ असंगत है कि जनता के साथ साहित्य की पक्षधरता मार्क्सवाद के बिना नहीं हो सकती। यह सही है कि आधुनिक युग की वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न मार्क्सवाद ही सच्चे अर्थों में इतिहास को आगे बढ़ा सकता है, जनता के मानवीय गुणों को साकार करने के लिए शोषण-रहित सामाजिक न्याय पर आधारित मनुष्यता की रचना कर सकता है और इस अर्थ में यही सच्चा जनवाद हो सकता है। इससे पता यह चलता है कि मार्क्सवाद जनता के प्रति अपनी सच्ची और वैज्ञानिक पक्षधरता के नाते प्रगतिशील है। साहित्य में सभी लेखकों का मार्क्सवादी होना प्रगतिशील होने के लिए आवश्यक नहीं है, यह बात अनेक मार्क्सवादी लेखकों के चिंतन की असंगतियों से प्रमाणित होती है। शिवदान सिंह चौहान पूरे

---

१. 'साहित्य के सिद्धान्त और रूप', पृ० १२१।

प्रगतिशील आन्दोलन के दौरान जनता की चेतना के स्तर और विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में उसके हितों के प्रतिकूल चलते रहे, हालांकि वे मार्क्सवादी थे। इसके विपरीत भारतेंदु युग का साहित्य अपनी तमाम असंगतियों, अन्तविरोधों के बावजूद जनता की विकसित होती हुई साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना को पूरी प्रामाणिकता के साथ व्यक्त करता है, हालांकि उसमें मार्क्सवाद के प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। भारतेंदु युग के साहित्य की राष्ट्रीय और जनवादी धारा पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा था, "भारतेंदु युग की जनवादी परम्परा उस जमाने की दिन पर दिन उग्र होती हुई जनता की साम्राज्य-विरोधी चेतना का दर्पण है।"[१] यह सही है कि भारतेंदु के जीवन और साहित्य में दरबारी संस्कृति और राजभक्ति से टक्कर लेती हुई देशभक्ति और जन-संस्कृति की नयी परम्परा—दोनों का परस्पर विरोध झलकता है।[२] संगत रूप से मार्क्सवाद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अंगीकार करने वाले लेखकों में यह विरोध प्रायः नहीं होता, फिर भी भारतेंदु युग का साहित्य "राष्ट्रीय इसलिए है कि उस युग के लेखक देश की स्वाधीनता चाहते थे और अंग्रेजी साम्राज्यवाद की नीति का खण्डन करते थे।"[३] और "भारतेंदु युग का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढांचे से सतुष्ट न होकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का भी साहित्य है।"[४]

स्पष्ट है, जनता की विकासशील चेतना की संगति में उसके ऐतिहासिक बोध और सामाजिक-आकांक्षाओं को व्यक्त करके ही कोई साहित्य प्रगतिशील होता है। जिन विद्वानों को जनता से साहित्य की इस अन्तरंगता में सांस्कृतिक तत्वों का ह्रास नजर आता है, उनकी बात जाने दें, क्योंकि वे डॉ० नगेंद्र की तरह यह कहते देखे जा सकते हैं कि 'मुझे सबसे बड़ी आपत्ति प्रगतिवाद के मूल्यों से है।'[५] प्रगतिशील साहित्य का विकास इस प्रकार की आपत्तियों से बाधित नहीं होता, वरन् अपने खरेपन का अनुभव करके मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का विकास करता है। जो साहित्य मनुष्य को इन मानवीय मूल्यों से काट कर एकांतसेवी, व्यक्तिवादी, अहंवादी, आदि बनता है वह प्रगति में आस्था दृढ़ करने के बजाय

२. 'भारतेंदु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा', पृ० १२६।
१. उपर्युक्त, पृ० १२७।
२. उपर्युक्त, पृ० ३।
३. उपर्युक्त, पृ० ४।
४. 'आस्था के चरण' पृ० २६६।

रिझाने की साधना करते हैं, वे अपनी कविता में साधारण जनता के जीवन, संस्कृति का व्यापक समावेश करते हैं या दरबारी-अन्तःपुरों की नायिकाभेदी संस्कृति का चित्र खींचते हैं।

इन दो सौंदर्य-दृष्टियों में अन्तर है। इस अन्तर का सम्बन्ध तत्कालीन समाज में अन्तर्निहित वर्ग-विरोध से है। प्रगतिवाद के बारे में लिखते हुए श्री भगवतीचरण वर्मा ने इस बात के लिए समाजवाद की आलोचना की है कि उसने 'अश्लील या असामाजिक तत्वों को रोकने के लिए' केवल सामाजिक चेतना के नहीं, शासन के भी प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। उनके अनुसार 'शासन द्वारा इस तरह के प्रतिबन्धों के उदाहरण प्राचीन समाज में नहीं मिलते।' तब केवल 'सामाजिक चेतना के प्रतिबन्ध होते थे।'[1] इस आलोचना-दृष्टि में भी वर्ग-संघर्ष की प्रतिध्वनि मौजूद है। पहले 'अश्लील या असामाजिक तत्वों' को शासन बढ़ावा देता था, जनता या समाज नहीं इसलिए जनता और दरबार की साहित्य-दृष्टियों में जमीन आसमान का अन्तर होता था। यह अन्तर जनता और दरबारों की सामाजिक-आर्थिक हैसियत को प्रतिबिम्बित करता था। समाजवाद में आकर पहली बार शासन और समाज का यह विरोध समाप्त हो जाता है, स्वयं जनता कानून बनाती और उन्हें लागू करती है। इसलिए समाजवाद में जनता द्वारा पहले से लगायी गयी बन्दिश को कानूनी रूप दे दिया जाता है। जिनकी रुचि आज भी दरबारों में रमती है उनके लिए शासन में जनता की यह दखल निश्चय ही पीड़ादायक है।

इस विवेचन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी युग में जनता की तरफदारी का सवाल साहित्य के प्रगतिशील होने के लिए कितना प्राथमिक है। कुछ मार्क्सवादियों की यह समझ असंगत है कि जनता के साथ साहित्य की पक्षधरता मार्क्सवाद के बिना नहीं हो सकती। यह सही है कि आधुनिक युग की वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न मार्क्सवाद ही सच्चे अर्थों में इतिहास को आगे बढ़ा सकता है, जनता के मानवीय गुणों को साकार करने के लिए शोषण-रहित सामाजिक न्याय पर आधारित मनुष्यता की रचना कर सकता है और इस अर्थ में वही सच्चा जनवाद हो सकता है। इससे पता यह चलता है कि मार्क्सवाद जनता के प्रति अपनी सच्ची और वैज्ञानिक पक्षधरता के नाते प्रगतिशील है। साहित्य में सभी लेखकों का मार्क्सवादी होना प्रगतिशील होने के लिए आवश्यक नहीं है, यह बात अनेक मार्क्सवादी लेखकों के चिन्तन की असंगतियों से प्रमाणित होती है। शिवदान सिंह चौहान पूरे

---

१. 'साहित्य के सिद्धान्त और रूप', पृ० १२१।

प्रगतिशील आन्दोलन के दौरान जनता की चेतना के स्तर और विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में उसके हितों के प्रतिकूल चलते रहे, हालांकि वे मार्क्सवादी थे। इसके विपरीत भारतेंदु युग का साहित्य अपनी तमाम असंगतियों, अन्तर्विरोधों के बावजूद जनता की विकसित होती हुई साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना को पूरी प्रामाणिकता के साथ व्यक्त करता है, हालांकि उसमें मार्क्सवाद के प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। भारतेंदु युग के साहित्य की राष्ट्रीय और जनवादी धारा पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा था, "भारतेंदु युग की जनवादी परम्परा उस जमाने की दिन पर दिन उग्र होती हुई जनता की साम्राज्य-विरोधी चेतना का दर्पण है।"[१] यह सही है कि भारतेंदु के जीवन और साहित्य में दरबारी संस्कृति और राजभक्ति से टक्कर लेती हुई देशभक्ति और जन-संस्कृति की नयी परम्परा—दोनों का परस्पर विरोध झलकता है।[२] संगत रूप से मार्क्सवाद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अंगीकार करने वाले लेखकों में यह विरोध प्रायः नहीं होता, फिर भी भारतेंदु युग का साहित्य "राष्ट्रीय इसलिए है कि उस युग के लेखक देश की स्वाधीनता चाहते थे और अंग्रेजी साम्राज्यवाद की नीति का खण्डन करते थे।"[३] और "भारतेंदु युग का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढांचे से संतुष्ट न होकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का भी साहित्य है।"[४]

स्पष्ट है, जनता की विकासशील चेतना की संगति में उसके ऐतिहासिक बोध और सामाजिक-आकांक्षाओं को व्यक्त करके ही कोई साहित्य प्रगतिशील होता है। जिन विद्वानों को जनता से साहित्य की इस अन्तरंगता में सांस्कृतिक तत्वों का ह्रास नजर आता है, उनकी बात जाने दें, क्योंकि वे डॉ० नगेंद्र की तरह यह कहते देखे जा सकते हैं कि 'मुझे सबसे बड़ी आपत्ति प्रगतिवाद के मूल्यों से है।'[५] प्रगतिशील साहित्य का विकास इस प्रकार की आपत्तियों से बाधित नहीं होता, वरन् अपने खरेपन का अनुभव करके मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का विकास करता है। जो साहित्य मनुष्य को इन मानवीय मूल्यों से काट कर एकान्तसेवी, व्यक्तिवादी, अहंवादी, आदि बनाता है वह प्रगति में आस्था दृढ़ करने के बजाय

२. 'भारतेंदु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा', पृ० १२६।
१. उपर्युक्त, पृ० १२७।
२. उपर्युक्त, पृ० ३।
३. उपर्युक्त, पृ० ४।
४. 'आस्था के चरण' पृ० २६६।

नियति में अंध-विश्वास पैदा करता है। और जो साहित्य इन मानवीय मूल्यों का प्रसार करता है वह अपने अन्तर्विरोधों और असंगतियों के बावजूद अन्याय के विरुद्ध जनता का पक्ष लेता है। जनता के सांस्कृतिक जीवन और संघर्षों मे उसके साथ होने वाले साहित्य में अन्तर्विरोध हो सकते हैं, उसके समाधान में असंगतियाँ हो सकती हैं, लेकिन इससे उसकी प्रगतिशील अन्तर्वस्तु का खण्डन नहीं होता। इस सम्बन्ध में अमृतराय ने यह उचित लिखा है कि यदि "साहित्यकार जीवन से विमुख नहीं रहा है प्रत्युत उसने उन्हें सचेतन रूप में अपने साहित्य में अंगीकार किया है और उनको लोकहित की दृष्टि से सुलझाने का यत्न किया है तो वे (प्रगतिशील लेखक) उसे श्रेष्ठ साहित्यकार मानते हैं, चाहे आज के बौद्धिक व अन्य सर्वतोमुखी विकास की दृष्टि से उस साहित्यकार का समाधान कितना ही अनुपयुक्त या अपूर्ण क्यों न हो?"[1]

तात्पर्य यह कि कोई कवि अपनी कविता में किस विचारधारा का प्रतिपादन करता है, यह महत्वपूर्ण होते हुए भी प्रगतिशील कविता का एकमात्र कलात्मक मानदण्ड नहीं है। विचारधारा के स्तर पर तोल्स्तोय 'दुनिया की सबसे घृणित वस्तु—धर्म का प्रचार करते हैं'। कलात्मक स्तर पर क्रान्तिपूर्व रूस के किसानों का जितना सच्चा और सजीव चित्र अंकित करते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए विचारधारा में प्रतिक्रियावादी होते हुए भी तोल्स्तोय को लेनिन ने 'रूसी क्रान्ति का दर्पण' कहा।[2] यदि लेनिन के इस मूल्यांकन के आलोक में डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा रेखांकित इस तथ्य को आधार बना कर कविता का अध्ययन करें कि साहित्य केवल विचार नहीं देता, वह भाव और इन्द्रियबोध से युक्त जीवन के चित्र भी देता है, तो यह समझना आसान होगा कि अपनी वैचारिक सीमाओं के बावजूद कोई कवि अपने देश-कालगत सन्दर्भ में जनता की स्थिति, उसकी भावना और उसके सांस्कृतिक जीवन का अन्तरंग, जीवंत चित्रण करके श्रेष्ठ और प्रगतिशील हो सकता है। कारण यह कि समाज में वर्गों का संघर्ष चाहे जितना प्रच्छन्न हो, जनता और सामन्तों, पूँजीपतियों के भावों, विचारों और इन्द्रियबोध में कमोबेश स्वस्थ-अस्वस्थ का अन्तर अवश्य होता है—सत्ताधारी वर्ग सांस्कृतिक विकास में अवरोध उत्पन्न करता है और जनता इतिहास को अपने जान या अनजान में आगे की ओर बढ़ाती है।

---

१. 'नयी समीक्षा', पृ० ३६-३७।
२. 'ऑन आर्ट ऐंड लिटरेचर' पृ० २८-२९।

अपनी परम्परा, संस्कृति और जन-जीवन के संघर्षों में रची-बसी होने के नाते प्रगतिशील कविता अपनी जातीय सांस्कृतिक परम्परा का स्वस्थ और स्वाभाविक विकास है। वह केवल मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों का साहित्य नहीं है यह इस बात से प्रमाणित होता है कि उसके निर्माण मे अनेक गैर-मार्क्सवादियों का मूल्यवान योगदान है जिनमें वैचारिक असंगतियों के बावजूद अपनी जनता और संस्कृति के साथ गहरी सहानुभूति है।

## आधुनिक भावबोध और वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि

प्रगतिशील कविता अपनी सांस्कृतिक विरासत से जुड़ने के लिए पूर्ववर्ती संस्कृतियों के सभी गलत-सही पक्षों और जनता की चेतना के अंतर्विरोधों को अंगीकार नहीं कर लेती। वह सांस्कृतिक विरासत का नयी चुनौतियों के अनुरूप नये दृष्टिकोण से मूल्यांकन करती है, वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण जनता की स्थितियों और सांस्कृतिक चेतना के अंतर्विरोधों को समझती है तथा उसके प्रगतिशील तत्वों को अंगीकार और विकसित करती है। हिन्दी की प्रगतिशील कविता अपनी पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा से इस अर्थ मे भिन्न है कि उसकी अंतर्दृष्टि का आधार मानव-चेतना की सबसे विकसित अवस्था-विज्ञान-है। वैज्ञानिक निष्कर्षों को अपने सौंदर्य-मूल्यों का आधार बनाने के कारण प्रगतिशील कविता मनुष्य को व्यापक दृश्यफलक पर रख कर देखती है, पराङ्मुख चिन्तन से भिन्न सामाजिक इकाई के रूप में मनुष्य को चित्रित करती है और सामाजिक मनुष्य के व्यक्तित्व और अस्तित्व को क्षुधा-काम आदि सहज-वृत्तियों तक सीमित नहीं कर देती, वरन् उसे सजग, सकर्मक और सर्जक मनुष्य के रूप में उच्च मानवीय गुणों से अनुप्राणित करने का यत्न करती है। वैचारिक स्तर पर पहले के मानववादी चिन्तन की सीमाओं को समझती है, उसके सकारात्मक मूल्यों को अपनाती है, उन्हीं के क्रम में वर्तमान जीवन को समग्रता में देखती-परखती है, भविष्य की दिशा का पूर्वानुमान करती है और मनुष्य के साथ उसके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिस्सेदारी अदा करती है।

यह सच है कि प्रगतिशील कविता की इस वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि का सम्बन्ध समाजवादी विचारधारा—मार्क्सवाद—से है। जिन कवियों ने जीवन के व्यावहारिक अनुभवों और उनसे प्राप्त निष्कर्षों की संगति में बिठा कर तथा स्वयं को अग्रगामी शक्तियों के अनुरूप संस्कारित करके जनता के सांस्कृतिक जीवन से तदाकार करने के क्रम में मार्क्सवादी दर्शन को अंगीकार किया उनकी काव्य-चेतना में वैज्ञानिक मूल्य-बोध का उतना ही सुसंगत विकास है। नयी कविता के कवियों में मुक्तिबोध शर्मा और बचन से द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा को स्वीकार करते

थे, इसलिए डॉ० जगदीश कुमार उन्हें 'शुद्ध प्रगतिवादी चेतना' का कवि कहते हैं।[1] और 'आपादमस्तक वैज्ञानिक काव्य चेतना के कवियों में उन्हें 'सर्वोपरि' स्थान देते हैं।[2] इस प्रकार डा० जगदीश कुमार प्रकारांतर से प्रगतिशील काव्य-चेतना की वैज्ञानिक अन्त: प्रकृति को ही रेखांकित करते हैं। मुक्तिबोध वैज्ञानिक और प्रगतिशील चेतना के कवि क्यों हैं, इस सम्बन्ध में उन्होंने मुक्तिबोध के व्यक्तित्व विषयक निष्कर्ष सूत्रित करते हुए लिखा है : मुक्तिबोध मानव-मुक्ति को अपने जीवन का लक्ष्य मानते थे; द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में आस्था रखते थे; जन-संघर्षों से काटने वाले तरह-तरह के आधुनिकतावादी-भाववादी बोध उन्हें स्वीकार नहीं थे, वे मध्यवर्गीय संस्कारों में पले थे, किन्तु अपने तीव्र यथार्थ-बोध और वैचारिक सजगता के कारण मध्यवर्गीय सुविधावादी संस्कारों से मुक्ति के लिए संघर्ष करते थे; इत्यादि।[3]

स्पष्ट है कि प्रगतिशील काव्य की वैज्ञानिक चेतना का सम्बन्ध उसके मानववाद से, यथार्थवाद से है। उसका यह मानववाद, यथार्थवाद मनुष्य को इतिहास के प्रति, मानव समाज और मानव सम्बन्धों के प्रति, प्रकृति के प्रति और प्रकृति से मानव समाज के स्थायी द्वन्द्व के प्रति, इन सबसे निर्धारित होने वाले सामाजिक परिणामों के प्रति तथा स्वयं अपने प्रति जागरूक बनाता है। मानव-यथार्थ के प्रति इस गहरी सजगता के परिणामस्वरूप प्रगतिशील कविता जीवन के अंतर्विरोधों को तीन स्तरों पर उद्घाटित करती है : प्रकृति और मानव समाज के बीच अंतर्विरोध के सामान्य स्तर पर, व्यक्ति और समाज के अंतर्विरोध के विशिष्ट स्तर पर तथा श्रमजीवी और उपजीवी वर्गों के बीच अंतर्विरोध के रूप में विभिन्न समाजों के आंतरिक विरोधों के स्तर पर।

प्रगतिशील कविता अपने पूर्ववर्ती काव्य से इसी अर्थ में भिन्न मूल्य-बोध की प्रतिष्ठा करती है कि उसके सामने मनुष्य और प्रकृति के सन्दर्भ पहले के सभी युगों से अधिक उद्घाटित हैं, उसकी अंतर्दृष्टि विज्ञान पर आधारित है और उसका मानववाद सामाजिक मनुष्य की सर्वतोमुखी मुक्ति के ध्येय से प्रेरित है। उसमें असंगतियों, अंतर्विरोधों और इतर संस्कारों की झलक मिलती है, किन्तु उसका वैशिष्ट्य इस बात में है कि उसे मानवीय समाधान के लिए मनुष्य की शक्ति को ही जागृत करना पड़ता है, अवतारों की शरण लेने या कल्पतालोक में पलायन करने की जरूरत नहीं

१. 'नयी कविता की चेतना', पृ० ८५-८६।
२. उपर्युक्त, पृ० ४६।
३. उपर्युक्त, पृ० ६२-६३।

पड़ती। वह निःशंक भाव से यह घोषणा करती है कि मनुष्य जब तक सामाजिक अंतर्विरोधों को दूर करके, उनकी अवहेलना करके नही, एक न्यायसंगत, सामाजिक समानता और मानवीय भाई-चारे पर आधारित मनुष्यता की रचना नही करता तब तक वह अपनी प्राकृतिक एवं मानवीय क्षमताओं और सम्भावनाओ को साकार नहीं कर सकता। वैज्ञानिक विवेक का यह संस्पर्श ही उसे काम-कुंठावादी रीतिवाद से, व्यक्ति की मुक्ति से प्रेरित रोमांटिक भाववाद से और व्यक्तिवादी-दंभ से प्रेरित आधुनिक नियतिवाद से बचाता है और एक सुदृढ़ मानववादी यथार्थवादी आधारभूमि पर प्रतिष्ठित करता है।

अन्त मे, अपने अध्ययन को सूत्रित करते हुए हम कह सकते हैं कि प्रगतिशील कविता जिन्दगी की जद्दोजहद में 'जनता के मोर्चे की प्रतिध्वनि' है।[1] इसलिए उसमे संघर्ष का, आशा का विश्वास का स्वर है। भीड मे चेहरे खो जाते हैं। लेकिन जनता के मोर्चे मे चेहरे और अधिक दीप्त हो उठते है। प्रगतिशील कविता एक-एक व्यक्ति की पहचान को उतना ही महत्वपूर्ण मानती है जितना मोर्चे की संगठित और सामूहिक शक्ति को। उसमे एक ओर यदि इतिहास का तीव्र बोध है, सास्कृतिक ऋद्धि है तो दूसरी ओर 'पर्सनल टोन' और 'इंडिविजुअल मूड' भी है। वह जनता को भीड नही मानती। वह भीड़ लगने वाली जिन्दगी को मोर्चे के रूप में लामबन्द करती है। उसकी संघर्ष-चेतना और परिभावित सहानुभूति का यही मुख्य कारण है। जीवन यथार्थ से निरपेक्ष रह कर अकर्मण्य सौन्दर्य-साधना को वह मानव-विरोधी मानती है क्योंकि उसकी सहानुभूति अपनी ही पीड़ाओ मे कछुए-सी सिमट जाने वाली नही हैं। प्रगतिशील सौन्दर्य-दृष्टि मुक्ति को अकेले का रास्ता नही मानती। कविता मनुष्य की सृष्टि है इसलिए वह मनुष्य की ठोस वास्तविकताओं के आँखें नही चुरा सकती। वर्तमान अंतर्विरोधों मे तटस्थ रह कर जीवन और कला को सार्थक बनाने की बात करना इतिहास के साथ, समाज के साथ, जनता, के साथ और स्वयं अपने साथ धोखा है। प्रगतिशील कविता संशयहीन स्वर में जनता का पक्ष लेती है तथा जनता की दुरवस्था दूर करने में अपनी और अपने कला की सही, सार्थक और ईमानदार भूमिका अनुभव करती है।

• • •

---

१. 'गुमसेंहदी' ('युग की गंगा' की भूमिका) पृ० १६८।

# शुद्धि-पत्र

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १७ | १३, १५ | उद्धरण चिह्न है | उद्धरण चिह्न नहीं है |
| १८ | ७ | अपनाये जाने का नतीजा होता है। | अपनाया गया हो। |
| २०,२१ | ३०, ६, १० | सांतापना | सांतायना |
| २२ | ४ | प्रतिमूल्यात्मक | प्रतिमूर्त्यात्मक |
| २६ | १३ | निकर्ष | निकष |
| ३० | २५ | प्रतिमूल्पात्मक | प्रतिमूर्त्यात्मक |
| ३१ | २ | वाई. खाचिम्यान | वाई. खाचिक्यान |
| ३२ | पादटिप्पणी-२ | फडामेण्टल्स | फंडामेंटल्स |
| ३६, ३७ | १६, १४ | प्रसार | प्रसर |
| ३६ | १८ | मुक्ति | युक्ति |
| ३७ | २८ | सौंदर्भ | संदर्भ |
| ३८ | ४ | प्रो० पूरी फोलोव | प्रो० यूरी फोलोव |
| ३८ | १६ | प्रेम | प्रेय |
| ३६ | ३ | तप | तय |
| ३६ | २४, २५ | 'काम लेने…' | 'काम नहीं लेने' |
| ४६ | ४ | गीता | गीत |
| ४७ | १६ | 'संगीतेतर हित' | 'संगीतेतर' |
| ५० | ११, १४ | प्रतिमा | प्रतिमा |
| ५१ | ११ | बालखिल्व, पृपध | बलखिल्य, पृषध्र |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५३ | २० | इल्पोच | इल्यीच |
| ५४ | ११ | क्षेत्र | क्षत्र |
| ५६ | ६, ७ | उद्धरण चिह्न | अनावश्यक है। |
| ६३ | ५ | धर्म-कर्म | कर्म |
| ६६ | २ | चित्र (इड) | चित्त (इड) |
| ६७ | ७ | 'दृष्टियां' | 'ऐसी दृष्टिया' |
| ७६ | २० | व्यवस्थित | उपस्थित |
| ८१ | ११ | वस्तुनिष्ठ | एकनिष्ठ |
| ८१ | १८ | संघर्षों से मुक्त | संदर्भों से युक्त |
| ८२ | २१ | इमसे | सबसे |
| ८३ | ४ | परिणाम | परिपाक |
| ८३ | २० | नैतिक | जैविक |
| ९२ | ६ | क्षति | स्थिति |
| ९२ | १५ | संतान | संज्ञान |
| ९३ | १७ | नहमदारी | नटमदारी |
| १०२ | २ | पैंटी होलपा | पैंटी होलप्पा |
| १०४ | ७ | पदार्थ | यथार्थ |
| ११४ | १५ | व्याख्या पर | व्याख्या |
| ११६ | २ | स्तर | प्रसार |
| १२२ | १३ | प्रतिभा | प्रतिमा |
| १२३ | १४ | परीक्षा | परोक्ष |
| १४३ | १८ | अमानवीय | अमानवीकृत |
| १४४ | २५ | तुलसीदास से लेकर आज तक प्रगतिशील साहित्य धारा के अलावा | तुलसीदास के बाद और प्रगतिशील साहित्य से पहले |